त्रिपुरोपनिषद्

भाषाव्याख्याकार

आचार्यश्री कमलाकान्त त्रिपाठी

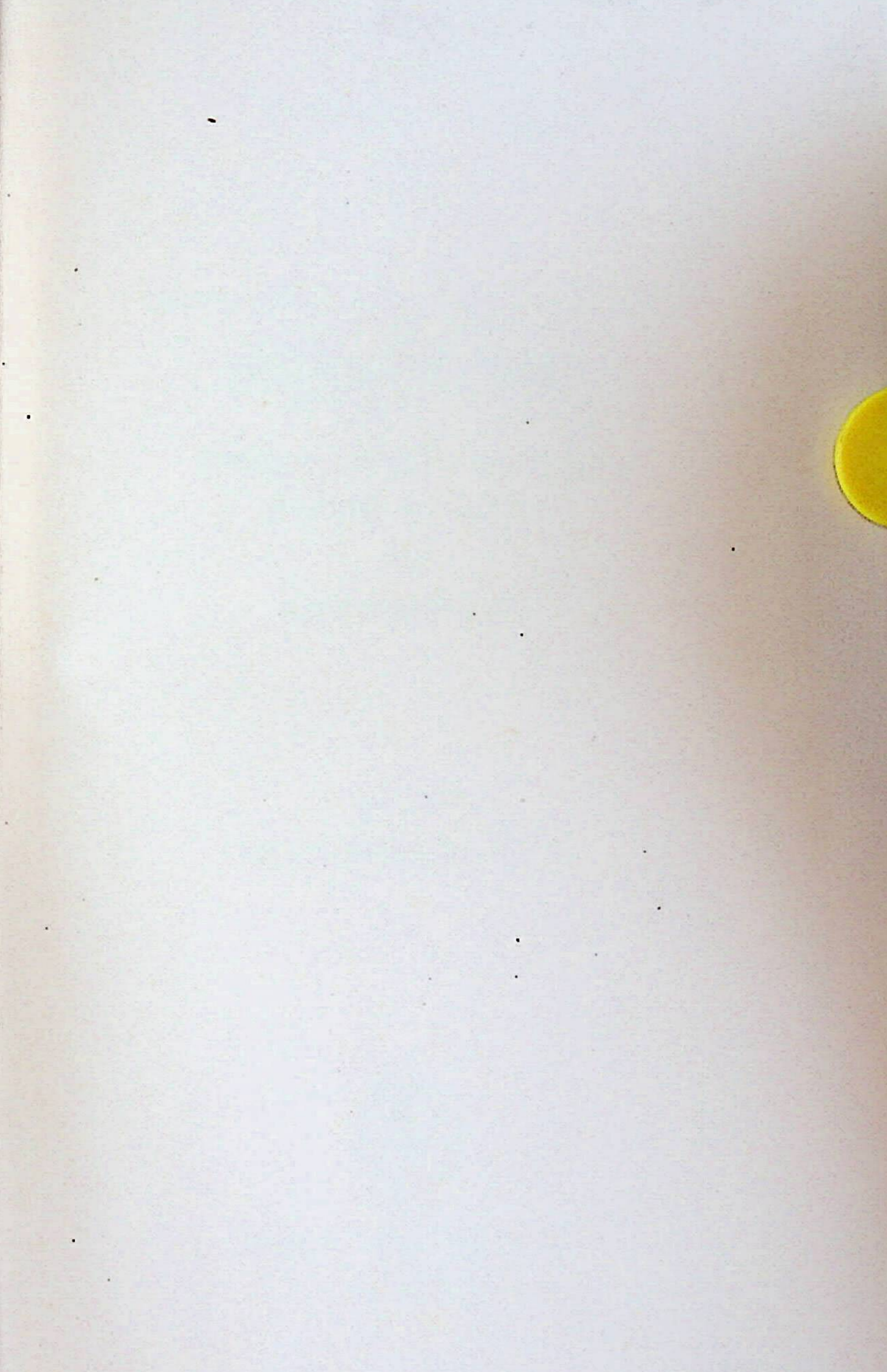


सम्पादक

डॉ. क्षितीश्वरनाथ पाण्डेय

ग्रन्थ-परिचय

तन्त्रागम में निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये जितनी भी विद्यायें देखी जाती हैं उन सभी के मूल में अनादि-अपौरुषेय वेद हैं। मन्त्र और ब्राह्मण वेद के दो विभाग हैं। इन दोनों भागों में रहस्य-प्रतिपादक भाग को उपनिषद् कहते हैं। त्रिपुरोपनिषद् भी ऋग्वेदीय मन्त्रभाग का एक सूक्त है। सोलह मन्त्रों के द्वारा 'श्रीविद्या' नाम से सुप्रथित भगवती राजराजेश्वरी श्रीत्रिपुरसुन्दरी की उपासना का प्रयोग त्रिपुरोपनिषत् प्रतिपादित करती है जिसका सर्वशाखीयोपसंहारन्याय से भगवान् परशुराम, क्रोधभट्टारक महर्षि दुर्वासा आदि कल्पसूत्रों से उपबृंहण किये हैं। श्रीरामानन्दतीर्थ और श्रीभास्करराय के भाष्यों के साथ इस ग्रन्थ का कलेवर इस तरह निरूपम हो गया है कि यावज्जीवन इसीके अनुसन्धान से वैदिकतत्त्वज्ञान विस्फूर्जित हो उठेगा। श्रीरामानन्दतीर्थजी ने अनेक वैदिक वचनों एवं तन्त्रागम के वचनों का संग्रह करके उनकी सुगम व्याख्या भी की है तो श्रीभास्कररायजी ने मीमांसा के अनेक न्यायों से त्रैपुरसिद्धान्त को परितःस्फुट करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। श्रीभास्कररायजी के भाष्य का सम्यक् अवगाहन करके आचार्य पं. श्रीकमलकान्तत्रिपाठी के द्वारा प्रस्तुत भाषाव्याख्यान भी ग्रन्थ को समझने में सुगमता प्रदान करता है। पं. प्र. श्रीत्रिपाठीजी ने कई महीनों तक श्रम करके सेतुबन्ध आदि ग्रन्थों के मनन के परिणामस्वरूप जो भूमिका लिखी है उससे भी त्रैपुरसिद्धान्त में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं का भूयान् उपकार होगा। इस तरह तीन व्याख्याओं से सजा यह महनीय एवं अभ्यर्हित ग्रन्थ एक निधि का रूप ले लिया है। भाषाव्याख्याकार का मानना है कि इस एक ग्रन्थ का स्वाध्याय सम्पूर्ण वैदिकरहस्य को भासित करने में पर्याप्त है। इसे सर्वदा अपने पास रखकर स्वाध्याय करते हुए अपने जीवन को उदात्त बनाया जा सकता है। अपवर्ग के मार्ग को सुगमरूप से प्रकाशित करने वाला यह ग्रन्थ संग्राह्य है।



॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

625



श्रीरामानन्दतीर्थ-श्रीभास्कररायकृतभाष्यद्वयसंवलिता

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

आचार्यपण्डितश्रीपट्टाभिरामशास्त्रिकृत-
विषमस्थलटिप्पणसहिता
तथा
भाषाव्याख्याविभूषिता

भाषाव्याख्याकारः

आचार्यश्रीकमलाकान्तत्रिपाठी



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

पृष्ठ : 44+180

ISBN : 978-93-86554-59-8

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : +91 542-2335263

email : chaukhambasurbharatiprakashan@gmail.com

website : www.chaukhamba.co.in

प्रथम संस्करण 2018 ई०

मूल्य : ₹ 350.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : +91 11-23286537; 32996391

email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

•

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

प्राग्वाक्

अखण्डं सहजञ्चैव सच्चिदाकारविग्रहम् ।
सर्वशेषितया भान्तं तमानन्दमुपास्महे ।।१।।

कल्याणैकगुणार्णवं सुरगिरामभ्यस्तसारं बुधं
सुस्मेरस्मितभासुरञ्च हृदये बिन्दोर्विमर्शं परम् ।
आकृत्या सुमनोहरं गुरुवरं श्रीवासुदेवाह्वयं
विद्याकाशविभावसुं प्रभुवसुं स्वाचार्यवर्यं भजे ।।२।।

भाष्यद्वयेन विलसत्त्रिपुरारहस्यं
प्राकाशयत् सुमनसां मनसां सुतुष्ट्यै ।
यो वै स्वकीयमहसा जरसाऽऽप्लुतस्तं
पट्टाभिरामगुरुवर्यमहं नमामि ।।३।।

साहित्यसिन्धुमवगाह्य कृती सदा यः
सारस्वतप्रवणमत्र वचस्ततान ।
तं वै मनीषिहृदयाधिकृतं महान्तं
श्रीवायुनन्दनगुरुं सततं नमामि ।।४।।

विष्वक्स्फुरत्परमतत्त्वनिभालनेन
लोकोत्तरार्यचरितैः प्रथितं पृथिव्याम् ।
श्रीविद्ययाऽऽप्तपुरुषं कविराजसीता-
रामाभिधं गुरुमहं तरसा स्मरामि ।।५।।

दृष्टं पीनकुचाङ्गनाविलसितं दृष्टं तथा वैभवे
भुग्नं भोगधियां सदैव गमनं दृष्टञ्च काव्योद्भवम् ।
ब्रह्मास्वादसहोदरं सुखमहो श्रीवासुदेव! प्रभो!
त्वत्सेवागुणगौरवेण भुवने दृष्टं न तुल्यं क्वचित् ।।६।।

कामेशाङ्ककृतालया च जगतः सृष्टिस्थितिध्वंसकृद्
भक्तानामिह भोगमोक्षजननी नीवारतन्तूपमा ।
उत्थायैव तु मूलतः परशिवं संप्राप्य मोदान्विता
विद्या सा त्रिपुरा सदा भगवती प्रीता पुनः पातु नः ।।७।।

श्रीभाष्येण कृतक्षणं सुमनसां चक्रं दधत् पावनं
संसारार्णवमध्यपातविकलप्राणान्तरत्राणदम् ।
संछिन्नाखिलबन्धनं धनमहो निःस्वोच्चयानामिह
श्रीरामानुजपादपद्ममनिशं शङ्कारकं संश्रये ।।८।।

क्षुद्रत्वेऽपि कृतोद्यमान् बहुविधच्छद्मोन्नतानात्मनि
प्रागल्भ्यं दधतः कुमार्गकलुषव्याप्तान्तरानप्यहो ।
वाचोच्चैस्त्वसमन्वितां कथयतो राष्ट्रोन्नतिं सर्वदा
मिथ्याभोगपरायणान् कृतरणान् नौमीह पुष्टान् खलान् ।।९।।

शास्त्रज्ञानपराङ्मुखानपि सदा तेषां सुरक्षापरान्
दक्षानाप्तजनद्विषोऽपरिमितस्वार्थेषु दत्तक्षणान् ।
प्रोन्नत्यै निहितेक्षणान् सुचतुराञ्छ्रीचाटुकारप्रिया-
नाधीन् भारतमण्डलस्य वसुधाभारान् नुमो दूरतः ।।१०।।

भाष्यद्वयी के साथ श्रीत्रिपुरोपनिषत् का सम्पादन करके वेदमीमांसानुसन्धानकेन्द्र से प्रकाशन पूज्यपाद अहर्निशविद्याव्यासङ्गजाज्वल्यमानविग्रह श्रीगुरुवर्य पं. प्र. पट्टाभिरामशास्त्रिपदप्रवाल ने किया था। प्रातः सात बजे से मेरे पढ़ने का समय था और गुरुजी पढ़ाने के लिए भस्मच्छुरितललाट होकर बैठे रहते थे। अस्सी वर्ष की अवस्था में अध्यापन के साथ-साथ मीमांसानयमञ्जरी ग्रन्थ का लेखन-प्रकाशन तथा मीमांसाकुतूहल, मीमांसाशास्त्रमाला आदि अनेक ग्रन्थों को सम्पादित करके प्रकाशित कराया था। महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलने की प्रेरणा उनके सान्निध्य से ही प्राप्त होती है। भाष्यद्वयसंवलित श्रीत्रिपुरोपनिषत् के प्रति मेरा प्रगाढ़ आकर्षण था, क्योंकि निःश्रेयसोपयोगी और अपार व्युत्पत्ति के आधान की क्षमता दोनों भाष्यों में थी। इस ग्रन्थ को सर्वदा मैं अपने पास रखता था और यथावसर देखता रहता था। उसी काल में प्रातःस्मरणीयपदपङ्कज पूज्यपाद तन्त्रशास्त्र में नित्य अवगाहन करने वाले श्रीविद्यासाधनापीठ के संस्थापक श्रीसीतारामकविराजजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। उनके पदकमलों की छाया में रहकर श्रीभुवनेश्वरीमन्त्र का पुरश्चरण मैंने किया था। ग्रहण आदि के अवसरों पर अपने पास बैठाकर वे जप कराते थे। गुरु के धर्म का निर्वाह उन्होंने हमारे प्रति पूर्णतः किया था। नित्यनिरवद्यविद्याव्यासङ्ग के धनी पूज्यपाद

श्रीमत्कविराजजी के मध्य तन्त्र के विषयों पर मेरी जिज्ञासा होती थी और वे तत्परतया उसका समाधान करते थे। परदेवता और उनकी उपासना से निःश्रेयस की प्राप्ति में अर्थात् शास्त्रों में उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। जप में झपकी आने पर वे चैतन्य कर देते थे। उन्होंने एकान्त में मुझे कहा था कि तुम यहाँ जब भी भोजन करना हमारे साथ करना। विश्वविद्यालय के अनेक आचार्य बाहर भोजन करते थे और मैं गुरुजी के साथ उनके कक्ष में भोजन करता था। इस तरह गुरुजनों के प्रति मेरी श्रद्धा भगवान् जैसी ही बलवती होती गयी। निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए ऐसी श्रद्धा अपेक्षित है। सुना भी गया है—

> **'यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ।**
> **तस्यैते कथिता अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।'**

श्रीत्रिपुरोपनिषद् के भाष्यकार श्रीरामानन्दतीर्थजी ने गुरु के विषय में हयग्रीव के और महालक्ष्मीतन्त्र के वचनों से कहा है। गुरु प्रसन्न होकर मोक्षलक्ष्मी प्रदान करते हैं। वे दुर्लभ हैं और उनके लिए शरीर, अर्थ और प्राणों को भी समर्पित कर देना चाहिये। गुरु के अधीन ही सारे कार्यों को करना चाहिये। मनुष्य के चर्म में वे साक्षात् शिव हैं—

> **'मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात् परशिवः स्वयम्।**
> **सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ ।।**
>
> **सद्भक्तरक्षणायैव निराकारोऽपि साकृतिः ।**
> **शिवः कृपानिधिर्लोके संसारीव हि चेष्टते ।।**
>
> **अत्रिनेत्रः शिवः साक्षादचतुर्बाहुरच्युतः ।**
> **अचतुर्वदनो ब्रह्माश्रीगुरुः परिकीर्तितः ।।**
>
> **श्रीगुरुं परतत्त्वाख्यं तिष्ठन्तं चक्षुरग्रतः ।**
> **भाग्यहीना न पश्यन्ति सूर्यमन्धा इवोदितम् ।।'**

नयनों के सामने विराजमान श्रीगुरु परम तत्त्व हैं जिन्हें भाग्यहीन नर नहीं देखते जैसे अन्धे सूर्य को नहीं देखते। श्रीगुरु के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा ही ब्रह्म में पर्यवसित होकर निःश्रेयस का हेतु होती है, इस तथ्य को समझना चाहिये। भारत के कालिदास, माघ, भारवि, बाणभट्ट आदि जितने भी सिद्ध महाकवि और आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि काव्यतत्त्वज्ञ आचार्य हुए हैं,

वे सभी श्रीगुरु की कृपा प्राप्त करके ही भगवती सरस्वती के कृपापात्र होकर दिग्दिगन्त में विश्रुत हुए हैं। सरस्वती देवता हैं। मन्त्रवर्ण-तद्धित आदि से इनके देवतात्व का विधान है। 'सारस्वती मेषी, स्वारस्वतश्चरुः' आदि वेदवचनों से सरस्वतीदेवताक यज्ञों का विधान है। वागधिष्ठातृदेवता के रूप में मुख्यतः सरस्वती को स्वीकार किया गया है। सरस्वती कोई काल्पनिक वस्तु नहीं हैं जैसा कि वेदप्रदूषक इतिहासकार कहते हैं। श्रीगुरु का सरस्वती से अभेदसंबन्ध है। सरस्वती की कृपा न होती तो चमत्कृत कर देने वाले काव्यों का उदय भी नहीं होता। राजानक श्रीआनन्दवर्धनाचार्य ने परदेवता भगवती सरस्वती का इस रूप से माहात्म्य कहा है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।'

श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य ने यहाँ सरस्वती को वाग्रूपा भगवती कहा है। वे महाकवियों के हृदय में दिव्य आनन्दरस को प्रवाहित करती हैं। अपूर्व निर्माण में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है जिसे सरस्वती प्रदान करती हैं। श्रीगुरु के तिरोहित हो जाने पर शिष्य को जब कभी भी किसी अर्थ में सन्देह होता है या वह अर्थ स्फुट नहीं होता तो सरस्वती किसी न किसी माध्यम से उसे प्रकट करा देती हैं। इसमें मेरा अनुभव भी प्रमाण है। इसी ग्रन्थ की व्याख्या में कुछ अज्ञात तत्त्वों का भाव मुझे बहुत ही चामत्कारिक ढंग से हुआ है। गुरु आदि में पूर्वोक्त परा भक्ति के विना यह कार्य संभव नहीं है। शास्त्र में सन्दिग्ध वस्तु का भान श्रीगुरुकृपा से उसे ही होता है जो उसमें निरन्तर तल्लीन रहता है। सतत शास्त्रावलोकन भी सरस्वती की सेवा है, श्रीभगवद्भजन है। विद्याग्रहण भी नियमतः होना चाहिये। कभी ऐसा होता है कि विद्यार्थी लक्ष्मी के लिए कभी अनुष्ठान आदि में चले जाते हैं जिससे सारस्वत साधना बाधित होती है। यह सरस्वती का अपमान है। अध्यापक पढ़ायें न और विद्यार्थी पढ़ें न, इससे बड़ा सरस्वती का अपमान क्या हो सकता है? इन प्रकारों से जीवन का चरम लक्ष्य प्रभावित होता है। गुरु भी कभी शिष्य होता है, अतः शास्त्रार्णव का वगाहन करके नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानप्रतिषिद्धवर्जनपुरःसर उसे भी उपासना से दीप्त होना चाहिये। गुरु श्रीभगवदनुग्रहप्राप्त होते हैं। आज द्रव्यादिसङ्ग्रह की दृष्टि से हर वर्ग में गुरु हो रहे हैं। यहाँ सम्प्रदायशून्यता समझनी चाहिये। 'सम्प्रदायो गुरुशिष्यभावः।' जहाँ सद्विद्या नहीं वहाँ गुरुशिष्यभावरूप सम्प्रदाय भी नहीं है।

पूज्य गुरुवर श्रीकविराजजी के कृपाकटाक्ष से तन्त्रशास्त्र में एक प्रकार से मैं प्रविष्ट हो चला था। श्रीभास्करराय जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के ऊपर वाराणसी में एक सम्मेलन हुआ था। वहाँ शोधनिबन्ध के लिए मैं इस ग्रन्थ के उनके भाष्य का प्रयत्नपूर्वक अनुशीनन किया था। आचार्य की मीमांसान्यायसंचारपटुता ने मुझे प्रभावित किया था। मीमांसा के न्यायों से तन्त्ररहस्य समझने का एक सुखद अनुभव था। उस निबन्ध की उस समय प्रशंसा हुई थी। तन्त्रशास्त्र के महान् आचार्य पं.प्र. श्रीरामजी मालवीय जी ने कहा था कि पहले तन्त्र में वैसा ही शास्त्रार्थ हुआ करता था जैसा मेरा शोधनिबन्ध था। उनके प्रोत्साहन से मैं श्रीभास्करराय जी के अन्य ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने लगा। प्रकृत पुस्तक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गयी थी। इसे लेकर कहीं चलने में मुझे असुविधा होने लगी। मन में विचार आया कि नये ढंग से इसका प्रकाशन हो ताकि विज्ञजनों तक यह पहुँचे। चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन के श्रीनवीनजी से विमर्श के बाद उन्हीं के कहने पर श्रीभास्कररायजी के भाष्य की भाषाव्याख्या के साथ इसके प्रकाशन की योजना बनी जो ग्रन्थ के इस रूप में परिणत है।

श्रीत्रिपुरोपनिषत् ऋग्वेदीय साङ्ख्यायनशाखा में विद्यमान है। दोनों भाष्यकारों ने ऐसा स्वीकार किया है। आरण्यक मन्त्रों के मध्य में षोडशमन्त्रात्मक इस उपनिषत् को श्रीभास्करराय ने माना है। इससे आधुनिक विचारकों का वेदों से अलग ब्राह्मण-आरण्यक और उपनिषदों को मानना निर्मूल सिद्ध होता है। अरण्य (वन) में ही पठित होने वाले वेद को आरण्यक कहते हैं। रहस्यप्रतिपादक भाग को उपनिषत् कहा जाता है। उपनिषदें मन्त्र-ब्राह्मण रूप वेद के दोनों भागों में आम्नात हैं। उपनिषत् को ही वेदान्त कहा जाता है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के रूप में द्विधा विभक्त वेद की दूसरी विधा ही वेदान्त है। वेद के अन्त में वर्तमान होने से और वेदार्थ के निर्णय में उपयोगी होने से भी उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। अन्त का अवसान अर्थ है। संशय का अवसान निर्णय है। अतः वेदार्थ के निर्णय में उपयोगी वेदान्त है। जिसके आगे कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता उसे वेदान्त में जाना जाता है। 'उपनिषद्' नाम गुरु के समीप में बैठकर (निषद्य) गृह्यमाण होने के कारण है। इस तरह सभी विद्यास्थान भी उपनिषद् कहे जायेंगे। परम रहस्य होने के कारण अत्यन्त समीप में बैठकर शिष्य के द्वारा वेदान्त का ही ग्रहण होता है, ऐसा अभिप्राय स्वीकार करके उपनिषद् का वेदान्त अर्थ होगा। 'षद्लृ

विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से उपनिपूर्वक 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। निःशेषतापत्रय को समाप्त करने वाला ज्ञान 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ मुख्यतः है। इस ज्ञान के संपादक वेदभाग का भी प्रतिपादक 'उपनिषद्' शब्द होगा, ऐसा श्रीभगवत्पाद स्वीकार करते हैं। श्रीभाष्य की श्रुतप्रकाशिका व्याख्या में कहा गया है—ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषद्, उपनिषण्णत्वाद् वा उपनिषद्। गहन ब्रह्म के प्रतिपादन में सन्निविष्ट होने से वेदान्तविद्या उपनिषद् है। अद्वारकश्रीभगवत्प्रतिपादकत्व ही उपनिषण्णत्व है। अन्य भाग परम्परया श्रीभगवान् के प्रतिपादक हैं। महाभारत का वचन भी इस विषय में प्रमाण है—

'यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ।
गृणन्ति सत्यकर्माणम् ।'

वेद अपने वाक, अनुवाक, निषद् और उपनिषद् भागों में सत्यकर्मा तथा वेदोदित सारे कर्मों से पूजित भगवान् श्रीनारायण का ही प्रतिपादन करते हैं। वाक का 'मन्त्र' अर्थ है और अनुवाक का 'ब्राह्मण' जो मन्त्र के अर्थों को प्रदर्शित करते हैं। देवता का प्रतिपादक वेदभाग निषद् कहलाता है—निषीदत्यस्यां देवतेति। उपनिषद् वेदान्तविद्या कहीं जायेगी। उपनिषद् में आया 'उप' पद साक्षात् ब्रह्मप्रतिपादन के अभिप्राय से है। **'सत्यानि सत्यभूतानि सृष्टिस्थितिसंहारनित्यविभूतिविहारावतारादीनि कर्माणि यस्य भगवतः स सत्यकर्मा'**, इस तरह सिद्ध हो रहा है कि उपनिषदें सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं तथा प्रपञ्च मिथ्या नहीं है। ब्रह्म की पारमार्थिकता के अभिप्राय से प्रपञ्च के मिथ्यात्व को स्वीकार करने में कोई अनिष्ट नहीं है। एक विरक्त महात्मा ने कहा था कि श्रीशङ्कराचार्यजी ब्रह्म की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। उनका तात्पर्य जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने में नहीं है। ब्रह्म की सत्यता सिद्ध होने पर उसके उपासन के द्वारा निःश्रेयस को प्राप्त करना ही चरम लक्ष्य है। चरम लक्ष्य तक पहुँचा देना ही उपनिषदों का कार्य है। उपासनविधिशेषतया उपनिषदों के प्रामाण्य का निराकरण यद्यपि भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने किया है तथापि उपासनरूप निदिध्यासन के द्वारा ही निःश्रेयस की प्राप्ति उन्हें अभीष्ट है। यदि श्रवणजन्य ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती तो मनन और निदिध्यासन का विधान भगवती श्रुति नहीं करती। यदि श्रवणजन्य ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती तो सभी वेदान्त के प्रवचनकर्ता वेदान्ती मुक्त हो गये होते।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।'

'आत्मानमुपासीत।' 'एष आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।' इत्येवमादि श्रुतियों में 'आत्मा' शब्द का अर्थ अन्तर्यामी ब्रह्म है, न कि बन्धनदशा को प्राप्त जीवात्मा। जीवात्मा का भी आत्मा ब्रह्म है। **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'** इत्यादि श्रुतियों से आत्मा से अलग परमात्मा का प्रतिपादन होता है। परमात्मा ब्रह्म की उपासना से मोक्ष की प्राप्ति श्रुतियों में कही गयी है। तथा हि—

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः, ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति, ईशानं ज्ञात्वा मृत्युपाशाञ्छिनत्ति, एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः, ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्, ओमित्येवं ध्यायथऽऽत्मानम्, आमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः, पर ईशो वा शिव एको ध्येयः शिवङ्करः', इत्यादि वैदिक वचनों से ब्रह्म की उपासना सिद्ध हो रही है जो सभी का अन्तर्यामी है। स्वयम्प्रकाश (देव), सर्वप्रपञ्च-विलयाधार, सर्वजीवकृपाकर (शिवङ्कर), प्रणवरूप, प्रणवपदवाच्य, तुरीय, शिव, अद्वैत और समस्त जीवों के समुदाय 'नार' का अधिष्ठान होने से नारायण ही उपास्य हैं जो बृहत्त्वात् 'ब्रह्म' पद से और सर्वान्तर्यामिरूपत्वात् 'पर ईश' शब्द से सकल कल्याणगुणों का एकमात्र आश्रय होने से 'शिव' पद से स्वसमान द्वितीय के न होने से 'एक' और 'अद्वितीय' पद से श्रुतिस्मृति-इतिहास-पुराण आदि शास्त्रों में प्रतिपादित हैं। भगवान् श्रीनारायण के परब्रह्मत्व को सुबालोपनिषद् इस तरह निर्दिष्ट करती है—

'धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः।
आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनौ ऋचो यजूंषि ।।

सामानि मन्त्रोऽग्निराज्याहुति र्नारायणः ।

उद्भवः संभवो दिव्य एको नारायणः ।।

माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृत् गतिर्नारायणः।।'

वे धाता अर्थात् सर्व प्रपञ्च के स्रष्टा हैं। विधाता अर्थात् श्रुत्यादिरूपशासनकर्ता हैं। कर्ता अर्थात् पुण्यपापोदासीनरूप जीव के कर्मों के प्रधान कर्ता हैं। वे विकर्ता अर्थात् जीवों के सुखदुःखानुरूप लीलारस के अनुभावक हैं। वे आदित्यादि देवताओं के भी अन्तर्यामी देव हैं, अतः सारे

देवता भी उनकी उपासना करते हैं। देवकर्तृकब्रह्मोपासना का निर्देश सकलश्रुतिस्मृति-इतिहास-पुराणों में सुव्यक्त है। वे उत्पत्ति के स्थान (उद्भव) और प्रलय के स्थान (संभव) हैं। वे निरुपाधिक माता, पिता, भ्राता और सभी के निवास, शरण (रक्षक), सुहृत् और परमप्राप्य (गति) हैं। श्रीगीता में वे स्वयम् अपना आशय पूर्वोक्त प्रकार से ही प्रकट करते हैं—

'पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।।'

अन्यत्र भी कहा गया है—

'नारशब्देन जीवानां समूहः प्रोच्यते बुधैः ।
तेषामयनभूतत्वान्नारायण इहोच्यते ।।

तस्मान्नारायणं बन्धुं मातरं पितरं गुरुम् ।
निवासं शरणञ्चाहुर्वेदवेदान्तपारगाः ।।'

अनेक श्रुतियों में आत्मोपासना के रूप में परमात्मा श्रीनारायणं की उपासना परमेश्वरपरक लिङ्ग से निश्चित होती है। तथा हि मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्रवर्ण है—

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ।।'

जिस परमात्मा में द्युपृथिवी आदि समवेत हैं उसी स्वभिन्न सभी पदार्थों के नियामक होने के कारण व्यापक आत्मा की उपासना यहाँ द्योतित हो रही है। जीवों के उपास्य भगवान् ही सकल वेदों के प्रतिपाद्य हैं जिनका संक्षेपतः प्रतिपादक शब्द ओङ्कार है। काठक मन्त्रवर्ण इस तथ्य को प्रस्तुत करता है—

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
इदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।।'

'पद्यते गम्यते', इस व्युत्पत्ति से 'पद' शब्द का अर्थ प्राप्य का स्वरूप है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का वेदाध्ययनपुरःसर ज्ञात होने वाले वेदार्थरूप धर्मों का अनुष्ठान अर्थ है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए होने वाले धर्मों का अनुष्ठान ही वस्तुतः धर्मानुष्ठान है। धर्मानुष्ठान से भी ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इसमें उक्त मन्त्र प्रमाण है। वह ब्रह्म जीवात्मा से भिन्न चिदचिन्नियामक प्रभु हैं। अन्यथा कठशाखागत यह मन्त्रवर्ण उपपन्न नहीं होगा—

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।'

परमात्मा की प्राप्ति में उपायभूत उपासना में अपेक्षित धर्मों का उपदेश यहाँ पर किया गया है। जो परदार (परस्त्री), परद्रव्य आदि दुश्चरितों से विरत नहीं हुआ है, जिसके काम, क्रोध का वेग शान्त नहीं हुआ है, जो अनेक प्रकार के प्रपञ्चों में लगे रहने के कारण व्यग्रचित्त है और जो अपने मन को काबू में नहीं किया है वह उपासना से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। दुश्चरितनिषेधरूप अङ्ग के वैगुण्य से उपासना का साद्गुण्य सिद्ध नहीं होगा। यदि जीवात्मा से भिन्न परमात्मा को नहीं मानेंगे तो परमात्मा में ही दुश्चरितादि की प्रसक्ति होने लगेगी। सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता परमात्मा पुण्य कर्म से उत्कर्ष को और पाप कर्म से अपकर्ष को प्राप्त नहीं होता। वह जीवों की प्रारब्धगति का अनुसरण करता हुआ उन्हें पुण्य-पाप कर्मों को कराता है। जैसा कि कौषतकि उपनिषद् में आम्नान है—

'न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवाऽसाधुना कर्मणा कनीयान् ।
एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति ।
एष ह्येनमसाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति ।
एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः ।
स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यात् ।।'

ओङ्कार, प्रणव और तार शब्द पर्यायवाची हैं। अथर्वशिरा में ऐसा निर्देश है—

'स ओङ्कारो यः प्रणवः सोऽनन्तस्तत् तारम्। अथ कस्मादुच्यते तारम्? यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारभयात् तारयति त्रायते च तस्मा दुच्यते तारम्।' इस तरह प्रणव संक्षेपतः परमात्मा का प्रतिपादन करता है जिनकी उपासना विभिन्न प्रकार से उपनिषदों में निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रतिपादित है। अकार, उकार और मकार ही प्रणव के अन्तर्गत हैं। जैसा वहीं पर उक्त है—

'प्रत्यगानन्दं ब्रह्म, पुरुषं प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति।'

माण्डूक्योपनिषद् में ओङ्कार के विषय में इस तरह कहा गया है—

'सोऽयमात्मा अध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रम्। पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।'

अक्षरों में और मात्राओं में वर्तमान ओङ्कार नादरूप है। क्यों? इसीलिए कि ब्रह्म के जो अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव रूप पाद कहे गये हैं वे ही प्रणव की अकार, उकार और मकार रूप मात्रायें हैं। जो मात्रायें हैं वे ही पाद हैं। यहाँ अकार-उकार-मकार नाद के भी उपलक्षण हैं। समस्त प्रणव में ब्रह्मदृष्टि करके अकारादि मात्राओं में अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव की दृष्टि उपासना में करनी चाहिये, यह अभिप्राय है।

आगे तीनों मात्राओं के विषय में प्रतिपादन करके नादात्मक तुरीय परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन वहीं पर इस तरह है—

'जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा, आप्तेरादिमत्त्वाद् वा। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति, य एवं वेद।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षादुभयत्वाद् वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति। नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, य एवं वेद।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीते र्वा। मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति, य एवं वेद।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्, य एवं वेद।।'

यहाँ पर प्रथम मात्रा अकार में जागरितस्थान वैश्वानरशब्दवाच्य अनिरुद्ध की दृष्टि करने का उपदेश है। वैश्वानर अकारात्मक है, इसमें हेतु यही है कि वह सकल शब्द का प्रकृतिभूत सकल शब्दों में व्याप्त है और सभी के आदि में है। स्वप्नस्थान तैजसपदवाच्य प्रद्युम्न की दृष्टि द्वितीय मात्रा उकार में करनी चाहिये। विश्व की अपेक्षा तैजस उत्कृष्ट है क्योंकि वह ज्ञानधारा में उत्कर्ष का आधान करता है और उत्कृष्टों के समान भी है। सुषुप्तस्थान प्राज्ञशब्दवाच्य सङ्कर्षण की दृष्टि मकार में करनी चाहिये। इसमें हेतु है—मिति और अपीति। यह स्वयम् में अकार और उकार को परिच्छिन्न करता है, सारे जगत् को परिच्छिन्न करता है तथा इसमें जगत् प्रलीन होता है। अपीति का 'प्रलय' अर्थ है। अकार-उकार का भी मकार में अवसान होता है। चतुर्थ नादात्मक निष्कल, व्यवहार के अयोग्य, प्रपञ्चविलय का स्थान

शिव, अद्वैत, ओङ्कार आत्मा श्रीवासुदेव सकल जीवों के अयन (अधिष्ठान) होने के कारण नारायण हैं। तीनों का समस्त प्रणवरूप वासुदेव से अतिसन्निकृष्ट एकता की सूचना के लिए ही 'ओङ्कार' के रूप में समस्त निर्देश है। इस प्रकार अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव के रूप में व्यस्त एवम् समस्त प्रणव का उपासक परमात्मा से अनुगृहीत होकर एकमात्र उन्हीं उपाय से उनको प्राप्त करता है—संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्।

'अक्षराणामकारोऽस्मि', यहाँ श्रीभगवान् के द्वारा स्वयम् के लिए अकार का निर्देश परमव्योमस्थ कामराजकूटीय निष्कल अकार को लेकर है। वही अकार सकल मातृकाओं का कारण है, ऐसा श्रीभास्करराय ने सेतुबन्ध में प्रस्तुत किया है जिसे कामकला कहते हैं। वाग्भवकूट में निष्कल तृतीय वर्ण कामकला है जो महामायात्रय (मायाबीजस्थ ईकार) से भिन्न है। कामराजीय कूट में प्रथम व्योमवर्ण में विद्यमान अकार को ब्रह्म के रूप में तैत्तिरीय श्रुति इस तरह व्यक्त करती है—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।'

यहाँ प्रथम वाक्य से संसारबीजोपमर्दनपूर्वक ब्रह्मवेदन अर्थात् श्रीभगवदुपासन को ही उनकी प्राप्ति में कारण कहा गया है, न कि श्रवणजन्य ज्ञान को। श्रीसुरेश्वराचार्यजी भी यही तथ्य स्फोरित करते हैं—

'ध्यानैकताननिबिडाहित चेतसोऽजं प्रध्वस्तकृत्स्ननिजमोहसमस्तदोषम्।
प्रत्यक्तया शुभधियो यतयोऽभ्युपेत्य यं देवमेकममलं प्रविशन्ति सोऽव्यात्।।'

परमात्मा में ज्ञान का प्रवाह ही ध्यान है जिसकी एकतानता के बल से परिपूर्णतया परमात्मा श्रीनारायण में चित्त लगा देने वाले यतिवृन्द शुभबुद्धि से सम्पन्न होकर सर्वथा अविद्यादि दोषों से असंपृक्त नित्यनिरवधिक कल्याण गुणगणों से सम्पन्न जिस देव में प्रवेश करते हैं वे लक्ष्मीनिवास भगवान् मेरी रक्षा करें। यहाँ आचार्य ने सुस्पष्ट कहा है कि करुणावरुणालय श्रीभगवान् अपने भक्तों की रक्षा करते हैं।

उसी ब्राह्मणवाक्य में कहे गये अर्थ में यह ऋक् आम्नात है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।।'

सत्य, ज्ञान और अनन्त पदों से परमात्मा का प्रतिपादन है। वह परमात्मा कहाँ निगूढ़ है? कहते हैं—**गुहायां परमे व्योमन्।** गुहा = ह्रीङ्कार में तथा परम व्योम = कामराजकूटीय प्रथम सपर में। इस तरह कामकला को ही ब्रह्म के रूप में कहा गया है। काम अर्थात् कामेश्वर श्रीभगवान् की विमर्शशक्ति ही कामकला है। शक्ति और शक्तिमान् में तादात्म्य होने से श्रीभगवान् ही सकल प्रपञ्च के उपादान कारण माने जाते हैं। परब्रह्म की तदात्मिका शक्ति को ही ब्रह्मविद्या मुख्यवृत्ति से कहा जाता है। यही श्रीविद्या भगवती श्रीत्रिपुरा हैं जिनकी उपासना का उपदेश यह उपनिषद् करती है। गौणी वृत्ति से उपनिषद् को भी ब्रह्मविद्या कहते हैं। परमात्मवेदन को ही ब्रह्मविद्या के रूप में यह श्रुति प्रकट करती है—

'अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम् ।
यया5चिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषमुपैति विद्वान् ।।'

इस मन्त्रवर्ण में सकल शास्त्रार्थ समाया हुआ है। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक शास्त्र के अध्ययन का उपदेश यहाँ सर्वप्रथम है जो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' विधि के आधार पर होने वाले यावत् विचारों को परिपुष्ट करता है। गुरु के मुख से होने वाले उच्चारण के अनुसार उच्चारण करना ही अध्ययन है। अध्ययन के बाद गुरु के समीप ही विचार करते हुए ब्रह्मविद्या के विषय में यथावत् ज्ञान प्राप्त करके ही उपासना करनी चाहिये। यह ब्रह्मविद्या अर्थात् श्रीविद्या निगूढ है और सर्वदा सत्पुरुष इसकी उपासना करते हैं। उपासना ही सेवन और भजन के नाम से जानी जाती है। उपासना के द्वारा साधक अपने सारे पापों का निरास करके परात्पर पुरुष लक्ष्मीनाथ भगवान् श्रीनारायण को प्राप्त करते हैं। उक्त मन्त्रवर्ण ब्रह्मविद्या की उपासना का फल मोक्ष है, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन कर रहा है। यदि श्रवणजन्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन होता तो वेदान्ती सेवानिवृत्ति के बाद अर्ध भृति पर निर्भर नहीं रहते। परमात्मा के साथ शक्ति के तादात्म्य को सूतसंहिता के वचन से श्रीरामानन्दतीर्थ जी ने इस तरह परिपुष्ट किया है—

'चिन्मात्राश्रयमायायां शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः! ।
अनुप्रविष्टा या संवित् निर्विकल्पा स्वयम्प्रभा ।।
सदाकारा परानन्दा संसारच्छेदकारिणी ।
सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी ।।

एषा सा साक्षिणी शक्तिः शङ्करस्यापि शङ्करी ।
शिवाभिन्ना तया हीनः शिवः साक्षान्निरर्थकः ।।'

निर्विकल्प, स्वयम्प्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी भगवती भगवान् से अभिन्न हैं। वे आराधित होकर मोक्ष प्रदान करती हैं।

सुबालोपनिषद् में **'आत्मानं द्विधाऽकरोत्, अर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषः'** से परमात्मा का स्त्रीरूप भी आम्नात है। श्रीभास्करराय ने दोनों रूपों का विवक्षानुसार यहाँ अपने भाष्य में उपपादन किया है। श्रीरामानन्दतीर्थ ने उपर्युक्त सारे तथ्यों का आकलन करके ही श्रीविद्या को परमात्मा के रूप में इस तरह उपपादन किया है—

'श्रीश्चासौ विद्या चेति श्रीविद्योच्यते। तत्प्रतिपादिका विद्यापि श्रियं प्रत्यक्चिन्मात्रं परमात्मानं वेदयति विचारं कारयति ज्ञापयति लापयतीति गौण्या वृत्त्या श्रीविद्येत्युच्यते' ब्रह्मविद्याख्य ओङ्कार तीन मात्राओं से युक्त है और ई श्रीविद्याख्य ईकार भी तीन बिन्दुओं से युक्त है। इस तरह भी दोनों में अभेद सिद्ध हो रहा है।

'अक्षराणामकरारोऽस्मि' से श्रीवासुदेव भगवान् कृष्ण जिस कामकला को इङ्गित कर रहे हैं वही पूर्वोक्त ईकार ही श्रुतियों से भी परिपुष्ट है। तथा हि—श्रीरामानन्दतीर्थ ने इन श्रुतियों को उद्धृत किया है—

'तां पद्मिवीमी शरणमहं प्रपद्ये।'

'यः प्राणिति य ईं शृणोति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्। य ईं चकार न सो अस्य वेद। य ईं ददर्श। चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तः। स ईं पाहि। स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिः। क ईं वेद ससुते सचार। क ईं व्यक्त्या नरः सुनीलाः। य ईं वहन्त आशुभिः।'

विष्णुवाचक प्रथमस्वरूप अकार से पुंयोगलक्षण ङीष् करने पर तथा 'यस्येति च' से अकार के लोप के पश्चात् अवशिष्ट प्रत्यय मात्र ही 'ई' है। यही कामकला है जिसका दो अर्थ है—कामाभिन्ना कला, कामस्य कामेश्वरस्य परब्रह्मणः कला विमर्शशक्तिः। इस तरह भी शक्ति और शक्तिमान् में तादात्म्य सिद्ध हो रहा है। जैसा कि श्रीरामानन्दतीर्थ ने कहा है—

'कला विमर्शशक्तिः अग्नीषोमरूपिणी, कामाभिन्नकला कामकला

कामेश्वराविनाभूता बिन्दुत्रयसमष्टिरूपा कामकलेत्युच्यते।' ब्रह्म की यह एक प्रकार से चैतन्यावस्थापन्न उत्तम चित्तवृत्ति है जिसे उमा भी कहते हैं। **उः उत्तमा मा चित्तवृत्तिः,** ऐसा विग्रह श्रीभास्करराय सौभाग्यभास्कर में करते हैं। सूतसंहिता के वचन को इस अर्थ में उन्होंने उपन्यस्त किया है—

'परानुभूतिं भवपाशनाशिनीं सदाशिवस्याऽप्यतिशोभनाढ्याम् ।
उमाभिधामुत्तमचित्तवृत्तिं नमामि नानाविधलोकवैभवाम् ।।'

लिङ्गपुराण में दो प्रणव कहे गये हैं—एक कामेश्वर का वाचक और दूसरा कामेश्वरी का वाचक।

'अकारोकारमकारा मदीये प्रणवे स्थिताः।
उकारश्च मकारश्च अकारश्च क्रमेरितम्।।
त्वदीयं प्रणवं विद्धि त्रिमात्रं प्लुतमुत्तमम् ।।'

उकार+मकार+अकार = उमा। उमा ही त्रिपुरा हैं जो ओङ्कार की सारभूत शक्ति हैं—**ओङ्कारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता।** श्रीभास्करराय ने महावासिष्ठ के निम्न श्लोक को तत्रत्य टीका के सहित उद्धृत किया है जिससे कामकला का स्वरूप और स्फुट हो जाता है—

'सुप्तानामथ बुद्धीनाममात्रोच्चारणाद्धृदि ।
नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।।'

'सर्वप्राणिनां स्वापे बोधे वा हृद्यनाहतनादात्मना अकारादिमात्रात्रय-शून्यस्य प्रणवनादभागस्य शब्दब्रह्मात्मकस्य नित्यमुच्चारणाद् धृदम्बु-जच्छिद्राकाशदहराकाशशिवस्य शिरसीन्दुकला बिन्दुरूपेण स्थितेति तट्टीकायाम्।' (सौभाग्यभास्कर-१७७)

संसार के सभी प्राणी स्वप्न-जागर दोनों अवस्थाओं में अपने-अपने हृदय में अनाहत (अनहद) नाद के रूप में अकार-उकार और मकार, इन तीनों मात्राओं से शून्य शब्दब्रह्म का नित्य उच्चारण करते हैं। वही प्रणव का नादात्मक भाग और हृदयकमलस्थ छिद्राकाशरूप दहराकाश में स्थित शिवतत्त्व है जिसके मस्तक पर विराजमान चन्द्रकला ही उमा हैं जो बिन्दु के रूप में स्थित हैं। इस तथ्य को और समझने के लिए श्रीमद्भागवत के इन श्लोकों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है—

'समाहितात्मनो ब्रह्मन्! ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।

हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ।।

यदुपासनया ब्रह्मन्! योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ।।

ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत् तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ।।

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ।।

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ।।'

(श्रीमद्भागवतमहापुराण-६/३७-४१)

इसके अभिप्राय को सकलागमाचार्यचक्रवर्ती श्रीपृथ्वीधराचार्य ने इस तरह प्रकट किया है—

'ऐन्दव्या कलयावतंसितशिरो विस्तारि नादात्मकं
तद्रूपं जननि! स्मरामि परमं सन्मात्रमेकं तव।
यत्रोदेति पराभिधा भगवती भासां हि तासां पदं
पश्यन्तीमनु मध्यमा विहरति स्वैरं च सा वैखरी ।।'

परमे तुरीयातीतरूपे तिष्ठतीति परमेष्ठी ब्रह्मा अपने मन को समाहित करके ध्यानस्थ हुए तो उनके हृदयाकाशरूप दहराकाश में नाद की उत्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति हुई। वृत्तियों को अवरुद्ध करने पर अन्य योगियों को भी इसी नादात्मक ब्रह्म की अनुभूति होती है। यह धर्मिमात्रविग्रह है और परदेवता का परम रूप है। इसी नाद के निदिध्यासन से योगी अपने यावत् मलों का क्षपण करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसी नाद से त्रिमात्र ओङ्कार और समस्तशाखीय वेदों का वितान होता है। परा वाक् का प्राकट्य भी इसी नाद से होता है। जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत, इन पाँच अवस्थाओं को आगम में कहा गया है। सेतुबन्ध में श्रीभास्करराय ने इनका इस तरह निरूपण किया है—

'दशेन्द्रियै र्जाग्रद्व्यवहारो जागरणम् ।

बाह्येन्द्रियरहितैः करणैर्मनो बुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यैरेव व्यवहारः प्रमातृ-

स्वप्नः। स्वप्ने विद्यमानानामन्तःकरणवृत्तीनां लयतः सर्वेन्द्रियोपरतिः सुषुप्तिः। अतो देहाक्षादिषु लीनस्यैव प्रकाशनं भवति। सुखमहमस्वाप्समिति पश्चात् सुखमयं स्वात्मरूपं परामृश्यते सा सुषुप्तिः।

नादरूपस्य वेदनं तुरीयरूपम्।

'यतो वाचो निवर्तन्ते, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इतिरीत्या मनोवागातीतपरमानन्दस्वरूपं तुरीयातीतम्।'

अन्तिम तुरीयातीतरूप ब्रह्म की नादरूपा कला ही कामकला है। कामकला का ध्यान इस त्रिपुरोपनिषद् में उक्त है जो तुरीयरूप ही संभव है। तुरीयातीतरूप ध्यानातीत है। यही उमा भगवती त्रिपुरा कामकला कारणबिन्दु के नाम से जानी जाती हैं। यही चक्रबिन्दु का भी कारण है। ऐसा श्रीभास्कररायजी के निम्न सेतुबन्धीय अनुसन्धान से पता चलता है—
'कारणबिन्दुः कामकला।' 'ईस्त्रिमूर्ति र्महामाया' इत्यधिकृत्य 'शिवोत्तमः शिवा तुष्टिश्चतुर्थी बिन्दुमालिनी' इति कोशात्। कामकलात्मकबिन्दोश्चक्रबिन्दुं प्रति कारणत्वम्। निर्बिन्दुक ईकारश्चतुर्थ इति यावत्।

'हादिपक्षे तु तृतीयकूटस्थप्रथमाक्षरस्थोऽकारः कारणबिन्दुपदेनोपादेयः। बिन्दुः शून्यमकारः। अत एवाकाराधिकारे कामेशीवासिनी वियत् इति वियत्पदम्, कोशे बिन्दुपदेनाऽकारनिर्देशोऽकारान्तरव्यावर्तनाय। सर्वकारण-रूपाकारस्यैव शून्याकारत्वात्।'

इन सभी वाक्यों का विवेचन प्राक् कर दिया गया है। अकार और ईकार की एकता इस तरह श्रुति और तन्मूलक आगमों से निश्चित हुई।

इस उपनिषद् में 'कामो योनिः' मन्त्र से समुद्धृत मन्त्रराज का अनुसन्धान करते हुए तन्निष्ठ कामकला का ध्यान होना चाहिये, इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए ही इस ग्रन्थ में पर्यन्त में कामकला का ध्यान अर्थात् उपासन उपदिष्ट है। तन्त्र में जितने भी बीजाक्षर निर्दिष्ट हैं वे सभी किसी न किसी प्रकार से निगम से ही आकलित हैं। जैसा कि कामबीज को कामकला के व्याज से यह पूर्वोदाहृत मन्त्र प्रकट कर रहा है।

'यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।'

इसको इस तरह श्रीभास्करराय सौभाग्यभास्कर में सुस्पष्ट करते हैं—
'यद्वा पूर्वोक्तकामबीजे केवलत्वं ककारलकारात्मकव्यञ्जनराहित्यम्।

तेन केवलतूर्यस्वरूपा कामकलेत्यर्थः।'

इसी से पूर्वोक्त मदीय आकलन की भी परिपुष्टता सिद्ध हो रही है कि तूर्यरूप ही कामकला है, न कि तुरीयतीत' रूप। मन्त्रार्थ भी आचार्य के इसी वचन से स्फुटित हो जाता है। जो केवल अर्थात् कामकला का ही श्रवण करता है वह सुकृत अर्थात् सत्कर्म के पन्था अर्थात् उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त नहीं करता, किन्तु निर्गुणज्ञान से प्राप्त होने वाले कैवल्य पद को प्राप्त करता है। इससे अर्थात् सिद्ध होता है कि कामबीज के उपासन से त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। मन्त्रार्थ का निहितार्थ श्रीभास्करराय स्वयम् इस तरह प्रकट करते हैं—

'कामबीजमात्रेण त्रिवर्गः कामकलामात्रेण तु मोक्ष इति पर्यवसितोऽर्थः।' पूर्वोक्त प्रकार से उपासक जब नितान्तनिर्मलस्वान्त हो जाता है अर्थात् कामराज मन्त्र से जब परमसिद्धि प्राप्त कर लेता है तब उसे केवल कामकला ही सुनायी देती है। नाद के अतिरिक्त उसे अन्य कार्य प्रपञ्च का भान नहीं होता। कार्य प्रपञ्च का भान उसे ही होता है जो नितान्तनिर्मलस्वान्त नहीं हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण भी उस स्थिति में पहुँचने को कहते हैं जहाँ 'यदीं शृणोत्यलकं शृणोति' की स्थिति बन जाय अर्थात् केवल कामकला ही सुनायी दे—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।'

(श्रीगीता-२/४६).

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।'

(श्रीगीता-५/१९)

यहाँ श्रीभगवान् अर्जुन को त्रिगुणातीत होने का उपदेश दे रहे हैं। शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से ऊपर एवम् योगक्षेम की चिन्ता से दूर आत्मनिष्ठ हो जाना ही मन को समता में स्थापित करना है। निर्दोष अर्थात् अविद्यादोषों से असम्पृक्त नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप ब्रह्म ही सम है और ब्रह्मनिष्ठ हो जाना ही मन को साम्य में स्थापित करना है। जो इस तरह हो जाता है वह मायाविलसित सर्ग पर विजय प्राप्त कर लेता है। यही वैदिक साम्यवाद है। साम्यवादियों का साम्यवाद तो वेदानुगामियों के अवसरप्राप्त आकाङ्क्षाओं के

विरुद्ध वेदबाह्यों के समर्चन के लिए जागरूक विषमता का भीषण भूधर है। एक वर्ग की उपेक्षा करके दूसरे वर्गों के योगक्षेम में ही पूरा ध्यान केन्द्रित कर देना कहाँ का साम्यवाद है? ऐक्यदृष्टि ही साम्यदृष्टि है। वही ब्रह्मदृष्टि है। यही श्रुतिसिद्ध भी है—

'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति।'

एक ही तत्त्व का श्रीचक्र में अनेकदेवतागर्भित उपासन है। तथा हि—एक ही कामेश्वरी का अनेकरूप कूर्म पुराण में इस तरह है—

'एका कामेश्वरी शक्तिरनेकोपाधियोगतः ।
परावरेण रूपेण क्रीडते तस्य सन्निधौ ।।'

दुर्गाशप्तशती में भी मूलतः ऐक्य स्थापित है—

'एकैवाऽहं जगत्यत्र द्वितीया का ममाऽपरा।'

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः', इत्यादि मन्त्रवर्ण भी दैवतैक्य का प्रतिपादन करते हैं। इस उपनिषद् का भी भगवती त्रिपुरा के रूप में ऐक्य स्थापित है। देवीपुराण भी भगवती से ही जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहार का कथन करता हुआ उनकी ब्रह्मरूपता का उद्घोष करता है—

'एकैव लोकान् ग्रसति एकैव स्थापयत्यपि ।
एकैव सृजते विश्वं तस्मादेकाकिनी मत्ता।।'

एक ही ब्रह्म का त्रिरूप जैसे उदित है वैसे ही उनकी शक्ति कामकला का भी त्रिरूप इस तरह स्मृत है—

'परमात्मा यथा देव एक एव त्रिधा स्थितः ।
प्रयोजनवशाच्छक्तिरैकैव त्रिविधा भवेत् ।।
शाम्भवी शुक्लरूपा च श्रीविद्या रक्तरूपिका ।
श्यामला श्यामरूपा स्यादित्येता गुणशक्तयः ।।'

इसी को श्रीगौडपादाचार्य भी **'आत्मैवाऽखण्डाकारः'**, **'चैतन्य-स्वरूपा चिच्छक्तिः'**, **'सैवेयमनामाख्या श्रीविद्या'**, इन तीन सूत्रों से ऐक्य का उपपादन करके—

तत्त्वत्रयेण सा त्रिविधा ।।५।।

इस पञ्चम सूत्र से ब्रह्म अर्थात् कामेश्वरस्वरूप तत्त्व के आत्मा, विद्या और शिव, इन तत्त्वों के त्रिविधत्व को कह कर पुनः—

'सा शाम्भवी विद्या श्यामा तत्त्वत्रयाकृतिस्त्रिविधा जाता।'

इस सप्तम सूत्र से देवी के तीन रूपों को कहा है।

अयमभिप्रायः—

अखण्डाकार परमात्मा चैतन्यस्वरूप ब्रह्म की स्वरूपभूता चिच्छक्ति अनामाख्या श्रीविद्या माया और माया के कार्य से असम्बद्ध है। वह चिदाकाश में प्रविष्ट होकर विचरण करती है। जैसा कि श्रुति का निर्देश है—

'इयमेव सा प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्यां चरति प्रविष्टा।'

यही आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व, इन तीन तत्त्वों से त्रिविध हुई है, जैसा कि श्रुति का निर्देश है—

'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।'

तीन ओघों से युक्त परावासना से विशिष्ट परापरम्परा-गुरुओं का अधिष्ठान ही आत्मतत्त्व है। यह अधिष्ठान ही सदन, चक्र, पुर, गुहा, तत्त्व और चरण शब्दों से कहा जाता है। वही परिच्छिन्न लोपामुद्राचरण 'शिव' शब्द से कहा जाता है। वही कामराजविद्यावासनाविशिष्ट कामराज-परम्परागुरुओं का अधिष्ठान कामराजविद्याचरण ही 'विद्या' शब्द से उक्त है। यही तीनों तत्त्व मन्त्रों और देवताओं का कारण है। श्रीशङ्करानन्द ने अपने भाष्य में इस तरह विवेचन किया है। तापनीय में इन्हीं तीन तत्त्वों को परा, पश्यन्ती और मध्यमा के रूप में स्वीकार किया गया है—

'परा वागात्मतत्त्वञ्च शिवतत्त्वञ्च मध्यमा ।
विद्यातत्त्वञ्च पश्यन्ती ध्वनयस्तत्त्वलक्षणम् ।।'

परावासना आदि देशिक आदि का जो सदन है वही तेजोमय तीन चरण हैं। भण्डासुर के वध के लिए चित् शक्ति अनेकों रूपों में प्रकट हुई जैसे महालक्ष्मी शुम्भनिशुम्भ के वध के लिए। उक्त तीन तत्त्वों से शाम्भवी, विद्या और श्यामला प्रकट हुई हैं। त्रिगुणात्मक त्रिमूर्ति तेज से प्रकट होने के कारण तीन संज्ञा प्राप्त हुई है। शम्भु के सम्बन्ध से शाम्भवी, विष्णु के सम्बन्ध से श्यामा और ब्रह्मसम्बन्ध से श्रीविद्या का प्राकट्य है। इनके वर्णों को इस तरह कहा गया है—

'शाम्भवी शुक्लरूपा च श्रीविद्या रक्तरूपगा।
श्यामला श्यामरूपाख्या एताश्च गुणशक्तयः।।'

जैसे ब्रह्मचित् तीन प्रकार की हुई वैसे है ब्रह्म भी माया के बल से परशिव, सदाशिव, रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु, इन पाँच रूपों में प्रकट हुए। त्रिपुरासिद्धान्त में ऐसा कहा गया है—

'निर्विशेषं ब्रह्म यत् तत् स्वस्मिन् मायावशादपि ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।।
मूर्तयः पञ्चतत्त्वाख्यं चिद्विलासाय संस्थितम्।'

श्रीशङ्करानन्द ने चक्रीय देवताओं के विषय में इस प्रकार निरूपण किया है—

परमशिवपत्नी परविद्या, सदाशिवपत्नी श्यामला और रुद्रपत्नी शाम्भवी। सौन्दर्य और विद्या का अतिशय होने से श्रीविद्या ही परमशिव की पत्नी हैं। परमशिव को ही कामेश्वर और श्रीविद्या को कामेश्वरी कहा जाता है। यही राजराजेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी और षोडशी नामों से भी व्यवहृत हैं। चिन्तामणिसदन की भी यही अधिष्ठात्री हैं। मणिद्वीप पर्वत के मध्य में विश्वकर्मा ने चौबीस प्रकारों से विभूषित चिन्तामणिनामक सदन की परिकल्पना की। क्षीरसागर के मध्य में महापद्माटवी के मध्य में उस सदन को देखकर देवता बहुत प्रसन्न हुए और परमशिव का सच्चिदानन्दघन के रूप में ध्यान किये। उनके अनुग्रह से वे वहाँ त्रिविध देवताओं की स्थापना किये। त्रिविध परमात्मा उन त्रिविध देवताओं से विवाह किये। ततः सभी देव वहाँ परमशिव की कृपा से परावासनादि-देशिकरूप से सिद्धौघ, मानवौघ, दिव्यौघ देवताओं के अधिष्ठान मन्त्रों और पूजायोग्य चक्रों की कल्पना करके वहीं मन्त्रपरम्परा के गुरुओं के रूप में विराजमान हुए। तत्पश्चात् आठों वसु अपने अधिकार से सभी चक्रों के आवरणदेवताओं की परिकल्पना करके पूजापारम्पर्य-गुरुओं के रूप में स्थित हुए। ततः सूर्य, सोम और अग्नि ही तीन पीठों के रूप में, पीठाधिष्ठान के रूप में, तीन गुरुओं के रूप में, तीव वटुकों के रूप में और तीन मण्डलों के रूप में प्रकट हुए। तत्पश्चात् मुनिगण नौ सिद्धों के रूप में, दस वीरों के रूप में, चौंसठ कलाओं के रूप में वहीं प्रकट हुए। ततः चौदह मनु शिव आदि सम्पूर्ण गुरुओं की परम्परा के क्रम से योग्यतया सभी के पूजक के रूप में अवस्थित हुए। ततः गौरी आदि नौ

मुद्राओं के रूप में, नौ दूतियों के रूप में और अधिष्ठानभूत नौ चक्रों के रूप में विराजमान हुईं। ततः आठ भैरवों के रूप में भी वहीं स्थित हुए।

शाम्भवी और श्यामला से जो अनेक देवतायें प्रकट हुईं वे महाविद्या के परिवार हैं। ऋग्वेदमय पूर्व द्वार में श्रीविद्या के प्रभुत्व को प्रकट करने के लिए श्यामला से शुद्धविद्या, बाला, द्वादशार्धा, मतङ्गिनी, ये प्रधान शक्तियाँ प्रकट हुईं जिनका परिवार चौबीस हजार की संख्या में है। यजुर्वेदमय दक्षिण द्वार में सौभाग्यविद्या, बगला, वाराही, वटुकप्रिया, तिरस्करिणी शक्तियाँ हुईं। इन देवताओं का परिवार तीस हजार की संख्या में है। अथर्ववेदमय पश्चिम द्वार में लोपामुद्रा, भुवनेश्वरी, अन्नपूर्णा और कामकला, ये शक्तियाँ प्रकट हुईं। इनके सेवक गणनायक हुए और तीन हजार परिसेविकायें हुईं। सामवेदमय उत्तर द्वार में शाम्भवी का परिवार प्रकट हुआ जिसमें तुरीया, महार्घा, अश्वारूढा, मिश्राम्बा और वाग्वादिनी नाम से शक्तियाँ आती हैं। ये दो हजार शक्तियों से संयुक्त हैं। इनके पीठ का नाम ओड्यानपीठ है। साक्षात् भगवती स्वसामर्थ्य के बल से ऊर्ध्वरूप में स्थित हैं, जैसा कि सुन्दरीतापनीय में कहा गया है—

'स्वसामर्थ्यतया जाता चोर्ध्वरूपेण शाम्भवी ।
शृङ्गे तिष्ठति सा देवी तद्रूपेणापि संस्थिता ।।'

पराविद्या, पराप्रासाद और परा शाम्भवी, इन तीन रूपों में उनकी स्थिति है। ऋग्वेदमय आदि चारों द्वारों के आधार पर यह निश्चित होता है कि शुद्धविद्या आदि देवतायें वेदों की ही अधिष्ठातृदेवतायें हैं। इस विषय में यह मन्त्रवर्ण भी प्राप्त होता है—

'ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषां मनीषिणः।
अथर्वणामाङ्गिरसां प्रतीची साम्नामुदीची महती दिगुच्यते।।'

यहाँ 'वेदों वा प्रायदर्शनात्', इस अधिकरण में प्रतिपादित असञ्जातविरोधित्वन्याय से ऋक् आदि शब्द ऋग्वेद आदि और उनके अधिष्ठातृदेवताओं का भी बोधक है। 'प्राची दिग्' आदि शब्द वैदिकव्याकरणानुसार सप्तमी के अर्थ में हैं। इस तरह पूर्वोक्त सारी विद्यायें वेद से ही सिद्ध हो रही हैं। शुद्धविद्या से लेकर परा पर्यन्त पूर्वोक्त सारी देवतायें वेदों में कहे गये अग्नि आदि देवता ही हैं, ऐसा मन्त्रोपनिषद् में कहा गया है—

'शुद्धविद्यादयो नित्या अग्निदेवतादिनोच्यन्ते।'

उक्त आम्नायों की देवियाँ किन-किन देवताओं की पत्नियाँ हैं, इसे निम्न वचनों से समझ सकते हैं—

'लोपामुद्रा तु सौभाग्यमहाविद्या तु षोडशी।
दाराः परशिवस्येति ता एतास्तु वरानने ।।
श्यामला शुद्धविद्या च अश्वारूढा वरप्रिये।
दाराः सदाशिवस्येति ज्ञातव्याः परमेश्वरि! ।।
महार्द्धा द्वादशार्द्धाऽपि वाराही बगला प्रिये!
तुरीया भुवनेशीति श्रीपरा शाम्भवी प्रिये! ।।
दारा रुद्रस्य ताश्चैव शृणु सत्यं न संशयः ।
विष्णोर्दारा इति ख्याता अन्नपूर्णा शिवस्य च ।
वाग्वादिनी च बाला च पत्न्यौ ते ब्रह्मणः शिवे! ।।
वाराही च सुतस्तस्या बटुकाख्य इतीर्यते ।
नवदूती हसन्ती च न सिद्धाश्च देवताः ।।
अनामाख्या अनेकाश्च सर्वेषां भोगदेवताः ।।'

चिन्तामणिसदन में स्थित त्रिपुरसुन्दरी महाविद्या अनुत्तरा कही जाती हैं। ऊर्ध्वाम्नाय और अधराम्नाय ही अनुत्तराम्नाय है। काशी में श्रीविद्यासदन, नगवा में अनुत्तराम्नाय की देवता स्थापित हैं। एक ही भगवती भण्डासुर को मारने के लिए अनेक रूपों में प्रकट हुई हैं, ऐसा पूर्व की कहा है। श्रीगौडपादाचार्य श्रीविद्यारत्नसूत्र में ऐसा इङ्गित करते हैं—

भण्डासुरहननार्थमेकैवाऽनेका ।।१६।।

उपासनार्थ यह प्रपञ्च स्वीकृत है। अनेकविध भक्तों से अनेक प्रकार की उपासनाओं का फलभेद से विस्तार है। श्रीचक्र के माध्यम से ब्रह्माण्ड की उपासना हो जाती है जिसका मूल इस उपनिषद् में सन्निहित है। इस उपनिषद् का विनियोग पूर्वोक्त परदेवता की स्तुति में श्रीभास्करराय ने तृतीय और दशम ऋक के अर्थप्रकाशनसामर्थ्य के आधार पर माना है। प्रथम मन्त्र में बिन्दुचक्र का उपदेश है। त्रिकोण और वसुकोण (अष्टकोण) चक्रों के समष्टिरूप में नवयोन्यात्मक चक्र का वर्णन द्वितीय मन्त्र में है। बिन्दु,

त्रिकोण, अष्टकोण, इन तीनों चक्रों को संहारचक्र कहते हैं जिसमें सारा श्रीचक्र सूक्ष्मरूप से स्थित है। दो दशकोण (अन्तर्दशार, बहिर्दशार) और चतुर्दशकोण ही स्थितिचक्र नाम से जाना जाता है जिसका उपदेश तीसरे मन्त्र में है। चतुर्दशकोण के नीचे वृत्तत्रय से विशिष्ट अष्टदलपद्म और षोडशदलपद्म हैं जो सृष्टिचक्र के रूप में स्थित हैं। इनका उपदेश चौथे मन्त्र में है। भूगृहात्मक चक्र का उपदेश पाँचवाँ मन्त्र करता है। इस तरह वर्णित श्रीचक्र सपरिवार परदेवता का निवासस्थान है जो उपासना के द्वारा भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ है। श्रीनगर के समान श्रीचक्र को माना गया है जहाँ भगवती त्रिपुरसुन्दरी कामेश्वर भगवान् श्रीनारायण के साथ अनन्त अपने ही दिव्यरूपविस्तार के साथ सुशोभित रहती हैं। श्रीचक्र का स्वरूप एक श्लोक में इस तरह प्रतिपादित है—

'बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-
मन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।
वृत्तं त्रिभूपुरयुतं परितश्चतुर्धा
श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ।।'

इसी को श्रीविद्यारत्नसूत्र में इस तरह कहा गया है—

'कगजदशारद्वयमन्वस्राष्टदलस्वपत्रत्रिवृत्तभूबिम्बसंज्ञाकथितं श्रीसदनम्।'
यहाँ क, ग, ज से बिन्दु, त्रिकोण और अष्टकोण को कहा गया है। ततः दशकोणद्वय, चतुर्दशकोण, अष्टदल और षोडशदल कमल, त्रिवृत्त तथा त्रिभूपुर से संपृक्त परदेवता का पुर निष्पन्न होता है। इनमें चार शिवचक्र और पाँच शक्तिचक्र माने गये हैं—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्चः पञ्चभिः ।
शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ।।'

अष्टदल, षोडशदल, त्रिवृत्त और त्रिभूपुर शिवचक्र हैं तथा त्रिकोण, अष्टकोण, दशकोणयुगल, चतुर्दशकोण (मन्वश्र) शक्तिचक्र हैं। सौन्दर्यलहरी में श्रीभगवत्पाद ने भी वर्णन किया है—

'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभि पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः ।
चतुश्चत्वारिंशद् वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्द्धं तव चरणकोणाः परिणताः।।'

चौवालिस कोण, चौबीस सन्धियाँ और चौबीस मर्म समयमत के अनुसार माने गये हैं। अथर्ववेदीय यह मन्त्र भी श्रीचक्र का ही प्रतिपादन करता है—

'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः।।'

अष्टकोण, दशकोणयुगल, चतुर्दशकोण, अष्टदल, षोडशदल, त्रिवलय और त्रिरेखामय आठ चक्रों वाली तथा त्रिकोणरूप नौ द्वारों से युक्त श्रीविद्या की नगरी देवताओं के लिए भी पूज्य है जो मन्दभाग्यों के लिए अप्राप्य (अयोध्या) है। इसी नगरी रूप श्रीचक्र के मध्य में सहस्रदलकमलकोश ज्योतिर्लोक है। बैन्दवस्थान में सहस्रदलकमलमयकोश विद्यमान है। इसकी उपासना का रहस्य योगिनीहृदय, श्रीविद्यार्णवतन्त्र आदि से विस्तरशः समझा जा सकता है।

छठे मन्त्र में देवी के प्रसिद्ध नामों को कहकर सातवें मन्त्र में उपासना का प्रतिपादन है जिसका फल त्रैपुरधाम अर्थात् कैवल्यमुक्ति है। कामकला के ध्यान से कैवल्या मुक्ति को पहले ही कह दिया है। श्रीभास्करराय ने मार्गत्रय के निरूपण के लिए मुक्तित्रय का प्रतिपादन इसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है। तथा हि—

प्रतीकादि-उपासना से सालोक्य मुक्ति होती है। प्रतीक के विना ही अपने से पृथक् मानकर श्रीभगवान् की उपासना से देवता और उपासक के सारूप्य (रूपतः साम्य) को सारूप्य या सार्ष्टि मुक्ति कही गयी है। आराध्य के समान ऋद्धि इस मुक्ति की विशेषता है। अहङ्ग्रहण से उपास्य सगुण देवता से तादात्म्य ही सायुज्य मुक्ति है। स्व-स्व-वर्णाश्रमधर्मों के अनुष्ठान से सामीप्य मुक्ति है। तीन प्रकार की मुक्तियों में यह तैत्तिरीय श्रुति प्रमाण है—

'एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टितां समानलोकतामाप्नोति।'

चौथी सामीप्य मुक्ति में यह मुण्डकश्रुति प्रमाण है—

'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।'

सूर्योपलक्षित अर्चिरादिमार्ग से जाकर साधक सत्यलोक में विद्यमान ब्रह्म के पास जाता है। ये सभी मुक्तियाँ श्रौतस्मार्त और सदाचारप्राप्त कर्मों का

फल होने से अनित्य और सातिशय हैं। इसीलिए स्थानवाचक पदों से इनका निर्देश है। ज्ञान का फल निरतिशयानन्दलक्षण कैवल्य है। **केवलस्य भावः कैवल्यं धर्म्मिमात्रावस्थानम्।** यह पञ्चमी मुक्ति है जिसे महामुनि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में कहा है—

'स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः।'

वृत्तिसारूप्य के हट जाने पर चैतन्यशक्ति की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा ही कैवल्य मुक्ति है। इसमें यह तैत्तिरीय श्रुति प्रमाण है—

'य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छति। अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति।'

यहाँ केवल श्रौत-स्मार्त कर्म करने वालों के लिए चन्द्रलोक की प्राप्ति कही गयी है। 'य एवं विद्वान्' से प्रतीक आदि तीन तरह की उपासना करने वालों के लिए आदित्यलोक की प्राप्ति कही गयी है जिससे सालोक्य आदि तीन मुक्तियों को समझना चाहिये। जो ब्रह्मज्ञानी कर्म और उपासनाओं से प्राप्य सूर्य-चन्द्र की महिमा जीत लेता है वह निरतिशय ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है, इस तरह कैवल्यमुक्ति कही गयी है।

उपासना के रहस्य को गुरुमुख से समझकर स्वशरीर से अभिन्न श्रीचक्र की भावना करके सावरण देवता का मन्त्र-संस्कारों से सम्यक् शुद्ध द्रव्य से अर्चन करते हुए निर्विकल्पक वृत्ति के द्वारा सारी कामनाओं की प्राप्ति को कह कर सातवाँ मन्त्रवर्ण उपासना को धर्म के रूप में विधान कर रहा है। अंशत्रयविशिष्ट भावना (फल के लिए व्यापार) ही धर्म है। यहाँ चिद्रूपिणी भगवती से अभिन्न आत्मविषयकवृत्ति ही फलभाव्यकभावना का करण है जैसे स्वर्गभाव्यकभावना का करण 'स्वर्गकामो यजेत' आदि में भावार्थाधिकरण न्याय से याग है। संस्कारपूत परिस्रुत आदि द्रव्य के आश्रित कल्पप्रोक्त यावत् क्रिया-कलाप इतिकर्तव्यता हैं। पररूपोपासना का विधान करके आठवें मन्त्र में सूक्ष्मरूपोपासना का विधान है। यहाँ पञ्चदशाक्षरीमन्त्र का उद्धार है। यही विद्या कामराज से उपासित सर्वप्रधानभूत है। नवें मन्त्र में लोपामुद्रा से उपासित विद्या का उपदेश है जिसके उपासन का फल भी मुक्ति के रूप में कहा गया है—**अमृतत्वं भजन्ते।**

अन्तःस्थित गुण के रूप में चिन्तित मूलदेवता को बहिश्चक्र में स्थापित करने के लिए स्थूलोपासना का विधान दसवें मन्त्र में है। ग्यारहवें मन्त्र में कामकला का ध्यान कहा गया है जिसके विषय में पर्याप्त चर्चा कर दी गयी है। बहिर्यागीय पञ्च द्रव्यों का उपदेश बाहरवें मन्त्र में है तथा देवता के सगुण रूप का ध्यान तेरहों मन्त्र में है। कामेश्वर और कामेश्वरी त्रिपुरा के समप्राधान्य का कथन चौदहवें मन्त्र में है। शक्ति और शक्तिमान् का तादात्म्य इससे द्योतित होता है। अन्त में फलोत्पादनप्रणालीकथनपूर्वक उपासना के चरम लक्ष्य को कहा गया है। अन्तःकरण के द्वारा जीव की जायमान संकोचावस्था जब समाप्त हो जाती है तब वह स्वान्तर्यामिपरमात्मदृष्टि हो जाता है। जीवात्मा वस्तुतः अपने अन्तर्यामी आत्मा से अलग जीवात्मदृष्टि नहीं रहता। वह विश्वरूप अर्थात् विश्वशरीरक ब्रह्म को निजात्मरूप से समझने लगता है, यह अभिप्राय है। इस तरह इस उपनिषद् में निःश्रेयसोपयोगिनी सकल सामग्री सन्निहित सिद्ध हो जाती है। याथातथ्यतः प्रणाली को श्रीभगवत्कृपाप्रयुक्तगुरूसक्तिद्वारा सतत अनुचिन्तन से ही समझा जा सकता है। इति शिवम्।

विदुषां वशंवदः
कमलाकान्त त्रिपाठी



सम्पादकीयम्

उमासहायं विश्वेशं ससुतं स्फीतविग्रहम् ।
मायाबन्धाद् विमोक्षाय प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।१।।

अज्ञानतिमिरध्वंसकौतूहलसमन्विताम् ।
प्रज्ञासंवर्धनोद्विग्नां वन्दे गुरुपदद्वयीम् ।।२।।

अथेयं भाष्यद्वयोपेता त्रिपुरोपनिषद् विपश्चिज्जनप्रमोदाय विशेषतः श्रीभास्कररायकृतभाष्यनिगूढाकूतप्रकटीकरणचातुरीसनाथभाषाव्याख्यानभूषिता भूषितौघत्रयीव प्राकाश्यमुपनीयत इति परिनिर्वृतं मदीयं स्वान्तम्। प्रमाणान्तरानवगतमर्थमवबोधयदिह शास्त्रं नः प्रमाणं भवति। श्रुतिस्तत्तत्फलोद्देश्यकानि कर्माणि विदधती तानि धर्मपदवाच्यतां नयति। वेदबोधितेष्टसाधनकत्वस्यैव धर्मत्वात्। अस्यामुपनषदि भगवत्यास्त्रिपुराया उपासनं सप्रकारं विशेषतोऽपवर्गफलाय प्रतिपाद्यत इति धर्मप्रतिपादिकैव सा। उपासनाय चोपास्यस्वरूपपरिज्ञानमप्यपेक्ष्यत इति परदेवताया महिमानमावेदयन् निगम आगमश्च वास्तविकमपेक्षितञ्च तत्स्वरूपमेव प्रतिपादयति। तद्वेदनञ्च नर्तेऽपेक्षितसामर्थ्यात् संभवति। अपेक्षितस्य योग्यतारूपस्य सामर्थ्यस्यैव सम्पादनाय सर्वाणि विद्यास्थानानि शास्त्रपदवाच्यानि विलसन्ति। प्राक्तनजन्मसमुपार्जितपुण्यवैभवोऽप्युचितं परदेवतोपासनानुगुणञ्च कुलस्वभावजातं प्रयच्छति येन ना विषयपराङ्मुखो भूत्वा निदिध्यासन-वर्त्मनि प्रवणायमानमना भवति। अन्यथा विषयेषु सीदन्मनः कथं शिष्टजनक्षुण्णे मार्गे प्रवर्तेत? प्रवर्तेत च विविधानर्थसंपृक्तेषु कुमार्गबहुलेषु विषयव्रातेषु। भूयांसो हि जना विषयरसगवेषणव्यापृतधियो भवन्ति। विदाङ्कुर्वन्तु प्रथमन्तावत् संस्कृतवाङ्मयसमृद्धिं निःश्रेयसायैव विकसत्सुप्रसाराम्। स्वकीयालौकिकच्छायासम्भृता निगमाः सन्ति सहस्रशः शाखासु प्रविभक्ता मन्त्रब्राह्मणोभयसमाख्याभूषितकलेवराः साङ्गाः सरहस्या यदर्थनिश्चयाय च नैकमनीषिप्रज्ञाप्रसूतभाष्यव्याख्यानपल्लवितकुसुमित-फलितविग्रहा मीमांसाद्वयी। तेषामेव संरक्षणायाऽऽन्वीक्षिकी न्यायविद्या योगशास्त्रं सांख्यञ्च। सम्भवद्वेदमूलका एव षट्त्रिंशदृषिप्रोक्ताः स्मृतिनामानो धर्मशास्त्रनिचया

यथायथं मनीषिव्याख्यानोपबृंहिताश्च सन्ति येषु लोकतन्त्रपोषका वैपरीत्यमादधति। अष्टादश पुराणानि चोपपुराणानि रामायणं महाभारतञ्च शिवदिप्रोक्ता आगमा अपि सन्ति सहस्रशः। सकलधर्मशास्त्रेषु विप्रतिपत्ति-निरासाय पदवाक्यप्रमाणज्ञैराप्तपुरुषैर्विरचिता निबन्धग्रन्थाश्च विलोक्यन्ते चतुर्वर्गचिन्तामणिपराशरमाधववीरमित्रोदयकालमाधवनिर्णयसिन्धुधर्मसिन्धुभगवन्त-भास्करकृत्यसमुच्चयकृत्यामृतमदनरत्ननवरात्रप्रदीपप्रभृतयो याँश्च शिरसा गृह्णन्ति मनीषिणः। पूर्वोत्तरमीमांसयोः प्रस्थानभेदोऽपि नैकविधः। पूर्वतन्त्रे भाट्टप्राभाकरनामभ्यां सह श्रीमुरारिमिश्रस्य तृतीयः पन्थाः। अत्र व्याख्यानोप-व्याख्यानबाहुल्यम्। भाट्टप्रस्थानेऽपि सोमेश्वरसूरिपार्थसारथिमिश्रकृत-प्रस्थानभेदः। अत्र मण्डनमिश्रसुचरितमिश्रभवदेवखण्डदेवप्रभृतीनां स्पृहणीया ग्रन्थाश्चकासति विदुषां मनांस्यावर्जयन्ति च। प्राभाकरमध्वानं समाश्रित्य शालिकनाथभवनाथमिश्रप्रभृतयो नैकानि ग्रन्थरत्नानि व्यरीरचन्। परःशता प्रकरणग्रन्था अत्र सन्ति। उत्तरमीमांसायां वेदान्ताभिधानायामपि प्रस्थानभेदा अनेके सन्ति। शाङ्करप्रस्थानेऽपि विवरणादिप्रस्थानभेदो यत्र बहवो ग्रन्था मनीषिणां विराजन्ति। शारीरकसूत्राण्यधिकृत्य श्रीमद्भगवद्रामानुजवल्लभा-चार्यनिम्बार्कमध्वप्रभृतिभिराचार्यैं र्भाष्याणि कृतानि यत्रानेकानि व्याख्यानोप-व्याख्यानानि सन्ति विदुषां व्युत्पत्तिविकासाय मनःसमाधानाय च। श्रीमता साक्षाद्भगवता गीतां गीतामेव विलोकयन्तु यत्र व्युत्पत्तिशालीनि मान्यानां श्रीभगवत्कल्पानामाचार्याणां भाष्याणि तदुपरि च तथाविधानामेव सुमनसां टीकाप्रटीकाप्रभृतयो ग्रन्थाः सन्ति। सत्स्वपि तत्र तथाविधेषु स्पृहणीय-व्याख्यानेषु शास्त्रपरिचयविधुराणां मूर्खाणां चेतास्याक्रष्टुं क्षुद्र-जनानामपि भाषासुच्छर्दिता अभिप्रायशून्या व्याख्यानाभासा अपि शिष्टजनमनःक्षोभं वितन्वन्ति। सर्वं सम्भाव्यते ह्यत्र लोकतन्त्रे। यत्र वेदेऽपि सत्स्वपि सायणोव्वटमहीधरादिविपश्चित्तल्लजव्याख्यानेषु क्षुद्राणामपि भाषायामुप-निबद्धा भाष्याभासा वर्षासु भेका इव केवलं मनःक्षोभाय विलोक्यन्ते। तान्येव वस्तुतो भाष्याणीति भ्रमो भूयिष्ठकल्पानां मा भूदिति धर्मसम्राट्पदवी-समलङ्कृताः स्वामिवर्याः सकलयतिवृन्दचूडामणयः श्रीमत्कर-पात्रपदप्रवाला वेदार्थपारिजाताभिधं महाग्रन्थमेव यजुर्वेदभूमिकाव्याजेन व्यरीचरन् यं विलोक्य समे शिष्टा मन्त्रमुग्धा इव दरीदृश्यन्ते। सर्वेषां पाश्चात्यानां विशेषतः श्रीदयानन्दस्य भाष्यं तत्र टङ्कितं मतजातञ्च शब्दानारूढं वेदसमुद्भूतैरेव तर्कैस्तथा विखण्डितं श्रीस्वामिपादैर्यथा भ्रमभूधरः प्रक्षोद इव

विशीर्णतामुपगतः। सहृदयहृदयेषु च तैस्तदीयग्रन्थाभासतुच्छताऽपि प्रकटिता। खण्डनं कथं भवतीति खण्डनग्रन्थं श्रीहर्षप्रणीतं विलोकयन्ति सुधियः किन्तु याथातथ्यतःखण्डनप्रकारान् वेदार्थपारिजातादेव जानन्ति। साम्प्रतं युगे मन्ये मत्स्यावतारोऽपर इव करपात्ररूपेण साक्षान्नारायण एव वेदानुदधरदिति। वेदान्यथाकरणव्याजेन सनातनधर्मविदूषकहृदयेषु दीर्घशङ्कुर्निखातस्तै र्योऽद्यापि न बहिर्निःसरति। श्रीविद्यामधिकृत्य यत् कार्यं व्यधायि तैस्तेनाधमर्ण एव सकलोपासकलोकः। एवंविधमहापुरुषपदसरोजयोः परःसहस्रप्रणतयो नः सन्ति। विद्यास्थानेषु ये सदाचाराः सन्ति तानेव कवयः स्वप्रतिभया वैलक्षण्येन सहृदयहृदयप्रतिष्ठितेषु काव्यरत्नेषु टङ्कन्ते। सन्ति चात्र श्रीवाल्मीकि-व्यासव्यतिरिक्ता अपि कालिदासबाणभट्टभारविभासमाघप्रभृतयः महाकवयो लोकोत्तरवर्णनानिपुणा येषां काव्यानि त्रैलोक्यं विभूषयन्ति। काव्यतत्त्वगवेषका आनन्दवर्धनाभिनवगुप्तमम्मटभट्टसदृक्षाः सुमनसः सन्ति ये कीर्तिख्यापन-प्रवणाभिः कृतिभिर्भारतराष्ट्रस्य गौरवं विवर्धयन्ति। एवं महासमृद्धं नो वाङ्मयं कति पठन्ति पाठयन्ति च? सर्वस्यैव पूर्वोक्तस्य वाङ्मयस्य तदुपगामिनो भाषानिबद्धस्य सहस्रगीतिश्रीरामचरितमानसादेश्च निःश्रेयसोपायभूतासूपा-सनास्वेव साद्गुण्याधायकत्वम्, न तु लौकिकक्षुद्रस्वार्थपरिबृंहणविधायित्वम्। सर्वेष्वेतेषु सुसंस्कृतवाङ्मयेषु लौकिकभौतिकपदार्थान्वेषणं कस्तूरीमृगप्रायवने श्रृगालगवेषणमिव प्रतिभाति।

वैदिकीमेवापासनामुपास्यस्वरूपञ्चागमाः स्मृत्यधिकरणन्यायेन विस्तरशः प्रतिपादयन्ति। श्रुतिमूलकत्मेवागमानां प्रामाण्यमिति नयविदः। साम्ब-पञ्चाशिकास्पन्दकारिकादुर्वासस्तोत्रजातविरूपाक्षपञ्चाशिकासांख्यकारिकाप्रभृतयो ग्रन्था अपि श्रुतिमूलाः प्रामाणिकत्वेन स्वीक्रियन्ते। अनेकासु वेदशाखासु विप्रकीर्णानिवार्थान् भगवाञ्जामदग्न्यः कल्पसूत्ररूपेणाविर्भावायाञ्चकार। अन्येष्वपि तन्त्रग्रन्थेषु श्रुतिमूला एवेतिकर्तव्यतानिचया विराजन्ति। इयं प्रकाशनीयोपनिषदपि तेषां ग्रन्थानां मूलत्वेन विभातीति श्रीभास्करराय: स्वीयव्याख्याने व्यनक्ति। सर्वविद्याविद्योतितस्वान्ताः परदेवतोपास्ति-परप्रकाशितप्रत्यगात्मतत्त्वाः श्रीभास्कररायपादाः कियत् पाण्डित्यं तन्त्राध्वनि विदधतीति तदीयाः स्पृहणीयाः कृतय एव कथयन्ति। स्वकीयव्याख्याने ते पूर्वोत्तरमीमांसागतन्यायसंचारणकुशलाः सन्ति। अस्फुटा पदार्था न्यायबलेन सुस्फुटा भवन्तीति निबन्धकर्तारो न्यायसंचारपुरःसरं व्याख्यान्ति व्याख्यातव्यान् विषयान्। श्रीमाधवाचार्यकमलाकरभट्टानन्तभट्टविज्ञानभिक्षु-

प्रभृतयो विपश्चितः प्रायेणाऽत्र परिगण्यन्ते। श्रीमन्तो भास्कररायाअपि तेषु मध्ये निविष्टा दरीदृश्यन्ते सर्वज्ञकल्पा इव प्रतीयन्ते च। यद्यप्यस्यामुपनिषदि श्रीरामानन्दतीर्थपादानां नानाश्रौतरहस्यप्रकाशकं भाष्यमपि प्राकाश्यमानीयते यस्य लाभं विशेषतो व्युत्पत्तिमन्तो ग्रहीष्यन्ति। मन्ये सकलरहस्यजातं निहितं तत्र समस्तीति। मीमांसान्यायसञ्चारपद्धत्या श्रीभास्कररायाणां भाष्यमस्तीति तत्स्फोरणाय पण्डितप्रवरश्रीकमलाकान्तत्रिपाठिमहोदयैस्तत्र भाषायां संवलितं व्याख्यानं व्याधायि। नूनं तदीयश्लाघनीयप्रयासेन जिज्ञासूनामुपकारो भावीति विश्वसिम्यहम्। देवताविग्रहादिस्वीकारेण तदीयप्रसादेन फलप्राप्तिरिति राद्धान्तयत्युत्तरतन्त्रम्। चक्राधिराजोपासनमस्यामुपनिषदि व्यक्तं परमफलावाप्तिसाधनत्वेन। परमधर्मत्वं तस्य तेन प्रतीयते।

श्रीललितासहस्रनामफलश्रुतावयं श्लोको वदति प्रसादमेव श्रीभगवत्याः—

'सद्यः प्रासादं कुरुते तत्र सिंहासनेश्वरी ।
चक्राधिराजमभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम् ।।

जपान्ते कीर्तयेन्नित्यमिदं नाम सहस्रकम् ।
जपपूजाद्यशक्तोऽपि पठेन्नामसहस्रकम् ।। इति।

अत्र श्रीभास्कररायो यावज्जीववाक्येन प्राप्तस्य कालसामान्यस्य कालविशेष उपसंहारवाक्यममन्यत। सामान्यविधिरस्पष्टः सन् विशेषविधिनोपसंह्रियत इति सिद्धान्तः। यथा—'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इति विधिना सामान्यतः प्राप्तस्य परोडाशचतुर्धाकरणस्य 'आग्नेयं चतुर्धाकरोति' इत्यनेन पुरोडाशविशेषरूपाग्नेय उपसंहारो भवति। चक्राधिराजपूजनं कृत्वा नित्यत्वेन प्राप्तस्यात्रैवोपनिषदि प्रतिपादितस्य पञ्चदशाक्षरीमन्त्रस्य जपं विधाय चान्ते सहस्रनाम्नां सङ्कीर्तनं विधेयमिति वचनव्यक्तिर्निष्पद्यते। यद्येवं तर्हि 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति वाक्येन बृहस्पतिसवस्य वाजपेयेन यथाऽङ्गाङ्गित्वमङ्गीकृतं प्रकरणपाठात् तथैव कीर्तनं श्रीचक्रपूजनस्याङ्गं भवेत्। तथा सति नामसङ्कीर्तनं फलविशेषाय स्वीकृतं पुरुषार्थं न भवेत् तथा नित्यकर्मत्वस्य व्यवस्थाऽपि नोपपद्यते। अस्य समाधानायाचार्यवर्यो द्वितीयं न्यायं सञ्चारयति—

'दर्शपूर्णमासाभ्यां सोमेन यजेत' इतिवत् कालार्थः संयोगः।' इति।

प्रकृतो ज्योतिष्टोमयागः स्वर्गफलायाऽन्यत्र विहितोऽस्ति, अतोऽसौ

दर्शपूर्णमासयोरङ्गं न भवितुमर्हतिः। दर्शपूर्णमासयोरप्यत्र फलाय विधानमस्ति तेन च तावपि ज्योतिष्टोमस्याङ्गतां नोपेतुं क्षमौ। एवञ्चात्र कालार्थः संयोगो भवति दर्शपूर्णमासकालपश्चाद्भावी ज्योतिष्टोम इति। अत्र श्रीभास्कररायस्तत्रत्यां युक्तिं प्रस्तौति—

'अर्चनजपकीर्तनानां प्रत्येकं विधिभिः फले विनियोगेन कृतार्थत्वात्।' इति। एवञ्चात्र नाङ्गाङ्गित्वम्। तथा सति पूजनजपन्यासकालादनन्तरमेव श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रपाठः कर्तव्यो भवति। प्रकृतग्रन्थेऽपि ते मीमांसान्यायसमालम्बनेन गूढपदार्थजातमवगमयन्ति। भाषाव्याख्यायामाचार्यवरेण वितत्य तत् सर्वं प्रत्यपादीति पुनर्मया न वितन्यते।

श्रीभास्कररायदीक्षिताः

श्रीत्रिपुरोपनिषदो भाष्यकर्तारस्तथाऽनेकग्रन्थनिर्माणप्रदर्शिताप्रतिमशेमुषीकाः श्रीभास्कररायदीक्षिताः कर्णाटप्रान्तान्तवर्तिबीजापुराभिजना यात्राप्रसङ्गाद्-भागानगरे (साम्प्रतिके हैदराबादे) जनिं जगृहुः। एतेषां पितृपादाः श्रीगम्भीररायदीक्षिता आसन्। मातुर्नाम कोनमाम्बाऽऽसीत्। श्रीगम्भीररायदीक्षिता बीजापुरनगरे तात्कालिकयवनाधिपस्य सचिवा आसन्। तेऽपि विविधविद्यापरिष्कृतस्वान्ता देवतोपासका ग्रन्थकर्तारश्चाऽऽसन्। सकलसंस्कारसहकृतानेकशास्त्रपरिशीलनपरिष्कृतमतीनां विहितपरदेवतोपास्तिततीनां श्रीभास्करसयमखिनामुपनयनसंस्कारो वाराणस्यां निष्पन्नः। अधीतिस्तु लोकापल्लीनिकेतजुषां सर्वविद्याधराणां श्रीनृसिंहाध्वरिपादानां सन्निधानेऽभूत्। श्रीस्वामिशास्त्रिनामा किलैतेषां गुरुपुत्र आसीत्। अनयोः सहैव विद्याधिगमः संश्रूयते। उभयोः परिश्रमेण जायमानः पूर्वमीमांसावादकुतूहलाभिधो ग्रन्थो वर्तते यस्य हस्तलेखः सरस्वतीभवनग्रन्थागारे तिष्ठति। श्रीभास्कररायमखिनां विद्याविषये तदीयशिष्यस्य श्रीजगन्नाथपण्डितवर्यस्याऽयं श्लोको दृश्यते भास्करविलासाभिधे काव्ये—

'स बालभावे जनकोपदिष्टसारस्वतोपासनया नयाढ्यः ।
विद्याः समस्ताः सकलाः कलाश्च विनापि यत्नेन वशीचकार।।' इति।

एतेषां न्यायशास्त्रपरिशीलनं श्रीगङ्गाधरवाजपेयिसकाशात् तथा साहित्यशास्त्रचिन्तनं श्रीरुक्मणणापण्डितादभूत्। एतेने निश्चीयते यत्तेषामन्येऽपि गुरव आसन्निति।

श्रीविद्यासम्प्रदायनिबन्धना अनेकाः कृतय एतेषामाचार्याणां चकासति जगतीतले। श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रीयं सौभाग्यभास्कराभिधं तदीयसर्वज्ञ-कल्पताद्योतकं भाष्यम्, वामकेश्वरतन्त्रस्य सेतुबन्धसमाख्यानभूषिता टीका, वरिवस्यारहस्यम्, कौलत्रिपुराभावनोपनिषदां भाष्याणि तृचभास्करप्रभृतयश्च ग्रन्था विलसन्त्येतेषाम्। विविधसूचीपत्रेभ्य एतेषां षट्सप्ततिसंख्याका ग्रन्थाः सन्तीति निश्चीयते। एते श्रीनृसिंहाध्वरिगुरुभिः संप्रेषिताःसूर्यपुरनगरमुपेत्य परमोपासकेभ्यः साक्षात्कृतपरदेवतातत्त्वेभ्यः श्रीशिवदत्तशुक्लपदप्रवालेभ्यः पूर्णाभिषेकसंस्कारतः परिपूर्णा इवाजायन्त। एतैः स्थले स्थले शास्त्रार्थो राजसम्माना विजयश्रीश्च समासादिता। एतेषां जीवनावधिकालः १६७५ ख्रीस्ताब्दादारभ्य १७६८ पर्यन्त आसीत्। प्रामाणिकानां विदुषामेष निर्णयः।

श्रीरामानन्दतीर्थयतिवराः

प्रकृतां श्रीत्रिपुरोपनिषदं निजविस्तारबहुलभाष्येणानुगृहीतवतां श्रीरामा-नन्दतीर्थपादानां गुरवः श्रीराघवानन्दतीर्थयोगीन्द्रपदप्रवाला आसन्। प्रायः सार्धशतकाच्छतकद्वयाद् वा प्राग् विरचितं तदीयमत्रत्यभाष्यमिति यथा प्राप्तप्रमाणैरवगम्यते। एते चोलद्रविडप्रान्ते कृतनिवसतय इति निश्चीयते। एतेषां यतिवराणां प्रकृतोपनिषद्भाष्यमतीव महिममण्डितम्। श्रीशङ्करा-चार्याणामद्वैतसिद्धान्ते शेमुषीदार्ढ्यादिमे वेदान्तसिद्धान्तमनुसरन्तः शक्ति-तत्त्वमपि तथैव व्याख्यान्ति। अस्मिन् विषय एतेषां भूयान् परिश्रमः श्लाघनीयो वर्तते। उदाहृत्य निगमागमग्रन्थानेते तदीयव्याख्याने प्रवृत्ता दृश्यन्ते। सौन्दर्यलहरीटीकाकारस्य श्रीलक्ष्मीधरस्यापि यद्विषये व्याख्यानं नास्ति तद्विषय एतेषां व्याख्यानमस्ति। व्याख्याकौशलं तथैतेषां परिस्फुरति। एते महानुभावा अप्युदाहृतवेदव्याख्याने न्यायमालम्बन्ते। तथा हि—

'अश्रृतास श्रृतासश्च यज्वानो येऽप्ययज्वनः स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते।'

इतिवचनव्याख्यानावसरे चक्रविद्योपासने शूद्राधिकारसमर्थनाय निषाद-स्थपत्यधिकरणोक्तन्यायमाललम्बिरे। अत्र तेषां सर्वं व्याख्यानमेवं समुल्ल-सति—

'अश्रृतासः अपक्वा अक्षपितान्तःकरणकल्मषा इत्यर्थः। श्रृतासश्च पक्वाश्च। आज्जसेरसुगित्यसुगागमः। क्षपितान्तःकरणकल्मषा इत्यर्थः। अज्वानो यजनशीलास्त्रैवर्णिका आश्रमिणश्च। अयज्वनो यागरहिताः

शूद्रादयः। तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त इति श्रुतिस्त्रैवर्णिकैकनियताधिकार-यज्ञशब्दवाच्याग्निष्टोमादिपरा। चक्रविद्योपासने शूद्राणामप्यधिकारचोदनाद् निषादस्थपितवद् वैदिके कर्मण्यधिकारसिद्धेर्न काचित् क्षतिः। 'यन्तः' इण् गतौ। चक्रविद्यामवगन्तारः स्वः स्वर्गं नापेक्षन्ते।' इति।

अत्र 'अयज्वनो यागरहिताः शूद्रादय' इतिवचनमपशूद्राधिकरणन्यायं स्पृशत्येव। स्वर्गं नापेक्षन्त इत्यनेन निःश्रेयसाख्यं मोक्षमपेक्षन्त इत्यर्थबलेनायं सिद्धान्तो हृदि स्फुरति—

'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं तु विमलीकुर्वन्नभ्यासेनैव पाचयेत् ।।
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।।' इति।

चक्रविद्याभ्यासश्च कैवल्यसाधनत्वेन नित्यकर्मान्तर्गत इति तात्पर्यं स्फोरयन्त्येते स्वीयव्याख्यानकौशलेनेति तद्भाष्यमप्यतीवोपयोगि जिज्ञासुजनायेत्युभयभाष्यसंवलितत्रिपुरोपनिषत्संपादनेन कृतकृत्यतामनुभूय श्रीदेवतायाः पदकञ्जयोरपचितिमुपरचय्य विरमामि। प्रयासोऽयं विपश्चिज्जनतोषाय भवत्विति शम्।

विदुषां विधेयः
क्षितीश्वरनाथ पाण्डेयः
वरिष्ठ प्राध्यापक
ब्रह्मर्षिसंस्कारधाम, नडियाद (गुजरात)

विषयानुक्रमणिका





श्रीत्रिपुरोपनिषद्

॥ श्रीः ॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः ।
अधिष्ठायैनामजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ।।१।।

श्रीराघवानन्दतीर्थयोगीन्द्रशिष्यश्रीरामानन्दतीर्थविरचितं भाष्यम्

शोणप्रभं सोमकलावतंसं पाणिस्फुरत्पञ्चशरेक्षुचापम् ।
प्राणप्रियं नौमि पिनाकपाणेः कोणत्रयस्थं कुलदैवतं नः ।।१।।

घ्राणायुष्करबाणां रसनाजीवननिदानचापलताम् ।
पाशाङ्कुशाङ्कितकरां प्राणकलां नौमि पञ्चवक्त्रस्य ।।२।।

दीव्यन्तौ तमसः पारे स्त्रीपुंसौ व्यक्तविग्रहौ ।
जगतः पितरावाद्या उपासे दिव्यदम्पती ।।३।।

त्रयी-सीमन्तसिन्दूर-रञ्जित-श्रीपदाम्बुजौ ।
परब्रह्ममहामञ्चनिविष्टौ भावये शिवौ ।।४।।

ययोरुपासनं पुंसां प्रेयःश्रेयःप्रयोजनम् ।
जगत्कुटुम्बप्रथितौ दम्पती प्रणमामि तौ ।।५।।

समकालोदितानेकसूर्यमण्डलभास्वरम् ।
मिथः सदा परिष्वक्तमिथुनं किमपि श्रये ।।६।।

शृङ्गारसान्तसर्वस्वं शृङ्गारितपरस्परम् ।
चिरन्तनं स्वप्रतिष्ठं चिन्तये मिथुनं मिथः ।।७।।

नत्वा श्रीराघवानन्दतीर्थयोगीन्द्रपादुकाम् ।
त्रिपुरोपनिषद्भाष्यं क्रियते तत्कृपाबलात् ।।८।।

श्रीशङ्कराचार्यकृतान् प्रबन्धान् सौभाग्यविद्या-सुभगोदयादीन् ।
पुनः पुनः साधु विचिन्त्य बुद्ध्या तदध्वना भाष्यमिदं करोमि ।।९।।

धीमन्तोऽभीष्टसाधने प्रवर्तन्ते, अनिष्टसाधनात् निवर्तन्ते, तदुभयभिन्न-मुपेक्षन्ते। इष्टत्वादितारतम्यात् प्रवृत्त्यादेरपि तारतम्यं भवति। आत्मा चेष्टतमः तदात्मलाभान्न परं विद्यते। तथा च बृहदारण्यके—[१]'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्, अन्तरतरं यदयमात्मा', 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति।

अन्यत्राऽपि—'तरति शोकमात्मवित्', 'ज्ञात्वा तन्मृत्युमत्येति', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः', 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति', 'ईशानं ज्ञात्वा मृत्युपाशाञ्छिनन्ति', तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति', 'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति', 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति', 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' इत्यादिना आत्मवेदनं अमृतत्वप्राप्ति-हेतुरित्यभ्यधायि।

आत्मवेदनं तु ब्रह्मविद्यैव,

'अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्।
ययाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषमुपैति विद्वान्।।'

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम', 'तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मवित् यस्मात् सर्वमभवत्', 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्', 'आत्मविद्या तपोमूलं सर्वं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम्', 'विद्ययाऽमृतत्वं विन्दते', इत्यादि श्रुतिभ्यः।

विद्या द्विविधा—परा अपरा चेति। अपरा कर्मकाण्डविषया, परा ब्रह्मविषया। तथा च मुण्डकोपनिषदि—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यत् ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवाऽपरा च। तत्राऽपराऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते, यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्म'मिति द्विरूपत्वं काण्डद्वयविषयत्वं च विद्यायाः प्रतिपादितम्।

तत्र ब्रह्मविद्या द्विप्रकारा-स्थूला सूक्ष्मा च। स्थूला उपनिषद्रूपा, सूक्ष्मा प्रणवरूपा। स्थूलायाः प्रतिपादकत्वेन ब्रह्मविद्यात्वं गौणम्। सूक्ष्मायाः प्रतिपाद्यत्वेन

---

१. पराविद्यायाः श्रीविद्यायाश्चैक्यं स्थापयितुमुपनिषद्वाक्यानि निर्दिशति।

ब्रह्मविद्यात्वं मुख्यम्। तथाहि- 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्।'

'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येऽवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।'

'एतद् वै सत्यकाम परं चाऽपरं च ब्रह्म यदोङ्कारः', 'तदेकधा समभरत्, तदेतदोमिति', 'ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्', 'ओङ्कार एवेदं सर्वम्', 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्', 'स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्', 'ओमित्येतदक्षरम्'। इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति', 'सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः'। 'एवमोङ्कार आत्मैवम् ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यमित्येतदक्षरं परं ब्रह्म सर्वध्यानयोगज्ञानानां यत् फलम् ओङ्कारो वेद। पर ईशो वा शिव एको ध्येयः शिवङ्करः' इति प्रणवस्य प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मविद्यात्वं मुख्यम्। उपनिषदां प्रतिपादकत्वेन ब्रह्मविद्यात्वं गौणमिति सर्ववेदेषु श्रूयते। सूतसंहितायामपि—

'प्रणवं सम्प्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
परापरविभागेन प्रणवस्तु द्विधा मतः ।।

परात् परतरं ब्रह्म प्रज्ञानन्दादिलक्षणम् ।
प्रकर्षेण नवं यस्मात् परं ब्रह्म स्वरूपतः ।।

अपरः प्रणवः साक्षात्, छन्दोरूपः सुनिर्मलः ।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात् प्रणवः स्मृतः ।।

परमप्रणवप्राप्तिहेतुत्वात् प्रणवोऽथवा ।' इत्यादि।
'अजायन्त क्रमेणैव कोटिसूर्यसमप्रभाः ।
अकारश्च तथोकारो मकारश्चेति सुव्रताः ।।

तानेकधा समभरदज ओमिति स प्रभुः ।
तस्मिन्नेव शिवः साम्बः सर्ववस्त्ववभासकः ।।

प्रतिबिम्बितवांस्तेन प्रणवस्तस्य वाचकः ।।' इति।

अयं भावः—सत् एकम् अद्वितीयं भूमानन्दं यत् आत्मतत्त्वम्, तत् सर्वदाप्येकमेव। तत् पुनः अविद्यादशायां स्वात्मकल्पितमायासंवेशात् अव्यक्तताख्यं

बीजं सत् सूक्ष्मं वटबीजमिव सूक्ष्मा-परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-महामूलदृढम्, अनेकार्थं नानाधातुपार्श्वोपमूलं नानाशाखाभेदभिन्नं सर्वमूलप्रमाणस्वतः-प्रमाणचतुर्वेदमहाप्रकाण्डं शिक्षादिषडङ्गमहाशाखं स्मृतीतिहासाऽऽगम-विस्तृतनानोपशाखं तर्कयोगसाङ्ख्यशास्त्रकोटरभीषणं नानापुराणपत्रसुच्छायं काव्यनाटकप्राकृतपैशाचादिनानाभाषाकिसलयरमणीयम् अनेकपाखण्डशास्त्रपाण्डुपत्रं धर्मशास्त्रबहुमुकुलम् उपासनाशास्त्रकुसुमस्तबकं 'सुखो अहम्' इति निरन्तर-शब्दायमानदेवतिर्यङ्नानापक्षिनिबिडचतुर्दश-भुवननीडजालं शब्दादिविषयजीवनं पञ्चमहाभूतबद्धवेदिकं सप्तकोटि-महामन्त्रसिराजातं वृक्षं दर्शयित्वा स्वयं तन्मूलकारणमाह। तस्मात् पुनः स्वयमुत्पन्नमिव अस्मात् सूक्ष्मादपि अतिसूक्ष्माद-व्यक्ताद् बीजात् शब्दार्थ-प्रपञ्चात्मकोऽयं महावृक्षो जायत इति दर्शयितुम् अव्याकृतमव्याकृतम् एतेन स्वयमेव प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावमापद्यते। 'एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इत्यादि श्रुत्या परमात्मैव ओङ्कारः। स एव विद्यादशायां विचारतः ब्रह्मभावं वेत्तीति ब्रह्मविद्येति गद्यते। इदमत्राकूतम्—

'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्ये'त्यादिना स एव जीवो भूत्वा 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे', 'कतर आत्मे'ति विचारः। 'तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत् सर्वमभवत्' इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयं ब्रह्मैवाहमस्मि इति, स्वयमेव स्वात्मानं वेत्तीति ब्रह्मविद्येति गद्यत इति, तत्प्रतिपादकोपनिषदपि 'ब्रह्म वेदयती'ति गौण्या वृत्त्या ब्रह्मविद्येत्युच्यते। एषा केवलशुद्धसत्त्वाश्रयचिन्मात्ररूपा। तथा च तापिन्याम्—'अथ सामश्रवा याज्ञवल्क्यं प्रत्युवाच कथं ते भगवन्! ब्रह्मविद्यानामाख्या ब्रह्मण्याधाता सङ्ग्रहान्ममोपदिश' अथाह याज्ञवल्क्येति होवाच- 'शृणु सौम्य! अनवशिष्टब्रह्मणः सकाशात् ब्रह्मणि आस्थिता प्रकृतिरियम् अग्रे चतुर्विधा-केवला, सत्त्वप्रधाना, रजः-सत्त्वोपसर्जना, तमःप्रधाना चेति एवं चतुर्विधा, ततः चित्केवलाम् अवलम्ब्य ध्यानमुख्या ब्रह्मविद्या, तथा रजस्तमोपसर्जनसत्त्वप्रधानं स्वीकृत्य सर्वज्ञ ईश्वरो जातः। ततः तमःसत्त्वोपसर्जनं रजःप्रधानं प्रविश्य 'जीव' इति, रजःसत्त्वोप-सर्जनतमःप्रधानं ईश्वरः सङ्गृह्य जीवस्य भोग्य-भोगायतन-भोगार्थं आकाशादि-महाभूतानि कृत्वा भूतसत्त्वांशैः ज्ञानेन्द्रियाणि सत्त्वसमष्ट्या अन्तःकरणं च, तद्रजोंशैः कर्मेन्द्रियाणि च तत्समष्ट्या प्राणं च अथ भूतानि पञ्चीकरणं कृत्वा रजोपहितं प्रतिबिम्बभूतं कृत्वा, स्वयं बिम्बभूतः सन् स्थितवान्' इति। शुद्धसत्त्वाश्रयचिद्रूपा ब्रह्मविद्येत्युक्तम्। सूतसंहितायां च—

'चिन्मात्राश्रयमायायां शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः ।
अनुप्रविष्टा या संवित् निर्विकल्पा स्वयम्प्रभा ।।'

'सदाकारा परानन्दा संसारच्छेदकारिणी ।
सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी ।।'

'एषा सा साक्षिणी शक्तिः शङ्करस्यापि शङ्करी ।
शिवाभिन्ना तथा हीनः शिवः साक्षान्निरर्थकः।।'

इति परब्रह्मविद्याया एव नामान्तरं 'श्रीविद्ये'ति। तथा चोक्तं तापिन्याम्-'अथ भगवन् कथं परमहंसा ब्रूहि, का ब्रह्मविद्या? मनूनां सर्वेषां भूतानां प्रथमा श्रीविद्या। ब्रह्मविद्या वा अन्या वा? अपि आद्यपक्षो यदि ब्रह्मसदृशविद्या वा ब्रह्मैव विद्या वा? मायाधिष्ठितचैतन्यरूपशिवाभिन्ना वा तच्चैतन्यरूपा वा? द्वितीयश्चेत्, ब्रह्मविद्याया न हि ब्रह्मविद्यात्वम्। वक्तव्यम् आद्यपक्षमवलम्ब्य तत् कथम्? अथ याज्ञवल्क्यः प्रोवाच-शृणु सौम्य चरमपक्षे श्रीविद्यायाः परब्रह्मविद्यात्वं युक्तम्। आद्यपक्षे चातुर्विध्यं विकल्पितं ब्रह्मसदृशविद्या वा ब्रह्मैव विद्या वा, मायाधिष्ठितचैतन्यशिवाभिन्ना वा, तच्चैतन्यरूपा वा इति चतुर्विधा। अनन्तरं ह्याद्यपक्षे ब्रह्मसदृशा चेदौपचारिक-तया तदप्रयोजकम्। न तस्मात् ब्रह्मसदृशा भवति। द्वितीये ब्रह्मैव विद्या चेत्, असङ्गततया न हि ब्रह्मविद्यात्वम्। चरमपक्षे मायाधिष्ठितचैतन्यरूपा चेत्, ईश्वर एव, देवताऽप्येकस्य मायाधिष्ठितस्य चैतन्यस्य ईश्वरत्वं चेत्, देवतात्वं कथं वक्तव्यम्? तस्मात् तृतीयपक्षमवलम्ब्य शिवाभिन्ना चेत्, सा ब्रह्मविद्या समीचीना, सैव देवता, सा श्रीविद्येति। 'श्रीविद्यारत्नभाष्येऽपि' भगवत्पादैः श्रीविद्यैव ब्रह्मविद्येति प्रतिपादितम्। 'शृ हिंसायाम्' इति शृणाति = हिनस्ति 'ब्रह्माहमस्मी'ति अखण्डाकारवृत्तिफलकारूढं सत् कार्य-कारणात्मकं लोकप्रपञ्चं प्रविलापयतीति 'श्रीः' प्रत्यक्चितिः परमात्मा, स एव विद्यादशायां विचारतः ब्रह्मात्मभावं वेत्ति। 'कः परमात्मा को जीवः, किमिदं जगत्, कथं बन्धः, कथं मोक्षः' इति विचारः। स एव जीवो भूत्वा ज्ञातब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मभावरूपं वेत्ति, स्वयमेवाहं ब्रह्मास्मि, स एव लब्ध-प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मभावस्य इव वेत्ति। स्वयमेव नित्यशुद्धनित्यस्वभाव- ब्रह्मैव अहमस्मीति कण्ठगतचामीकरवल्लभ इति। श्रीश्चासौ विद्या चेति श्रीविद्येत्युच्यते, तत्प्रतिपादिका विद्यापि श्रियं प्रत्यक्चिन्मात्रं परमात्मानं वेदयति, विचारं कारयति, ज्ञापयति, लापयतीति गौण्या वृत्त्या 'श्रीविद्येत्युच्यते' इति। अत्र श्रीविद्यायाः परब्रह्मविद्यात्वं युक्तम्। सा ब्रह्मविद्या समीचीना। सैव देवता। सा श्रीविद्येति वक्तुर्वेदस्यायमभिप्रायः—

ब्रह्मविद्याख्य ओङ्कारस्त्रिमात्रोपेतः श्रीविद्याख्य ईकारोऽपि त्रिबिन्दूपेत इति लक्षणसाम्यात् अनयोरभेद इति।

ननु ओङ्कारस्य ब्रह्मविद्यात्वं सर्वश्रुतिसिद्धम्। ईकारस्य श्रीविद्यात्वं कुत्र दृष्टम्? इति चेत्, तदपि सर्वश्रुतिसिद्धमेव। 'तां पद्मिनीमीं शरणमहं प्रपद्ये' 'यः प्राणिति, य ईं शृणोति यदीं शृणोत्यलकं शृणोति 'य ईं चकार न सो अस्य वेद'। 'य ईं ददर्श' 'चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तः'। 'स ईं पाहि', 'स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिः' क ईं ससुते सचा, 'क ईं व्यक्त्या नरस्सनीलाः। य ईं वहन्त आशुभिः' इति श्रुतेः।

अयमर्थः—अकारो विष्णुवाचकः। तस्य स्त्री 'पुं' योगादाख्यायमि'ति ङीषि तस्यामिति अमा यथार्थानुभवः परोक्षश्रुत्या लुप्ताकारत्वेन अर्थो ग्राह्यते, 'मितेरपीतेर्वा' इति श्रुतेः। तस्मादीकारस्य श्रीविद्यात्वमिति।

किं च—ईकारनिरूपणे श्रीपर्यायनामानि श्रुतिपुराणागमेषु दृश्यन्ते। 'कामो योनिः कमला वज्रपाणिः। कामादिमन्त्रराजस्तु स्मरो योनिः श्रियो मुखम्' 'स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनोरित्येवमादीनि। किं च—श्रीविद्यामनो-राम्नायस्वरूपमुद्दिश्य, इत्युपक्रम्य 'शृणु सौम्य! ब्रह्मवाचकवस्तु प्रणवो वर्तते। स पुरा प्रपञ्चाधिष्ठानविद्या । स हि त्रिमात्रोपहितेति तापिन्यां श्रीविद्याब्रह्मविद्ययोर-त्यन्ताभेदः प्रतिपादितः। अन्योपि 'गायत्री छन्दसां माता' इत्युपक्रम्य 'अभिभूरों गायत्रीमि'ति कामकलाब्रह्मविद्ययोरभेदोऽभ्यधायि। पुनरपि ब्रह्मविद्याया अत्यन्त-गुह्यानि श्रुतिपुराणागमप्रसिद्धानि सन्ति कानिचिन्नामानि। तान्यत्र प्रकृतोपयोगितया उदाह्रियन्ते। घृतसूक्ते—

> **'श्रियं लक्ष्मीमौबलामम्बिकां गां षष्ठीं जयाम् इन्द्रसेनेत्युदाहुः ।**
> **तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपाम् उदायुषो तर्पयामो घृतेन ।।'**

इति। त्रिपुरतापिन्याम् महोपनिषदि च—'तान् सहोवाच सर्वे यूयं श्रुत्वाऽपूर्वां कामाख्यां विद्यां तुरीयरूपां सहृदयां सामृतां सकलां सेन्द्रियां सदोदितां परापराविद्यां स्फुटीकृत्वा हृदये निधाय ध्यानेऽन्वयं गमयित्वा त्रिकूटां त्रिपुरां परमां मायां श्रेष्ठां परां वैष्णवीं सन्निधाय हृदयकमलकर्णिकायां परां भगवती लक्ष्मीं सदोदितां महावश्यकरीं मदनोन्मादिनीं धनुर्बाणधारिणीं वाग्बीजगतां चन्द्रमण्डलवर्तिनीं चन्द्रकलां सप्तदशीं, महानित्योपस्थितां पाशाङ्कुशमनोज्ञपाणिपल्लवां समुद्यत्सहस्रार्कनिभां त्रिणेत्रां विचिन्त्य देवीं महालक्ष्मीं मायां सर्वलक्षणसम्पन्नां हृदये चैतन्यरूपिणीं निरञ्जनीं त्रिकूटाख्यां स्मितमुखीं महामायां देवीं सुन्दरीं

सुभगां कुण्डलिनीं त्रिपीठमहावर्त्तिनीं अकथादिश्रीपीठेशीं परां चित्कलां महात्रिपुरां देवीं ध्यायेत् महाध्यान-योगेनेति। एतेषां नाम्नां निष्पत्तिं तत्प्रकरणे विशदीकरोमि।

एषैव देवता, 'अहं रुद्रेभिः' 'पवमान' 'शन्न' इत्यादित्रिःसूक्तशास्त्र-मन्त्रोपनिषद्भिः ऋक्शाखाभिः 'गन्धद्वाराम्', 'अनन्तामन्तात्' 'चित्रावसो', 'आवहन्ती', 'प्रजापतिर्देवानसृजत', 'चरणं पवित्रं', 'इयं वाव सरघा पुत्रो निर्ऋत्या वैदेहः' इत्यादिसूक्तोपनिषन्मन्त्रब्राह्मणैः यजुःशाखाभिः श्रीनिधन-हाई-श्रीनिधनादिभिः बहुविधसामभिः यज्ञायज्ञीयगायन्तीयबृहद्रथन्तर-वाचोव्रत-पुरुषव्रतज्येष्ठसामादिभिः सोहनिधनादिविशेषेण अत्यन्तरहस्यतया प्रकाश्यते। 'एषैव उपास्येति पुराणान्यागमाश्च अनुशासति। यथा ब्रह्माण्डपुराणे अगस्त्यं प्रति हयग्रीववचनम्—

'वर्णाश्रमविहीनानां पापिष्ठानां नृणामपि ।
यद्रूपध्यानमात्रेण दुष्कृतं सुकृतायते ।।

येऽर्चयन्ति परां शक्तिं विधिनाऽविधिनाऽपि वा ।
नैते संसारिणो नूनं मुक्ता एव न संशयः ।।

शिवोऽपि यां समाराध्य ध्याननिष्ठाबलेन च ।
ईशानः सर्वविद्यानामर्धनारीश्वरोऽभवत् ।
अन्येऽब्जप्रमुखा देवाः सिद्धास्तद्ध्यानवैभवात् ।
स्वातन्त्र्याद् विश्ववैचित्र्यं दर्शयन्ति युगे युगे ।।

तस्मादशेषलोकानां त्रिपुराराधनं विना ।
न स्तो भोगापवर्गौ तु यौगपद्येन कुत्रचित् ।।' इति।

प्रायश्चित्तखण्डे बृहस्पति—

'कृतस्याऽखिलपापस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
प्रायश्चित्तमिदं प्रोक्तं पराशक्तेः पदस्मृतिः ।।

इदं च शृणु देवेन्द्र! रहस्यं परमं महत् ।
सर्वेषामपि पापानां यौगपद्येन नाशनम् ।।

भक्ति-श्रद्धा-समायुक्तः स्नात्वाऽन्तर्जलसंस्थितः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु जपेत् पञ्चदशाक्षरीम् ।।

आराध्य च परां शक्तिं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
तेन नश्यन्ति पापानि कल्पकोटिशतान्यपि ।।

सर्वापद्भ्यो विमुच्येत सर्वाभीष्टं च विदन्ति ।।'

प्रदेशान्तरे—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वलोकैकरक्षकः ।
सम्यगाराधयामास ललितां विश्वरूपिणीम् ।।

भगवानपि योगीन्द्रः समाराध्य महेश्वरीम् ।
तदैकध्यानयोगेन तद्रूपः समजायत ।।

पूजाखण्डे—

'अन्यदैवतपूजानां यस्याः पूजाफलं विदुः ।
यस्याः पूजाफलं प्राहुर्यस्या एव हि पूजनम् ।।

तस्याः श्रीललितादेव्या वर्णयामि कथां पुरा ।।' इति।

मदालसाखण्डेऽपि—

'इन्द्रस्येन्द्रत्वमेतेन मन्त्रेण ह्यभवत् पुरा ।
विष्णोर्विष्णुत्वमेतेन भानोर्भास्करताऽमुना ।।

सर्वेषामेव देवानां तास्ताः सिद्धय उज्ज्वलाः ।
अनेन मन्त्रजातेन जाता इत्यवधारय ।।' इति।

वामकेश्वरतन्त्रे—

'परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
शक्तस्तु परमेशानि! शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ।।' इति।

तत्रैव—

'एतामेव पुराऽऽराध्य विद्यां त्रैलोक्यमोहिनीम् ।
त्रैलोक्यमोहनं रूपमकार्षीद् भगवान् हरिः ।।

कामदेवोऽपि देवेशि! महात्रिपुरसुन्दरीम् ।
समाराध्याऽभवल्लोके सर्व-सौभाग्यसुन्दरः ।।' इति।

स्मृतिरपि—

'विश्वात्मिका तदुत्तीर्णा हृदयं परमेश्वरी ।।' इति।

श्रीखण्डेऽपि—

'नात्र कालः कलाभावो नैकता न च देवता ।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरु-वक्त्रं तदुच्यते ।।

शिवशक्तिरिति ख्यातं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
पश्यामि तं वरारोहे! विज्ञानातीतमद्भुतम् ।।

अविष्कलं तु सकलं नीरूपं निर्विकल्पकम् ।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम् ।।' इति।

चिदानन्दवासनायामपि—

'विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां प्रकाशामर्शरूपिणीम् ।
परापरमयीं देवीमात्मत्वेन विचार्यताम् ।।' इति।

चतु:शत्यां च—

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादित: प्रिये ।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ।।
कवलीकृतनि:शेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।।' इति।

एवं सकलजगत्कारणभूता त्रिपुरसुन्दरी ब्रह्मविद्या निखिलवेदान्तसार-भूतया त्रिपुरोपनिषदा प्रकाश्यते ।

अवतारिका

इयमुपनिषत् ऋग्वेदान्तर्गतसाङ्ख्यायनशाखायामाम्नाता। अनया आद्या शक्ति: अनवच्छिन्ना पराभट्टारिका शिवादिक्षित्यन्ता षट्त्रिंशत्तत्त्वमय-सर्वप्रपञ्चात्मिका तदुत्तीर्णा चेति सर्वोपनिषत्प्रसिद्धा त्रिपुराऽभिधीयते। एवं हि सत्सम्प्रदायविद्भि: महायोगिभि: त्रिपुराशब्दनिर्वचनं श्रूयते। कथम्? त्रिभ्यो तेजोबन्नादिभ्य: पुराभूता त्रिपुरेति। तेजोबन्नादिभ्य: पूर्वसत्त्वमेव हि सर्वतत्त्वातीतं तत्त्वं ब्रह्मण:। तद्द्वारा सर्वतत्त्वात्मकत्वं तु उपनिषदप्येतदाह। तथाहि छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके—

"श्वेतकेतुर्ह आरुणेय आस। तं ह पितोवाच। श्वेतकेतो, वस ब्रह्मचर्यम्" इति वेदाध्ययनादिरूपब्रह्मचर्यं विचार्य, आचार्य: श्वेतकेतवे अधीतसर्ववेदाय 'स्तब्धोऽसि उत तमादशम् अप्राक्षी: येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिना शिष्ययोग्यतां निश्चित्य, ब्रह्मविद्यामुपदिदेश। तत्र एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानद्वारा सर्वतत्त्वानां तन्मयत्वमुक्तम्। तत्र दृष्टान्तमाकाङ्क्षमाण: शिष्य: पृच्छति—

'कथं नु भगव: स आदेशो भवती'ति **'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इत्यादि दृष्टान्तपरम्परया ब्रह्मणो विश्वात्मकत्वं तदुत्तीर्णं चाप्युक्त्वा अनन्तरं तु

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयमि'त्यादिना विश्वातीतं वस्त्वभिधाय पुनश्च विश्वात्मकत्वमभिधत्ते।

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये'ति सङ्कल्प्य, 'तत्तेजोऽसृजत, तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजाये'ति, तदपोऽसृजत ता अन्नमसृजन्ते'ति। तेजोबन्नादि सृष्ट्वा, **'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकां करवाणि'** इति, **'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम-करोत्'** इत्यादितेजोबन्नानामहम्भावेन ब्रह्मणः पूर्ववर्तित्वम्, सर्ववस्तुपूरकत्वं तु स्वस्वरूपमित्युक्त्वा तेजोबन्नात्मकमेव देवादिस्थावरान्ततत्त्वजातमाचष्टे। 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य, अपागादादित्यादादित्यत्वम्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, यच्चन्द्रमसो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यमि' त्यादिना 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते' इत्यादि सा वागि'त्यन्तेन 'दघ्नस्सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा, स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत्सर्पिर्भवती'त्यादि अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वागि'त्येन्तेन च त्रिवृत्कृतप्रपञ्चपूरणां त्रिपुरैव परा ब्रह्मैवेत्यभिधीयते। तथा चोक्तम्—

'त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः ।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम ।।'

इति तादात्म्यलक्षणेन सामीप्येन नितरां त्रिपुराख्यां देवतां गमयित्वा, अहमादिग्रन्थीन् शिथिलीकृत्य अविद्यासंस्कारान् सादयति विनाशयतीति' त्रिपुरोषनिषत्। इयमुपनिषत् शरीरत्रयात् प्रत्यगात्मानं विभज्य, तस्य तेजोबन्नादिविविक्तपरदेवतायाम् ऐक्यं श्रीचक्रपरदेवतास्वरूपप्रतिपादनद्वारा विभजते—

श्रीरामानन्दकृतभाष्यम्—

तिस्रः पुर इति पुरस्थानानि। कति पुरः? तास्तिस्रः त्रिसङ्ख्याकाः। पूःशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् तद्व्यावर्तकस्य त्रिशब्दस्य 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ'

इतिस्त्रादेशः। पुर्यः पूर्यमाणाः, पुरःतिस्त्र इति यावत्। पदद्वयेन त्रिकोणचक्रमुपलक्ष्यते। तासां त्रिकत्वहेतुमाह—

'त्रिपथा विश्वचर्षणी'ति। विश्वं जगच्चक्रम्, तत्र चर्षणशीला सञ्चरणशीला। 'चर गतिभक्षणयो'रिति धातोः औणादिकः प्रत्ययः। विश्वसर्जनोन्मुखीति यावत्। सा यस्मात् त्रिपथा त्रयः पन्थानः यस्या इति षष्ठीबहुव्रीहिः। त्रिमार्गा त्रिप्रकारा तस्मात् पुरस्तिस्त्र इत्यर्थः। त्रिप्रकारत्वं नाम बिन्दुत्रयमात्रात्रय-तत्त्वत्रय-व्याहृतित्रय-वाक्त्रय-बीजत्रय-वेदत्रय-लोकत्रय-गुणत्रय-सन्तानत्रय-गुरुत्रय-धामत्रय-पीठत्रय-शक्तित्रय-मातृकाद्यष्टमूल-त्रिकोणरूपमित्यर्थः। विश्वसर्जनोन्मुखी ब्रह्मविद्या त्रिमुखीति तापिन्यादि-सर्वश्रुतिषु दृश्यते। यथा—अथ श्रीविद्या-मनोराम्नायस्वरूपमुपदिश्यते ब्रह्म-चारिणे शान्ताय गुरुभक्ताय यथा विद्यामनुः कस्मिन्नु भगव एतत्स्वरूपं ब्रूहीति होवाचेह शृणु सौम्य ब्रह्मवाचकस्तु प्रणवो वर्तते। स पुरा प्रपञ्चाधिष्ठानविद्यासहितत्रिमात्रोपहितः, का मात्राः? अकारोकार-मकाराः तास्तत्त्वत्रयेण परिणमन्ति। तत् कथं तत्त्वत्रयत्वम्? तस्य भावस्तत्त्वम्। तदात्मविद्याशिवनामभिस्त्रयत्वम्। अतो ह्यात्मतत्त्वमेकम्, विद्यातत्त्वमन्यत्, शिवतत्त्वं पृथक्, तानि तत्त्वानि व्याहृतयः तान्येव परा-पश्यन्ती मध्यमाः। श्रुतिगोचरा मध्यमा, द्योतितार्था हि पश्यन्ती, ध्वनिः परा चेत्येवमर्थः। पुनस्तान्येव वाग्भव-कामराज-पराबीजानीत्येवमर्थः, तान्येव ऋग्यजुः- सामानि त्वित्येवमर्थः, तान्येव त्रयो लोका इत्येवमर्थः, तानि च परा-लोपामुद्रा-कामराज-पारम्परीत्येवमर्थः, पुनस्तानि शाम्भवी विद्या श्यामेति। बृहदारण्यकेऽपि त्र्यन्नप्रकरणे ब्रह्मणः त्र्यन्नरूपत्वं त्र्यन्नानां तु ब्रह्मविजृम्भणत्वं सम्यङ्निरूपितम्। तद्यथा—त्रीण्यात्मने-ऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणः तान्यात्मनेऽकुरत अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम् इति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीधीर्भीरित्येवं सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न, प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वायमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः। त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोकः मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः। त्रयो वेदा एत एव वागेव ऋग्वेदः मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः। देवाः पितरो मनुष्या एत एव, वागेव देवाः, मनः पितरः प्राणो मनुष्याः। पिता माता प्रजैत एव, मन एव पिता, वाङ् माता, प्राणः प्रजा, विज्ञातं विजिज्ञास्यम् अविज्ञातमेत एव यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागैवैनं तत् भूत्वाऽवति यत् किञ्च विजिज्ञास्यं

मनसस्तद्रूपम्, मनो हि विजिज्ञास्यं मन एवैनं तद् भूत्वाऽवति। यत् किञ्च अविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपम्, प्राणो ह्यविज्ञातः, प्राण एवैनं तद् भूत्वाऽवति, तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः, तद् यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः। अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं, ज्योतीरूपमसौ आदित्यः तद्यावदेव मनस्तावती द्यौः, तावानसौ आदित्यः तौ मिथुनं समेताम्, ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद। अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरम् ज्योतीरूपम् असौ चन्द्रः तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपः, तावानसौ चन्द्रः, त एते सर्व एव समाः सर्वे अनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्ते अन्तवन्तं स लोकं जयति, अथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयति, स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः, यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः। अथ त्रयो वाव लोका इति। अथातः सम्प्रत्तिः यदा प्रैष्यन् मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः त्वं लोक इति, स पुत्रः प्रत्याह—अहं ब्रह्म, अहं यज्ञः अहं लोक इति, यद् वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता, ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता। ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकता एतावद् वा इदं सर्वं एतन्मा सर्वं सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रम् अनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदेवंविदस्मात् लोकात् प्रेत्याथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णयाऽकृतं भवति। तस्मादेनं सर्वस्मात् पुत्रो मुञ्चति, तस्मात् पुत्रो नाम। स पुत्रेणैवाऽस्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति। अथैनमेते देवाः अमृता आविशन्ति, पृथिव्यै चैनम् अग्नेश्च दैवी वागाविशति। सा वै दैवी वाग्, यया यद् यदेव वदति, तत् तद् भवति। दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति, तद् वै देवं मनो येनानन्द्येव भवति। अथो न शोचति। अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति, स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथते अथो न रिष्यति स एवंवित् सर्वेषां भूतानामात्मा भवति, यथैषा देवतैवं स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद् भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न है वै देवान् पापं गच्छति। अथातो व्रतमीमाँसा-प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त। वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्, एवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत् तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्धत्। तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रम् अथेममेवानाप्नोद् योऽयं मध्यमः प्राणः तानि

ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो सञ्चरंश्चासंश्चरंश्च न व्यथते। अथो न रिष्यति। हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपम् अभवन्। तस्मादेत एतेन आख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह वा व तत्कुलमाचक्षते। यस्मिन् कुले भवति स एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धते अनुशुष्यति। अनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्।

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमिति अग्निर्दध्रे, तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमाः। एवं अन्या देवताः यथादैवतम्। स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषा अनस्तमिता देवता यद् वायुः। अथैष श्लोको भवति। यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति। प्राणाद् वा एष उदेति प्राणे अस्तमेति तं देवाः चक्रिरे धर्मम्। स एवाद्य स उ श्व इति। यद्वा एते अमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्। प्राण्यच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवद् इति यद्युच्चरेत् समापिपयिषेत्तेनो एतस्यैव देवतायै सायुज्यं स- लोकतां जयति। त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम एतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति, अथ रूपाणां चक्षुरित्येतत् एषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति अथ कर्मणा मात्मेत्येतदेषामुक्थम्, अतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां साम एतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्म एतद्धि कर्माणि बिभर्ति, तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा एकस्सन्नेतत् त्रयं तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्न इति"। एवं सर्वत्र त्रिपुराप्रपञ्चो दृश्यते।

'अनुत्तरानन्दचितिरिच्छाशक्तिनियोजिता ।
त्रिकोणमिति तत् प्राहुर्निसर्गामोदसुन्दरम् ।।

मेय-मातृ-प्रमा-मान-प्रसरैः सङ्कुचत्प्रभम् ।
शृङ्गाररूपमापन्नमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् ।।' इति।

शृङ्गाररूपं त्रिकोणमित्यर्थः। विरूपाक्षपञ्चाशिकायामपि—एतदेव बिन्दुचक्रं यदा विकासभावमयते तदा त्रिकोणचक्रम् उदेती'ति। कामकलाविद्यायाम्—'मध्यं चक्रस्य स्यात् परामयं बिन्दुतत्त्वमेवेदम्। उच्छूनं तच्च यदा त्रिकोणरूपेण परिण्क्तं स्पष्टम्। एतत् पश्यन्त्यादित्रितयनिदानं त्रिबीजरूपं चे'ति। अयमर्थः—

चक्रस्य नवयोन्यात्मकस्य मध्यं मध्योद्भवं बिन्दुतत्त्वमिदं स्वसाक्षात्कृतं परामयमेव पराशक्तिस्वरूपमेव। उच्छूनं तच्च यदेति। यदा यस्मिन् काले प्राण्यदृष्टवशात् उच्छूनं तच्च बैन्दवं सञ्जात-विकासं भवति, तदा त्रिकोणरूपेण अनुत्तरानन्देच्छाशृङ्गार (सङ्घट्ट) रूपेण परिणतं त्रिकोणाकारं भवतीत्यर्थः। एतत् त्रिकोणचक्रं पश्यन्त्यादि-त्रितय-निदानं पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीप्रमुखशक्तित्रयोत्पत्ति-कारणमित्यर्थः। त्रिबीज-रूपञ्चेति। त्रिबीजानि त्रिखण्डात्मक-वाग्भव-कामराज-शक्तिबीजानि। तेषां बीजानां रूपं यस्य तत् तथेति। परा वाग् बिन्दुरूपा। सैव पश्यन्त्यादि-कारणमिति तत्र तत्र श्रूयते। यथा विश्वलहरीस्थानमातृत्रयात्मकं बैन्दवं चक्रमिति सुभगोदयवासनायाम्—

'इच्छादिशक्तित्रितयं पशोः सत्त्वादिसंज्ञितम् ।
महात्र्यश्रं भावयामि गुरुवक्त्रादनुत्तरात् ।।'इति।

प्रत्यभिज्ञायामपि—

'स्वाङ्गरूपोष्मभावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ।।'

इति इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव पश्यन्त्यादिशक्तित्रयात्मतापन्नाः। तदाह—

'इच्छा रेखामया विश्वस्थिता प्रमितविग्रहा ।
तत्संहृतिदशायां च बैन्दवं रूपमास्थिता ।।

प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृङ्गारवपुरुज्ज्वला ।
क्रियाशक्तिस्तु कापीयं वैखरी विश्वविग्रहा ।।'इति।

श्रीतन्त्रसद्भावेऽपि—

'या सा तु मातृका लोके परतेजःसमन्विता ।
तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तरम् ।।'

इत्यारभ्य—

'एकैवेत्थं परा शक्तिः त्रिधा सा तु प्रजायते ।'

इत्यन्तेन पराशक्त्यात्मकं पश्यन्त्यादिशक्तिजालनिरूपणं कृतम्। तत्तु तत एवावधार्यम्। इह तु ग्रन्थविस्तरभीत्या न लिखितम्। श्रुतिरपि,

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं सगुणैर्निगूढाम् ।।' इति।

यः सर्वान् लोकान् ईशते ईशनीभिरिति जननीभिः परमशक्तिभिः अभिन्नां पराशक्तिम् इच्छाज्ञानक्रियारूपां स्तौति। आगमश्च **'स्वरूप-ज्योतिरेवान्तः परा वाक् अनपायिनी यस्यां दृष्टस्वरूपायां ममकारो निवर्त्तते'** इति। लघुभट्टारकश्च—

'सा त्वं काचिदचिन्त्यरूपमहिमा शक्तिः परा गीयते' इति।

सैषा परा ध्वनिरूपा तु पश्यन्ती द्योतितार्था। मध्यमा श्रुतिगोचरा। वैखरी नामाखिलवर्णरूपिणी। एतत् तापिन्यामुदाहृतम्। **'तान्येव परा पश्यन्ती मध्यमा श्रुतिगोचरा। मध्यमा द्योतितार्था हि पश्यन्ती ध्वनिः परा चेत्येवमर्थ इति।'**

सुभगोदयवासनायां च–

'पराभूज्जन्म पश्यन्ती.........समुद्भवा ।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ ।।'

चिदानन्दवासनायामपि—

'विवक्षा अध्यवसायोक्तिरूपा एतास्त्रिमातरः। पश्यन्त्यादि महादेव' इति। कामकलाध्याने चक्रदैवतयोरैक्यं प्रतिपाद्यते। यथा—

'या सान्तरोहरूपा परा महेशी त्रिभाविता सैव ।
स्पष्टा पश्यन्त्यादित्रिमातृकात्मा च चक्रतां याता ।।

चक्रस्यापि महेश्या न भेदलेशो विभाव्यते विबुधैः ।
अनयोः सूक्ष्माकारा परैव सा स्थूलयोर्न कापि भिदा ।।' इति।

तथा च वामकेश्वरतन्त्रे—

'तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्वा लयेनाग्निचतुष्टयम् ।
पञ्चशक्ति-चतुर्वह्नि-संयोगाच्चक्रसम्भवः ।।

एतच्चक्रावतारं तु कथयामि तवानघे ।
एषा सा परमा शक्ति..........।।'

इत्युपक्रम्य,

'चक्रं कामकलारूपं प्रसारपरमार्थतः ।।'

इत्यन्तेन सम्यगभेदः प्रतिपादितः। चक्रस्य कामकलारूपत्वं बिन्दुत्रयात्मकत्वं मण्डलत्रयरूपत्वादिति ज्ञेयम्। तदुक्तम्—

'त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्याऽनलात्मकम्।' इति।

रहस्याम्नायेऽपि—

'बीजत्रयात्मकं स्वात्मशृङ्गारं विद्धि सुन्दरम् ।
मिश्रं शुक्रं च रक्तं च पुराणं प्रणवात्मकम् ।।
रेखात्रयावगन्तव्यं संवित् साम्बशिवात्मकम् ।'
इत्यादि 'तयोर्मिश्रं संयोगे निर्वाणं निर्मलमि'त्यन्तेन प्रोक्तम् ।

चतुःशत्यां तु—

'कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टिव्यष्टिरूपिणीम् ।
आद्यां शक्तिं भावयन्तो भावार्थ इति मन्त्रतः ।।' इति।

कामकलाध्याने—

'माता मानं मेयं बिन्दुत्रयाऽभिन्नबीजरूपाणि ।
धामत्रय-पीठत्रय-शक्तित्रयभेदभावितान्यपि च ।।
तेषु क्रमेण लिङ्गात्त्रितयं तद्वच्च मातृकात्रितयम् ।
इत्थं त्रितयपुरीया तुरीयपीठा च भेदिनी विद्या ।।' इति।

प्रत्यभिज्ञायामपि—

'अखण्डितस्वभावोऽपि विचित्रां मातृकल्पनाम् ।
स्वहृन्मण्डलचक्रेयं प्रथयेत्तं नमः शिवम् ।।' इति।

चतुःशत्याम्—

'अतीतं तु परं तेजः स्वसंविद्देवतात्मकम् ।
स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ।।
मेय-मातृ-प्रमा-मानप्रसरैः सङ्कुचत्प्रभम् ।' इति।

एवं सर्वातीता सच्चिदानन्दघनलक्षणा परदेवता सृष्टिसमये त्रिप्रकारा सती त्रिकोणाकारतां प्राप्तेत्यर्थः ।

मातृकैव त्रिकोणात्मतया परिणतेति कथयति—

'यत्राकथे'ति। यत्र पुरत्रयाख्ये त्रिकोणचक्रे, अ-क-थाः अकार-ककार-थकारादयः वर्णाः षोडशधा विभक्ताः। अकारादिस्वराः षोडश, कादितान्ताः षोडश, थादिसान्ताः षोडश, एवं षोडशत्रिकम्। एवं विभक्ता अक्षरा मातृकायाः

एकपञ्चाशद् वर्णाः कोणस्थ-हल-क्षसहिता इति शेषः। सन्निविष्टाः ऋजुरेखाकारेण प्रविष्टा इत्यर्थः। **'ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा'** इत्युक्तत्वात्। तथा च पादुकापञ्चरत्नस्तुतौ—

> **'तत्र कन्दलितकर्णिकापुटे**
> **क्लृप्तरेखमकथदिरेखया ।**
> **कोणलक्षित-ह-ल-क्षमण्डलं**
> **भावलभ्यमनलालयं भजे ।।'** इति।

अन्यत्रापि—'अ-क-थादित्रिरेखात्मा हलक्षा....बुध' इति। तथा च महोपनिषदि—**'त्रिपीठमध्यवर्त्तिनीम् अकथादित्रिपीठेशीं परां चित्कलां महात्रिपुरसुन्दरीं ध्यायेदि'ति।** तापिन्यामपि- **'अकथादित्रिरेखाशब्दित-त्रिकोणमेव श्रीगुरोः सदनमि'ति।** तैत्तिरीयकशाखायां च—'चित्रावसो स्वस्तित' इत्युपक्रम्य 'स त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसा' इति। श्रीतन्त्रसद्भावे—

> **'सर्वे वर्णात्मका मन्त्रा देवः शक्त्यात्मकः प्रिये! ।**
> **शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया मातृका तु शिवात्मिका ।।**
> **या सा तु मातृका लोके परतेजःसमन्विता ।**
> **तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तरम् ।।'** इति।

एवम् अधिष्ठानं प्रपञ्च्याधिष्ठात्रीं कथयति—

'अधिष्ठायैना' इति। अधिष्ठाय अवष्टभ्य एनाः पूर्वोक्ताः तिस्रः पुरः। अजरा अपक्षयरहिता, पुराणी जन्मरहिता। आद्यन्तशून्येत्यर्थः। यद्वा अजरा पुराणीति विशेषणद्वयम् तदैतरेषामुपलक्षणम्। तस्मात् षड्भावविकार-रहितेत्युक्तं भवति। तथा च श्रुतिः—

> **'न जायते म्रियते वा विपश्चिद्**
> **नायं कुतश्चिन् न बभूव कश्चित् ।**
> **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो**
> **न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।'**

इति। अथर्वशिरसि **'यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते-ऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या। यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजा। एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका। एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अत एवोच्यतेऽज्ञेयाऽनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैके'ति।**

महत्तरा 'महदि'ति महत्तत्त्वम्, ततोऽधिका महत्तरा। महच्छब्दग्रहणम् अव्यक्ताऽहङ्कारयोरप्युपलक्षणम्। त्रिकोणस्य महाकामेश्वर्यादिदेवता उच्यन्ते। तथा च भावनोपनिषदि—'अव्यक्त-महदहङ्काराः कामेश्वरी-वज्रेश्वरी-भगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवता' इति। त्रिकोणमध्यस्थिता इति भावः। बिन्दुपीठेश्वरी पञ्चब्रह्ममञ्चवासात् महत्तरेत्यर्थः। महत्तरत्वमेव साधयति—

'महिमा देवताना'मिति। महिमा पूज्या, कासाम्? देवतानाम्, त्रिकोणाऽग्रस्थमहाकामेश्वर्यादीनाम्, शिवादि-क्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वदेवतानां चेत्यर्थः। एषा त्रिपुरा भगवती महोपनिषदि श्रूयते। 'अथैतस्मिन्नन्तरे भगवान् प्राजापत्यं वैष्णवं विलयकारणरूपमाश्रित्य 'त्रिपुराभिधा भगवती'त्येवमादि-श्रुत्या भूर्भुवस्वस्त्रीणि पुराणि स्वर्ग-मध्य-पातालाख्यानि ह्रीन्मयात्मकेन ह्रीङ्कारेण हृल्लेखास्या भगवती त्रिपुराभिधा त्रिकूटावसाने निलये धाम्नि महसा घोषेण व्याप्नोति। सैवेयं भगवती त्रिपुरेति प्रपद्यते। क्रोधभट्टारकाश्च—

> **'देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वराः**
> **त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्मवर्णास्त्रयः ।**
> **यत् किञ्चित् जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं**
> **तत् सर्वं 'त्रिपुरे'ति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः ।।' इति।।१।।**

श्रीभास्करारायप्रणीतभाष्यम्—

> **'सहस्रदलपद्मे श्रीनाथाङ्घ्र्यब्जद्वये सति ।**
> **कमले कमलोत्पत्तिर्न दृष्टेत्युक्तयः कथम् ।।१।।**
>
> **श्रीसाङ्ख्यायनकल्पसूत्रविधिभिः कर्माणि ये कुर्वते**
> **येषां शाकल एव मन्त्रनिचयः कौषीतकं ब्राह्मणम् ।**
> **तैरारण्यकमध्यमन्त्रविततिर्या पठ्यते बह्वृचैः**
> **ऋग्भिः षोडशभिर्महोपनिषदं व्याचक्ष्महे तां वयम् ।।२।।'**

इह खलु त्रैवर्णिकैरध्येतव्यो वेदः पूर्वोत्तरकाण्डभेदेन द्विविधः। स उभयविधोऽपि साक्षात् परम्परया वा क्रियाविशेषविधानाय प्रवृत्तः। क्रियाश्च काश्चित् सदेवताकाः, काश्चिददेवताका अग्निहोत्रस्नानादयो रामकृष्णोपास्तियोषिदग्न्याद्युपास्त्यादयश्च। अधिकारिणस्तु देहातिरिक्त आत्मा परलोकयातायातक्षमोऽस्तीति विश्वासशीला एवामुष्मिकफलक्रियासु यथाऽधिक्रियन्ते तथा तेष्वपि देवतानामस्मदादिभिरदृश्यमानानामपि अभिमत-फलदानक्षमा शक्तिः काचिदस्तीति विश्वासशीला एव रामकृष्णाद्युपास्तावधिक्रियन्ते। ईदृशजनाभि-

प्रायेणैव देवतानां विग्रहादिकं समर्थितं वादरायणादिभिः। येषां तु देवतासद्भावे जन्मान्तरकर्मवशादनाश्वास आस्तिकता च ते पूर्वकाण्डोक्तकर्मस्वेवाधिकारिणो न देवतोपासनायाम्। तादृशजनाभिप्रायेणैव देवतानां विग्रहादिपञ्चकनिरासेन कर्मप्राधान्यवादः समर्थितो जैमिन्यादिभिः। अत एव तादृशकर्मठानामेव कर्मपरिपाकवशात् कतिपयानां शिवशक्तिपूजायां प्रवृत्तौ सत्यां मीमांसकमत-परित्यागप्रयुक्त उपहासो वृत्तौ वर्णितो मृगेन्द्रसंहितायाम्। ये तु देवतोपासकास्तैरपि विग्रहादिपञ्चकापह्नवाभिप्रायरहस्यं जानानैरपि कर्मप्राधान्यवादो न निरसनीयः। तथात्वे तादृशकर्मठानां चित्तपरिपाकविशेषमन्तरेण समर्थ्य-मानार्थे विश्वासानुदयात्। निरसनयुक्तिभिस्तदवलम्बितार्थे सन्देहोदये तु तेषामुभयभ्रष्टतापत्तेः। अत एव तेषां संरक्षणार्थमेवोपासकैरपि तानि कर्माणि तद्वदेव सविश्वासमिव कार्याण्येव। एतदभिप्रायेणैव—

'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि' इत्यादयो विधयः,

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' इत्यादयो निषेधाश्च। उत्तरभूमिकाधिरूढैरपि पूर्वभूमिकायाः समर्थनं स्वभूमिकाया अप्रकाशनं चावश्यं कार्यमिति पिण्डितोऽर्थः। तेनेतौ विधिनिषेधौ निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां जीवन्मुक्तानामप्यावश्यकाविति सिद्ध्यति। येषां तु बहुजन्मसु पूर्वकाण्डोक्तकर्मानुष्ठानवशाच्चित्त-परिपाको दृढो दृश्यते तादृशान् प्रति तु सम्यक् परीक्ष्य स्वभूमिका शनैः शनैः प्रकाशनीयैव, अन्यथा सम्प्रदायविच्छेदापत्तेः। त्रिपुरसुन्दर्युपास्तिपर्यन्ता ये भूमिकाभेदास्ते तु संविस्तारं वामकेश्वरतन्त्रव्याख्याने सेतुबन्धेऽस्माभिः प्रदर्शिताः। उपासनाशास्त्रे तु देवताप्राधान्यवाद एव, न कर्मणः प्राधान्यम्। क्रिया-प्राधान्याभावादेव देवतारूपसिद्धवस्तुबोधका वेदान्ता इति वाचोयुक्तिः। देवतायाश्च त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। तत्राद्यं तत्तद्ध्यानश्लोकोक्तम्, द्वितीयन्तत्तन्मूलमन्त्रात्मकम्, तृतीयन्तूपासनात्मकम्। देवतारूपत्रैविध्यात्तदुपास्तिरपि त्रिविधा बहिर्यागजपान्तयोगभेदात्। तदिदं सपरिकरमृग्वेदपुरुषो महोपनिषद्रूपेणोप-दिशति **'तिस्रः पुर'** इत्यादिनेत्युपनिषदित्यन्तेन। अस्या उपनिषदः परदेवतास्तुतौ विनियोगस्तृतीयदशमर्चमन्त्रलिङ्गात्। तत्र प्राधान्येन देवतां निर्देष्टुं प्राथमिकीमृचमाह-तिस्रःपुरस्त्रिपुरेति।

मुक्तिस्तावत्पञ्चविधा सालोक्यमेकं सामीप्यसारूप्यसायुज्यत्रितयं कैवल्यं चेति। तास्वाद्यान्त्ये प्रत्येकं द्वौ मार्गौ, मध्यमत्रयमेको मार्गः। तथा च तैत्तरीया आमनन्ति—**'य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं**

गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ व सूर्य्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानम् ।' इति। अयं भावः—ऊर्ध्वरेतसां स्वाश्रमोक्तकर्मानुष्ठानवतां चन्द्रलोकप्राप्तिः सालोक्यरूपा, प्रतीकोपासनया स्वस्वामिभावेनो-पासनयाऽहंग्रहोपासनया सामीप्यादित्रयरूपाऽऽदित्यप्राप्तिः, निर्गुणोपास्ति-रूपब्रह्मज्ञानवतां तु कैवल्यरूपब्रह्मपदप्राप्तिरिति। एतन्मार्गत्रयमेवोपबृंहितं विष्णुपुराणे तृतीयेंऽशे—

'उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम् ।
पितृयाणः स वै पन्था वैश्वानरपथाद् बहिः ।।'

इत्यादिना—**'विवेकज्ञानदृष्टञ्च तद्विष्णोः परमं पदम् ।'**

इत्यन्तेन। मार्गत्रैविध्याद् गन्तव्याः पुर्य्योऽपि तिस्रः। ईदृशपुरत्रय-प्रापकत्वात् परदेवता त्रिपुरेत्युच्यते।

'आत्मबुध्या प्रतीकेन मातृबुध्याऽप्यहन्धिया ।
कर्मणाऽपि भजन् मर्त्यः कैवल्यं पदमश्नुते ।।'

इत्यनेन पञ्चविधात्मत्रिविधभजनेनापि त्रैपुरप्राप्तेरुक्तत्वात्। तस्मात् सैव तिस्रः पुरः त्रिपुरा। त्रयः पन्थानो यस्याः सा। तत्पुरुषानङ्गीकारादेव 'पथः संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वं न। चर्षणीशब्दो वैदिकनिघण्टुरीत्या प्रजावाचकः। विश्वाः समस्ताश्चर्षणयः प्रजा यस्यां सा विश्वचर्षणी देव्येव। समस्तप्राण्युत्पादिकेति यावत्। विश्वदृष्टिर्वा। इदमत्र बोध्यम्—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' श्रुतिसिद्धं यद् ब्रह्मणः प्राथमिकमीक्षणं तदेव सर्वजनकं तदेवेच्छारूपं कृतिरूपं च। 'सोऽकामयत, तपोऽकुरुत' इति श्रुत्यन्तरात्। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुत्याऽप्येकैव ब्रह्माभिन्ना प्राथमिकी वृत्तिर्ज्ञानेच्छाकृतिरूपेति प्रतिपाद्यते। सा वृत्तिरेवेच्छाज्ञानक्रियासमष्टिरूपत्वाच्छान्तेत्युच्यते, पश्यन्तीमध्यमावैखरी-समष्टिरूपत्वात् परेत्युच्यते, वामाज्येष्ठारौद्रीसमष्टिरूपत्वादम्बिकेत्युच्यते। सा शान्तात्मिका देवतैव श्रीचक्रस्थं बिन्दुचक्रम्। तदुक्तं नित्याहृदये परब्रह्म प्रक्रम्य—

'प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम् ।
'बैन्दवं चक्रम्'

इत्यादि। तदेव च तिस्रः पुर इत्यादिविशेषणत्रयनिर्दिष्टम्। विशेषणेषु बहुवचनैकवचनाभ्यां विशेष्यस्य त्रिरूपत्वमेकरूपत्वञ्च सूचितम्। तादृशमोक्षा—वच्छिन्नब्रह्म प्रक्रम्य कालिकापुराणेऽप्युक्तम्—

'त्रिकोणमण्डलं चास्या भूपुरञ्च त्रिरेखकम् ।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरः प्रोक्तस्तथा रूपत्रयं पुनः ।।
त्रिविधा कुण्डलीशक्तिस्त्रिदेवानाञ्च सृष्टये ।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात्तस्मात्तु त्रिपुरा मता ।।'

इत्यादि। अर्थसृष्टिजनकत्वेन तां निर्दिश्य शब्दसृष्टिजनकत्वेनापि तां निर्दिशति **यत्रेति**। यत्र यस्यां शान्ताम्बिकादिरूपायां त्रिपुरायाम्। अकथाः अकाराद्याः ककाराद्यास्थकाराद्याः षोडश षोडश, अक्षरा अक्षराणि संन्निविष्टा संनिविष्टानि। वटबीजे वृक्षवत् सम्यक् नितरां च वर्तन्ते। हकारो हि विमर्शस्वरूप एवेति न व्यष्टिवेषेण पृथग् गण्यते।

'हकारार्णः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः'

इति वचनात्। ळकारस्तु लकारान्न भिद्यते। क्षकारस्तु कषसंयोगरूप एव, न स्वतन्त्रः। तेनाष्टाचत्वारिंशदेव मातृकाः। एत एव मातृकाः। तथा च सूतसंहितायाम्—

'एकधा च द्विधा चैव तथा षोडशधा स्थिता ।
द्वात्रिंशद्भेदसम्भिन्ना या तां वन्दे परां कलाम् ।।' इति।

द्विविधा स्वरव्यञ्जनभेदेन। स्वरः षोडशरूपो व्यञ्जनं द्वात्रिंशद्रूपम् इति तदर्थः। अक्षरादिपदद्वये जसो डादेशश्छान्दसः। एवं पूर्वार्द्धेन बिन्दुचक्रस्वरूप-मुद्दिश्य तदधिष्ठात्रीमुपास्यां परदेवतामाह—**अधिष्ठायेति**। एनां साम्प्रतमुपदिष्टां त्रिबिन्दुरूपां त्रिपुरामधिष्ठाय काचिदस्ति देवता। **'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथम-पुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति'** इति कात्यायनवचना-दस्तेरध्याहारः, उत्तरमन्त्रस्थ-क्रियया वा ल्यपोऽन्वयः। सा देवता अजरा मरणरहिता। 'जृष् वयोहानौ' इत्यत्र हानिपदेनायुषो नाशस्यैव कथनात्। पुराणी अनादिः जन्मरहिता। देवतानां ब्रह्मविष्णुशिवादीनामतिप्रसिद्धानां मध्ये महत्तरा सर्वोत्कृष्टा। तासां देवतानां यो महिमा तद्रूपा। देवान्तराणां माहात्म्यस्याप्येषैव निदानम्। एतदुपासनयैव तेषां महिमलाभ इति भावः। त्रिपुरोपनिषदि तत्तदनुयायिपुराण-तन्त्रादिषु च शिवविष्ण्वाद्युपासितानां विद्यानां बहुशः प्रदर्शनाद्।

'शम्भुः पूजयते देवीं मन्त्रशक्तिमयीं शुभाम् ।'

इत्यादिना निखिलदेवपूजनीयानां प्रतिमाभेदानां पाद्मपुराणे विस्तरेण कथनाच्च। तथा च 'न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुके'

इति न्यायेन देवतान्तरोपास्त्यपेक्षया परदेवतोपास्तिरेव ज्यायसीति तु ध्वन्योऽर्थः। तदिदमस्माभिरुक्तं परशिवस्तवे-

'त्वद्दत्तैश्वर्यभाजः परमशिव कथङ्कारमन्यान् सुरेन्द्रान्
याचे देहीति शक्रद्रुहिणहरिमुखान् भिक्षुकान् भिक्षुकोऽहम् ।
अङ्गोऽपि द्वादशाहक्रतुविकृतिशतस्याङ्गभूतोऽपि चोक्थ्यो
ज्योतिष्टोमोक्थ्यधर्मानभिलषति न तु द्वादशाहोक्थ्यधर्मान् ।।' इति ।

अजरेत्यादिभिर्ब्रह्मलिङ्गैर्ब्रह्मचक्राधिष्ठात्री देवता परं ब्रह्मैवेत्युक्तम् ।

देवतापदस्य विशेष्यताभिप्रायेण स्त्रीत्वम् । अजरादिपदानामत एव श्रुत्यन्तरे नपुंसकत्वेन निर्देशः । तथा च स्पष्टमाथर्वणिका आमनन्ति—

'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषा वृतः ।।

तस्मिन्हिरणमये कोशे त्र्यस्त्रे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् तद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।' इति ।

भूपुरादित्रिकोणान्तचक्राष्टकोपरि यः कोशो गर्भीकृतरूपत्रयो बिन्दुरिति यावत्, तस्मिन् यक्षं महद् भूतमस्ति। बहिःपूजाऽयोग्यत्वाद्यक्षपदेन निर्देशः। तत् स्वात्मन्येव ब्रह्मविदो विदुर्नान्य इति तदर्थ इति सेतुबन्धे विस्तरः ॥१॥

श्रीभास्कररायकृतस्य त्रिपुरोपनिषद्भाष्यस्य श्रीकमलाकान्तत्रिपाठिकृता भाषाव्याख्या

अखण्डं सहजञ्चैव सच्चिदाकारविग्रहम् ।
सर्वशेषितयाभान्तं तमानन्दमुपास्महे ।।१।।

तमिस्रानष्टदृष्टीनां सिद्धाञ्जनमिवस्फुरत् ।
वन्दे गुरुपदद्वन्द्वं स्फुटीकर्तुं प्रभुं हृदि ।।२।।

त्रिपुरोपनिषद्भाष्यद्वयोपेतं तमोनुदम् ।
इमं ग्रन्थं विकास्याहं कामये गुर्वनुग्रहम् ।।३।।

निर्विघ्नतापूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति के लिए मङ्गलाचरण करते हैं— **सहस्त्रदलपद्मे।**

कमल में कमल की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी गयी है, यह कथन कैसे युक्तिसङ्गत कहा जा सकता है जब सहस्त्रदल कमल में श्रीनाथ के दो चरणकमल विद्यमान रहें। गुरुचरणकमलों का ध्यान सहस्त्रदलकमलरूप सहस्रार में किया जाता है। इस प्रकार कमल में कमल की स्थिति सिद्ध होती है॥१॥

जो श्रीसाङ्ख्यायनकल्पसूत्रों में प्रतिपादित विधियों के अनुसार धर्म कार्यों को करते हैं और जिनका शाकलसंहिता एवम् कौषीतक ब्राह्मण ही वेद है वे ऋग्वेदी आरण्यक के मध्य में विद्यमान जिस मन्त्रसूक्त का अध्ययन करते हैं उसी सोलह ऋचाओं से युक्त इस त्रिपुरोपनिषत् की व्याख्या करते हैं।

प्रथम ऋक् के व्याख्यान की उपक्रमणिका प्रस्तुत करते हैं—**इह खलु**। शास्त्रीय विधान के अनुसार जिस वेद का अध्ययन त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही करते हैं वह पूर्व और उत्तर काण्ड के भेद से दो तरह का है। दो भागों में विभक्त यह वेद साक्षात् या परम्परा से क्रियाविशेषों के विधान में प्रवृत्त है। 'क्रिया' से यहाँ धर्म का ग्रहण है। इसी तथ्य को स्वयम् प्रकट करते हैं—**क्रियाश्च काश्चित्**। कुछ क्रियायें देवतासम्बन्धी और कुछ विना देवता वाली होती हैं। अग्निहोत्र आदि एवम् श्रीराम और श्रीकृष्ण की उपासना, स्त्री एवम् अग्नि आदि की उपासना अथवा स्त्रीरूप अग्नि की उपासना जिसमें सन्तान के लिए आहुति दी जाती है, सभी सदेवताक क्रियायें हैं अर्थात् इनकी पूर्णता द्रव्य-देवता दोनों से होती है। स्नान आदि क्रियाओं में देवता नहीं हैं। स्नान भी फल के लिए जहाँ विहित है वहाँ धर्मत्व स्वीकार करते हैं। जैसे गङ्गा आदि तीर्थों में स्नान, ग्रहण आदि में होने वाला नैमित्तिक स्नान। इन सभी क्रियाओं के अनुष्ठान के अधिकारी देह-इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त लोकयातायातसमर्थ अर्थात् कर्ता और भोक्ता आत्मा है, इसीलिए परलोक में विश्वास रखने वाले ही पारलौकिक फलों वाली यागादि क्रियाओं में जैसे अधिकृत होते हैं वैसे ही उन्हीं उपासकों में दो भेद दिखायी देते हैं। देवताओं का प्रत्यक्ष हम जैसे लोगों के लिए संभव नहीं है तथापि उनमें अभीष्ट फल को देने की कोई शक्ति है, ऐसे विश्वास से सम्पन्न राम-कृष्ण आदि की उपासना में अधिकृत होते हैं। ऐसे लोगों को लेकर ही वादरायण आदि महर्षियों ने देवताओं के विग्रह (शरीर) आदि का समर्थन किया है। जिनके हृदय में अन्य जन्मों के कर्मों के अनुसार देवता के विग्रह आदि में विश्वास नहीं है और वेदों में प्रामाण्यबुद्धि होने से अस्तिकता भी है वे पूर्व काण्ड में कहे गये कर्मों के ही अधिकारी हैं। देवोपासना के अधिकारी वे नहीं हैं। ऐसे लोगों के लिए ही जैमिनि आदि महर्षियों ने देवता के विग्रह आदि का खण्डन करके कर्मों की प्रधानता का ही समर्थन किया है। इसीलिए वैसे कुछ कर्मठों की कर्मों के परिपाक के बल से शिवशक्ति की पूजा में प्रवृत्ति होने पर मृगेन्द्रसंहिता की वृत्ति में मीमांसकमत के त्याग को लेकर उपहास किया गया है। देवताविग्रह आदि के खण्डन के अभिप्राय का रहस्य देवतोपासक समझते हैं। इसीलिए वे कर्मप्राधान्यवाद का खण्डन न करें। यदि कर्म की प्रधानता वाले मीमांसीय सिद्धान्त का खण्डन किया जायेगा तो वैसे कर्मोपासकों में चित्तपरिपाकविशेष के विना समर्थनीय अर्थ में विश्वास ही नहीं होगा। यदि कर्मप्राधान्यवाद का खण्डन किया जायेगा तो उन खण्डन की युक्तियों से कर्मोपासकों के हृदय में उनके स्वीकृत विषय में सन्देह उत्पन्न हो जायेगा और वे कर्म एवम् देवोपासना दोनों मार्गों से भ्रष्ट हो जायेंगे। इसीलिए देवोपासक जन भी पूर्ण विश्वास के साथ कर्मों का अनुष्ठान करें ताकि कर्मानुष्ठापकों का संरक्षण हो। इसी अभिप्राय से स्मृतियों में—

'लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'। (गीता)

इत्यादि विधियों के साथ—

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्'। (गीता)

इत्यादि निषेधशास्त्रों की प्रवृत्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण लोकसंग्रह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दे रहे हैं और ज्ञानमार्ग के समर्थन में कर्मयोग के खण्डन के द्वारा कर्मजड़ों में बुद्धिभेद का निषेध भी कर रहे हैं। इसी अर्थ का उद्घाटन करते हैं—**उत्तरभूमिकारूढैः**।

जो साधक साधना की दूसरी भूमिका में पहुँच चुके है वे पूर्व भूमिका का समर्थन और अपनी भूमिका का अप्रकाशन करें। इस तरह पूर्वोक्त विधि-निषेध निस्त्रैगुण्य मार्ग में विचरण करने वाले जीवन्मुक्तों के लिए भी आवश्यक हैं। जिनके हृदय में अनेक जन्मों में वैदिक पूर्वकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों के अनुष्ठान के बल से परिपाक हो गया है अर्थात् जिनका चित्त परिपक्व हो गया है उन कर्मठों के प्रति देवोपासक ठीक से उनका परीक्षण करके अपनी भूमिका का धीरे-धीरे प्रकाशन करें। यदि वे वैसा नहीं करेंगे तो सम्प्रदाय का ही विच्छेद होने लगेगा। त्रिपुरसुन्दरी की उपासना तक के भूमिकाभेदों का प्रतिपादन श्रीभास्करराय ने 'सेतुबन्ध' नामक वामकेश्वरतन्त्र की व्याख्या में कर दिया है। उपासनाशास्त्र में देवप्राधान्यवाद ही स्वीकृत है। कर्मों की प्रधानता यहाँ नहीं है। कर्मों की प्रधानता को स्वीकार करने पर देवता के प्रति भक्ति में रोध उत्पन्न हो सकता है जिससे सिद्धि में बाधा भी पैदा हो सकती है। कर्मों की प्रधानता उपासना में नहीं है, प्रत्युत देवता की प्रधानता है, इसीलिए वेदान्तशास्त्र देवतारूप सिद्ध वस्तु के बोधक होते हैं, ऐसा कथन है। देवता के स्थूल, सूक्ष्म और पर, ये तीन रूप होते हैं। देवता का स्थूल रूप उनके ध्यानसम्बन्धी श्लोकों में कहा गया है। सूक्ष्म रूप उनके मूल मन्त्र के रूप में व्यवस्थित है। देवता की तीसरा पर रूप उपासनारूप है। देवता के रूप में तीन भेद होने से उनकी उपासना भी तीन प्रकार की होती है- बहिर्याग, जप और योग। इन सभी का सपरिकर प्रतिपादन साक्षात् ऋग्वेदवेदपुरुष महोपनिषत् के रूप से प्रकट करते हैं। यह उपनिषत् **'तिस्रः पुरः'** से लेकर **'उपनिषत्'** पर्यन्त सोलह ऋचाओं में विद्यमान है। इस उपनिषद् का विनियोग (अङ्गत्वेन सम्बन्ध) परदेवता की स्तुति में है। यह ज्ञान तीसरे और दसवें ऋङ्मन्त्रों में विद्यमान लिङ्ग से होता है। यहाँ प्रधानतः देवता को प्रस्तुत करने के लिए ऋग्वेदपुरुष प्रथम ऋक् को कहते हैं—

तिस्रःपुरस्त्रिपुराः........।।१।।

निःश्रेयस के तीन मार्गों के होने से गन्तव्य तीन पुरियाँ (नगरी) हैं जिन्हें प्रदान करने वाली देवी त्रिपुरा कही जाती हैं। वे विश्वचर्षणी अर्थात् संसारचक्र में गमन करती हैं या विश्वदृष्टि हैं। उन्हीं त्रिपुररूप त्रिकोणचक्र में अकारादि सोलह स्वर, ककारादि तकारपर्यन्त सोलह और थकारादि सकारपर्यन्त सोलह, इस तरह षोडशत्रिक अक्षर स्थित हैं। मातृका के सभी ये अक्षर कोणस्थ ह-ल-क्ष के साथ इक्यावन हैं। त्रिपुरसुन्दरी भगवती को अधिष्ठित

करके या तीनों पुरियों को अधिष्ठित करके त्रिकोणाग्र में स्थित महाकामेश्वरी आदि और शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त छत्तीस तत्त्व रूप देवताओं की अनादि-अनन्त, महनीय महिमा है। यह मन्त्र की अक्षर योजना है। ग्रन्थकार व्याख्यान का उपक्रम करते हैं—**मुक्तिस्तावत् पञ्चविधा**। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य और कैवल्य के भेद से मुक्ति पाँच प्रकार की होती है। इनमें प्रथम और अन्तिम प्रत्येक दो मार्ग तथा तीन मध्य में विद्यमान एक मार्ग है। फलत तीन मार्ग हुए। प्रमाण में तैत्तिरीयों का यह उपदेश है—**य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते......**।

इसका आशय प्रकट करते हैं—**अयम्भावः**। ऊर्ध्व रेत: शुक्रं येषान्त ऊर्ध्वरेतसः, अर्थात् सुप्रतिष्ठित ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होकर अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वाले चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। उनकी यह प्राप्ति सालोक्यरूप है। प्रतीकोपासना से, दासभावीय उपासना से और अहङ्ग्रहोपासना (अभेदभावीय उपासना) से क्रमशः सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य रूप मुक्ति की प्राप्ति होती है। इन्हें ही आदित्यप्राप्ति कहते हैं। निर्गुणोपासना रूप ब्रह्मज्ञान से जो सम्पन्न हैं उन्हें कैवल्यरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यहाँ ब्रह्मज्ञान का अर्थ है—**ब्रह्म का ध्यान**। निर्गुण ब्रह्म का ध्यान ही निर्गुणोपासना कही गयी है। श्रीभाष्य में भी आचार्य ने ध्यान, निदिध्यासन, उपासन और भक्ति शब्दों को पर्याय के रूप में स्वीकार किया है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियों में 'वेदन' (विदित्वा) शब्द से उपासना की ही विवक्षा है। श्रीभास्कररायजी के द्वारा प्रयुक्त—**'निर्गुणोपास्तिरूपब्रह्मज्ञानवताम्'** से भी इसी तथ्य की पुष्टि हो रही है। **'निर्गुणोपास्तिरूपं यद् ब्रह्मज्ञानं तेन सम्पन्नामित्यर्थः'** इन तीनों मार्गों का उपबृंहण विष्णुपुराण में भी **'उत्तरं यदगस्त्यस्य'** इत्यादि श्लोकों से कहा गया है जिनका यह अक्षरार्थ है—

'अगस्त्य के उत्तर और अजवीथी से दक्षिण जो मार्ग है वह वैश्वानरमार्ग के बाहर पितृयाण है। आत्मानात्मविवेकज्ञान से जो निर्धारित है वह श्रीविष्णु का परमपद है जहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती।'

तीन मार्गों के कारण प्राप्य पुरियाँ भी तीन होती हैं। इस तरह की तीन पुरियों (लोकों) की प्राप्ति कराने वाली परदेवता भी 'त्रिपुरा' कही जाती है।

'आत्मबुद्ध्या प्रतीकेन मातृबुद्ध्याऽप्यहन्धिया ।
कर्मणाऽपि भजन् मर्त्यः कैवल्यं पदमश्नुते ।।'

इस श्लोक को प्रस्तुत करके आचार्य ने त्रिविध भजन को स्वतन्त्र रूप से कैवल्य का साधन माना है जो नितान्त महत्त्वपूर्ण है। त्रैपुरप्राप्ति ही कैवल्यप्राप्नि है, ऐसा निश्चय भी उक्त श्लोक और **'पञ्चविधात्म-त्रिविधभजनेनापि त्रैपुरप्राप्तेरुक्तत्वात्'**, इस वचन से हो रहा है। **पञ्चविधात्म पञ्चप्रकारस्वरूपमेव यत् त्रिविधं भजनं तेनेत्यर्थः।** कैवल्य, सालोक्य के लिए दो मार्ग और सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य के लिए स्वीकृत तीन मार्गों को आदित्यलोकप्राप्ति का साधन मानने से एक मार्ग स्वीकार करने पर तीन मार्ग पाँच मार्गों में ही सिद्ध हो जाते हैं। वर्णाश्रमोक्त कर्मों से चन्द्रलोक, प्रतीकादि त्रिविध

उपासनाओं से आदित्यलोक और निर्गुणोपासना से ब्रह्मलोक कैवल्य की प्राप्ति पहले कही गयी है। उदाहृत श्लोक से **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** इत्यादिन्याय से पाँचों मार्गों से कैवल्य की प्राप्ति समझनी चाहिये। फलानुसन्धानशून्य उपासना से कैवल्य का लाभ है। माता की बुद्धि से भजन की पुरुषार्थता (धर्मत्व) में यह ग्रन्थ ही पूरा प्रमाण है। इस तरह वेदान्तियों के गलगर्जन पर विराम लग जाता है जो यह कहते हैं कि ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। **'कर्मणाऽपि भजन् मर्त्यः कैवल्यं पदमश्नुते'** के समर्थन में भी अनेक वचन प्राप्त होते हैं। तथाहि—

> **''सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।**
> **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।**
> **एष आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।**
> **सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।**
> **तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।**
> **यस्यैतेऽष्टा चत्वारिंशत् संस्काराः स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकताञ्च गच्छति।''**

इन सारे श्रौत उदाहरणों में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का कर्मानुष्ठान अर्थ है, क्योंकि वेदाध्ययन रूप मुख्य अर्थ स्वीकार करने पर उसकी अपुरुषार्थता सिद्ध होने लगेगी। स्मृतियों में भी अनेक वचन कैवल्य के प्रति कर्म को भी हेतु के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

> **'उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।**
> **तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्।।'**

श्रीविष्णुपुराण में—

> **'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामते।।'**

श्रीभगवद्गीता में—

> **'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।**
> **मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।'** इति (१८/५६)

इसी अभिप्राय से आचार्य श्रीभट्टपाद ने बृहट्टीका में कहा है—

> **'ननु निःश्रेयसं ज्ञानाद् बन्धहेतोर्न कर्मणः।**
> **नैकस्मादपि तत् किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्।।'**

मन्त्रव्याख्यान प्रस्तुत करते हैं—**तस्मात् सैव तिस्रः पुरस्त्रिपुरेति।** तीन पुरियों के लिए तीन मार्ग को लेकर **'त्रिपथा'** पद का प्रयोग है। **'तिस्रःपुरः'** इन दोनों पदों से त्रिकोण चक्र को उपलक्षित किया गया है। तीन प्रकारों को लेकर ही **'त्रिपुरा'** की व्यवस्था है। त्रिप्रकारत्व को श्रीरामानन्दतीर्थ ने कहा है—बिन्दुत्रय (तीन बिन्दु), मात्रात्रय, तत्त्वत्रय, व्याहृतित्रय, वाक्त्रय, बीजत्रय, वेदत्रय, लोकत्रय, गुणत्रयं, सन्तानत्रय, गुरुत्रय, धामत्रय, पीठत्रय, शक्तित्रय, मातृका आदि अष्टमूल त्रिकोणरूप त्रिपुरा का त्रिप्रकारत्व है। **'त्रयः**

पन्थानो यस्याः सा त्रिपथा', इस तरह बहुव्रीहिसमास के कारण **'पथः संख्याव्ययादेः'** से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त नहीं है। नपुंसकलिङ्गता तत्पुरुषसमास में स्वीकृत है। **'चर्षणी'** शब्द वैदिक निघण्टु के अनुसार प्रजा का वाचक है। विश्वचर्षणी देवी ही समास के बल से स्वीकृत हैं—**विश्वाश्चर्षणयः प्रजा यस्यां सा विश्वचर्षणी**। अर्थात् सारी प्रजा जिसमें हो उसे विश्वचर्षणी कहेंगे। इसका अभिप्राय कहते हैं— **समस्तप्राण्युत्पादिकेति यावत् विश्वदृष्टिर्वा।**

संसार के सभी प्राणी भगवती त्रिपुरा से ही उत्पन्न होते हैं। 'विश्वचर्षणी' शब्द को ही श्रौत उदाहरण से विवृत करते हैं—**इदमत्र बोध्यम्। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'**, श्रुति से और **'सोऽकामयत'**, इत्यादि अन्य श्रुति से सिद्ध होने वाला जो ब्रह्म (परमात्मा) का प्रथम ईक्षण (कामना) है वही सकल प्रपञ्च का जनक है तथा वही इच्छारूप और प्रयत्नरूप है। **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**, इस श्रुति से भी 'ब्रह्म की पहले होने वाली वृत्ति इच्छा और प्रयत्नरूप है तथा वह ब्रह्म से अभिन्न भी है', यह बात सिद्ध हो रही है। वही परमात्मा की जगत्सिसृक्षामयी प्राथमिकी वृत्ति इच्छा-ज्ञान-क्रिया की समष्टि रूप होने ने **'शान्ता'** कही जाती है। वही पश्यन्ती-मध्यमा और वैखरी की समष्टि होने से **'परा'** कही जाती है तथा वामा, जेष्ठा और रौद्री का समष्टिरूप होने से 'अम्बिका' कही जाती है। वही **'शान्ता'** देवता ही श्रीचक्र में विद्यमान बिन्दुचक्र है। ऐसा नित्याहृदय में ब्रह्म के प्रकरण में आया है—**प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकं बैन्दवं चक्रम्।** वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, इन तीन माताओं से उल्लसित बिन्दुचक्र है जो विश्वोद्भव का स्थान है।

यही बिन्दुचक्र प्रथम मन्त्र में तिस्रःपुरः, त्रिपथा और विश्वचर्षणी, इन तीन विशेषणों से निर्दिष्ट है। विशेषणों में विद्यमान बहुवचन और एकवचन को लेकर विशेष्य के तीन रूप और उसका एक रूप भी सूचित है। वस्तुतः विशेष्यभूत तत्त्व एक ही है। अद्वैतसिद्धान्त में ब्रह्मरूपतापत्ति ही मोक्ष है। नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म ही तादृशमोक्षावच्छिन्न ब्रह्म है जिसका उपक्रम करके कालिकापुराण में कहा गया है—**त्रिकोण-मण्डलञ्चास्याः।** अर्थात् अम्बिका का मण्डल (स्थान) त्रिकोण है और भूपुर भी तीन रेखाओं वाला है। उसका तीन अक्षरों वाला तन्त्र कहा गया है और रूप भी तीन हैं—लोहित-शुक्ल-कृष्ण। तीन देवों को प्रकट करने के लिए कुण्डली शक्ति भी तीन प्रकार की होती है। इस तरह सभी के तीन-तीन होने से भगवती को 'त्रिपुरा' कहा गया है। देवी अर्थसृष्टि की उत्पादिका हैं, ऐसे निर्देश के बाद मन्त्र में उनकी शब्दसृष्टिजनकता का निर्देश है—**यत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः।**

अर्थात् जिस त्रिपुराख्य त्रिकोणचक्र में अकार-ककार और थकारादि वर्ण सोलह प्रकार से विभक्त हैं—अकार आदि स्वर सोलह, क से त पर्यन्त सोलह वर्ण तथा थ से स तक के सोलह वर्ण। इस तरह सोलह का त्रिक निष्पन्न होता है। इसी तथ्य को विग्रह के माध्यम से आचार्य समझाते हैं—

जिस शान्ता-परा-अम्बिकारूप त्रिपुरा में अकथा: अकारादि, ककारादि और थकारादि सोलह-सोलह की संख्या में वर्ण सन्निविष्ट हैं, वैसे ही जैसे वटबीज में वृक्ष। हकार विमर्शरूप माना गया है, अत: व्यष्टि के रूप में उसकी अलग गणना नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

'हकार कलारूप विमर्शनामक वर्ण है'।

क ककार लकार से भिन्न नहीं है और क्षकार क्-ष् का संयोग ही है अत: उसे अलग वर्ण नहीं माना जा सकता। इस तरह अड़तालिस मातृकायें ही मान्य हैं। जैसा कि सूतसंहिता में उक्त है—

'जो परा कला एक प्रकार की, दो प्रकार (स्वर-व्यञ्जन) की, सोलह (स्वर) प्रकार की और बत्तीस (व्यञ्जन) प्रकार की है उसकी स्तुति करता हूँ।

मन्त्र के पूर्वार्ध से बिन्दुचक्रस्वरूप का कथन करके उसकी अधिष्ठातृदेवता का प्रतिपादन उत्तरार्ध से है—**अधिष्ठाय।** उपदिष्ट त्रिबिन्दुरूपिणी त्रिपुरा को अधिष्ठित करके कोई देवता है। 'अस्ति' पद का अध्याहार कात्यायन के अनुशासन के आधार पर होगा। अथवा बाद वाले मन्त्र में आयी क्रिया के साथ ल्यप् (अधिष्ठाय) का अन्वय होगा। वह देवता अजरा न जीर्यतीति अर्थात् मरती नहीं है—अमर है। 'जॄष वयोहानौ', यहाँ 'हानि' पद से आयु के नाश का ही कथन है अत: 'अजरा' पद से द्योतित किया गया है कि त्रिपुराधिष्ठातृदेवता के आयु का नाश नहीं होता। पुराणी = अनादि अर्थात् वह अजन्मा भी है—**जन्मना रहिता शून्या।** ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि अतीव प्रसिद्ध देवताओं के मध्य में वह सर्वोत्कृष्ट है। उन देवताओं की जो महिमा है तत्स्वरूपा ही है। इसका तात्पर्य प्रकट करते हैं—**देवतान्तराणां माहात्म्यस्यापि एषैव निदानम्।** अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं की जो महिमा श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों में गायी जाती है उसके मूल में त्रिपुराधिष्ठातृदेवता ही है। पुन: तात्पर्य का स्फोरण करते हैं—**एतदुपासनयैव तेषां महिमलाभ इति भाव:।** त्रिपुरा भगवती की उपासना के प्रभाव से ही अन्य देवता महिमामण्डित हुए हैं। इस विषय में प्रमाणों का उपन्यास करते हैं—**'त्रिपुरोपनिषदि'।** इस त्रिपुरोपनिषद् और इसी का अनुगमन करने वाले पुराण-तन्त्र आदि ग्रन्थों में उन विद्याओं को कहा गया है जिनकी उपासना शिव, विष्णु आदि देवता किये हैं।

'शम्भुः पूजयते देवीं मन्त्रशक्तिमयीं शुभाम्'।

इत्यादि वचनों से पद्मपुराण में उन प्रतिमाभेदों का वर्णन है जिनकी उपासना सभी देवता करते हैं। उक्त श्लोक से यह निश्चित हो रहा है कि भगवान् शिव उस देवी का पूजन करते हैं जो मन्त्रमयी, शक्तिमयी और शुभा (कल्याणकारिणी) है। 'मन्त्रमयी' में मयट् प्रत्यय स्वरूप अर्थ में ही सङ्गत होगा 'चिन्मयम्' की तरह। इससे देवता का आकार मन्त्रात्मक प्रतीत हो रहा है जिसके जपादि अनुष्ठान से कैवल्यादि फल की प्राप्ति होती है। इसी को 'शुभाम्' पद से कहा गया है। शक्तिमयी से मन्त्र की अमित शक्ति को समझना

चाहिये। देवता के विषय में आचार्य ने एक प्रकार से जैमिनि के मत को दर्शाया है जिसमें देवता के विग्रहपञ्चक का निराकरण है। तात्पर्य प्रकट करते हैं—**तथा च**। 'अन्य अभिक्षुक यदि उपस्थित हो तो कोई भिक्षुक अन्य भिक्षुक से याचना नहीं करता।', इस न्याय से अन्य देवताओं की उपासना की अपेक्षा परम देवता की उपासना ही श्रेष्ठ है। इस तथ्य को महर्षि दुर्वासा ने अपने परशिवस्तोत्र में यथावत् व्यक्त किया है—**त्वद्दत्तैश्वर्यभाजः**।

अर्थात् हे परमशिव! जिन्हें आपके द्वारा ही ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई है ऐसे इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवता भिक्षुक हैं। ऐसे भिक्षुओं से भला मैं अपने लिए कैसे याचना कर सकता हूँ? देवता जिनसे ऐश्वर्य की भीख माँगते हैं, ऐसे आप से ही मैं सीधे याचना करूँगा। आप जैसे औढर दानी के रहते मैं एक भिक्षुक दूसरे भिक्षुक से याचना नहीं कर सकता। आगे के दो पादों से अपनी बात की पुष्टि के लिए महर्षि दुर्वासा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—**अज्ञोऽपि**। स्तोत्रविशेष से समाप्ति को लेकर ज्योतिष्टोमनामक सोमयाग की चार संस्थायें होती हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। एकाह, द्व्यह, द्वादशाह आदि अनेक विकृति यज्ञ भी वेदों में विद्यमान हैं। अश्वमेध भीं ज्योतिष्टोम का विकृतियाग है। विकृतियज्ञों का अनुष्ठान प्रकृतियज्ञ के समान होता है—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' यह न्याय भी है। द्वादशाह आदि अनेक विकृतियज्ञों का अङ्ग उक्थ्ययज्ञ ज्योतिष्टोमीय उक्थ्य के धर्मों (इतिकर्तव्यता, अङ्ग) को स्वीकार करता है, न कि द्वादशाह उक्थ्य के अङ्गों को। जड उक्थ्य की यह स्थिति है कि प्रकृति के धर्मों की वह अभिलाषा करता है, न कि विकृति के धर्मों की तो चेतन होकर मैं अन्य देवताओं से याचना कैसे कर सकता हूँ? मूलभूत परदेवता परमशिव से मुझे अभिलषित पदार्थ चाहिये, यह महर्षि दुर्वासा की भगवान् शिव से प्रार्थना है।

मन्त्र में 'अजरा' इत्यादि ब्रह्मप्रतिपादक पदों से ब्रह्मचक्र की अधिष्ठातृदेवता परब्रह्म ही कही गयी है। विशेष्यभूत 'देवता' पद की अपेक्षा से 'अजरा' आदि विशेषणों में स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग है। विशेष्य जिस लिङ्ग का होता है उसी लिङ्ग का विशेषण भी होता है। इसीलिए अन्य श्रुतियों में विशेष्यभूत नपुंसक लिङ्ग 'ब्रह्म' शब्द को लेकर 'अजर' आदि शब्दों का नपुंसक लिङ्ग में भी प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में ऐसा उल्लेख है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरणमयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषा वृतः ।
तस्मिन् हिरणमये कोशे त्र्यस्त्रे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् तद्यक्षमात्मन् वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

इस मन्त्र से श्रीचक्र का स्वरूप प्रकट होता है। **अष्टौ चक्राणि यस्याः साऽष्टचक्रा पूः श्रीविद्यानगरम्**। अष्टकोण, दो दशकोण, चतुर्दशकोण, अष्टपत्र, षोडशपत्र, त्रिवलय और त्रिरेखा, ये सभी आठ चक्र कहे जाते हैं। **अत एवास्या नव द्वाराणीति**। त्रिकोण रूप नौ द्वार श्रीविद्यापुरी के माने जाते हैं। इन्द्र आदि देवों के द्वारा पूज्य पुरी अयोध्या मन्दभाग्य और संसारिक विषयों में ही लगे रहने वाले पुरुषों के लिए अप्राप्य है। **दीव्यन्तीति** व्युत्पत्ति से पचीस तत्त्वों को देव कहते हैं। इन सभी तत्त्वों का भी अधिष्ठान 'देव' पद से चन्द्र-

सूर्य-अग्नि को लेकर भी सोमसूर्यानलात्मक श्रीचक्र की सङ्गति हो सकती है। व्यष्टिरूप से तीन पुरियाँ कही गयी हैं—**तिस्रःपुरः**। यहाँ समष्टि की दृष्टि से 'पूः' एक वचन है। **तस्यां हिरण्मयः कोशः** अर्थात् श्रीचक्र के मध्य में सहस्रदल कमलकोश है। इसी कोश की ज्योति से स्वर्ग लोक आवृत रहता है। स्वर्ग लोक से ऊपर परदेवता के वैकुण्ठलोक की सिद्धि इससे हो रही है। द्वितीय श्लोक में पुराधिष्ठातृपरदेवता की स्थिति का वर्णन है। कुण्डलिनी के उपासक मूलाधार आदि चक्रों को लेकर शरीर को ही पुरी के रूप में स्वीकार करते हैं।

दोनों श्लोकों के तात्पर्य को आचार्य स्वयम् कहते हैं—**भूपुरादि**।

भूपुर आदि त्रिकोण पर्यन्त अष्ट चक्रों के ऊपर जो कोश है वही वस्तुतः तीन रूपों को अपने अन्दर समेटने वाला बिन्दु है। उसी बिन्दुरूप कोश में यक्ष अर्थात् महद् भूत है। यहाँ बहिःपूजा के योग्य न होने के कारण ही परब्रह्म का 'यक्ष' पद से निर्देश है। उस ब्रह्मतत्त्व को ब्रह्मज्ञानी ही अपनी आत्मा में जानते हैं। अन्य नहीं जानते। जीवात्मा का भी आत्मा परमात्मतत्त्व है अर्थात् जीव परमात्मा के शरीर हैं। अन्यत्र भी यही श्रुत है-

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

नवयोनीर्नाव चक्राणि दीधिरे नवैव योगा नव योगिनीश्च ।
नवानां चक्रे अधिनाथाः स्योना नवमुद्रा नव भद्रा महीनाम् ।।२।।

श्रीरामानन्दकृतभाष्यम्—

पराभट्टारिकामयं बिन्दुतत्त्वमेवोर्ध्वाधोमुखनवयोन्यात्मकं श्रीचक्रम-भवदित्याह नवयोनीरिति।

नवधा भिन्ना योनयः यस्याः सकाशात् सा नवयोनिः, 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येक' इति वा ङीष्। नवत्रिकोणकारणेत्यर्थः। एता नव योनयो वामादिनवशक्तिमयाः। तथा च कामकलाध्याने—

'एतत्पश्यन्त्यादित्रितयनिदानं त्रिबीजरूपं च ।
वामा ज्येष्ठा रौद्री चाम्बिकयाऽनुत्तरांशभूताः स्युः ।।
इच्छा ज्ञानं क्रिया शान्तेति चतस्र उत्तरावयवाः ।
व्यस्ताऽव्यस्ततदर्णद्वयमिदमेकादशात्म पश्यन्ती ।।' इति।

अयमर्थः—वामा ज्येष्ठा रौद्री अम्बिका चकारात् परा शक्तिश्च। इमाः पञ्चशक्तयः अनुत्तरांशभूताः। श्रीचक्रान्तर्गताधोमुखानि पञ्चत्रिकोणानि, अंशेन

भूता जाता इत्यर्थः। इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शान्ता एताश्चतस्रः शक्तयः उत्तरावयवा ऊर्ध्वत्रिकोणचतुष्टयरूपाः। अयं भावः—परविलसनरूपा एताः पश्यन्ती-वामा-ज्येष्ठा-रौद्री-अम्बिका-इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शान्ताश्चेति एतच्छक्तिनवकरूपं नवत्रिकोणं चक्रमिति। एतच्चतुःशत्याम्—'आत्मनः स्फुरणं पश्येत् यदा सा परमा कला' इत्यारभ्य 'वैखरी विश्वविग्रहे' त्यन्तेन सम्यङ् निरूपितम्। तत् तत एवाऽवगन्तव्यम्। व्यस्ताऽव्यस्ततदर्णद्वयम्—व्यस्तं व्यष्टिरूपम्, अव्यस्तं समष्टिरूपम्, सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम् अर्णद्वयं सन्दंशन्यायेन अखिलाक्षरात्मक-मातृमान्त्रमयप्रकाशविमर्शरूपपूर्णाहन्ताभावगर्भकामकलाक्षरात्मकबिन्दुसत्त्वमित्यर्थः। अत्रेदं तत्त्वम्—पूर्णाहन्तामयं परं ब्रह्म, पत्नीविशिष्टमेव सकलकार्यनिर्वाहकमिति सर्वागमप्रसिद्धम्। तथा बृहदारण्यके—'**आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्य-दात्मनोऽपश्यत्, सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्। ततोऽहं नामाऽभवत्। तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमित्येवाग्र उक्त्वा अथाऽन्यन्नाम प्रब्रूते**, इत्युपक्रम्य, पूर्णाहन्तामयपरब्रह्मस्वरूपं दिव्यदम्पतीरूपत्वेनाऽऽस्थाय सर्वतत्त्वनिर्मातृत्वेन विद्योतत' इत्युक्त्वा उपरितनवाक्यैः निरूप्यते। यथा '**स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स इयमेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवतामि**'**त्यादिना** सपत्नीकमेव ब्रह्म प्रतीयते। एवम्भूतमर्णद्वयम् एकादशात्मकं संहृत्य विचार्यमाणे एकादशविधं भवतीत्यर्थः। कथम्? परादिशान्तान्तं शक्तिदशकम्, व्यष्टिरूपं सर्व-समष्टिरूपत्वेन चैकम्। तेन च एकादशात्मकं बिन्दुतत्त्वमेव पश्यन्तीकारणम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपसीते'तिवत् कार्यकारणयोः अभेदव्यपदेशेन। नव धातव एताश्च नव योनयः। नव धातुहेतवः। तथा चोक्तं कामिकायाम्—

'त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिधातवः शक्तिमूलकाः ।
मज्जशुक्लप्राणजीवधातवः शिवमूलकाः ।।
नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भवः ।
दशमो योनिरेकैव पराशक्तिस्तदीश्वरी ।।'

दशमी योनिः बैन्दवं स्थानम्, तदीश्वरी तस्य देहस्येत्यर्थः।

'एवं पिण्डाण्डमुत्पन्नं तद्वद् ब्रह्माण्डमुद्बभौ ।
पञ्चभूतानि शाक्तानि मायादीनि शिवस्य तु ।।
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ ।'

एकादशेन्द्रियाणि शब्दादितन्मात्रास्तच्छब्देन परामृश्यन्ते ।
'शिवशक्त्यात्मकं विद्धि जगदेतच्चराचरम् ।।'

चरं पिण्डाण्डम्, अचरं ब्रह्माण्डमित्यर्थः। केचित् षट्त्रिंशत् तत्त्वान्याहुः। तत् उत्तरत्र वक्ष्यामः। एकपञ्चाशत् तत्त्वानीति पौराणिकाः कथयन्ति। तथाहि—

'पञ्चभूतानि तन्मात्रपञ्चकं चेन्द्रियाणि च ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।।

त्वगादिधातवः सप्त पञ्च प्राणादिवायवः ।
मनश्चाहङ्कृतिः ख्यातिर्गुणाः प्रकृतिपूरुषौ ।।

रागो विद्या कला चैव नियतिः काल एव च ।
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ ।।

शक्तिश्च शिवतत्त्वं च तत्त्वानि क्रमशो विदुः ।'

एतानि एकपञ्चाशत् तत्त्वानि वायव्यसंहितादिशैव पुराणेषु सर्वेषु प्रतिपादितानि। एतेषु तत्त्वेषु कतिचन तत्त्वानि कुत्रचिद् अन्तर्भवन्ति। त्वगादिसप्तधातवः भूतेष्वन्तर्भूताः। प्राणादिवायवो वायावन्तर्भवन्ति। अतो भूतेषु एषामन्तर्भावः। अहङ्कारस्य मनसि अन्तर्भावः। ख्यातेः विद्यायाम् अन्तर्भावः। गुणानां प्रकृतावन्तर्भावः। प्रकृतेस्तु शक्तावन्तर्भावः। पुरुषस्य महेश्वरेऽन्तर्भावः। प्रकृतेस्तु शक्तावन्तर्भावः। पुरुषस्य महेश्वरेऽन्तर्भावः। कलायाः शुद्धविद्यायामन्तर्भावः। नियतेस्तु शक्तावेव अन्तर्भावः। कालस्य महेश्वरे सदाशिवे अन्तर्भावः। शक्तेस्तु शुद्धविद्यायामन्तर्भावः। शिवतत्त्वस्य सदाशिवे अन्तर्भाव इति। तत्त्वानि पञ्चविंशतिरेव। पञ्चभूतानि तन्मात्रपञ्चकं पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाणि माया-शुद्धविद्या-महेश्वर-सदाशिवात्मकानि चत्वार्येतानि पञ्च-विंशतितत्त्वानि सम्मतानि श्रुत्यनुगृहीतत्वात्। तथा च श्रुतिः—'**पञ्चविंश आत्मा भवती**'ति। अतश्च सर्वतत्त्वातीतं शिवशक्तिसम्पुटम्, तस्मादेव जगदुत्पत्तिः। तदुक्तं सुभगोदये—

'परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
शक्तः स्यात् परमेशानि! शक्त्या युक्तो भवेद् यदि ।।' इति।

भैरवयामले चन्द्रज्ञानविद्यायामपि—

'साधु साधु महाभागे! पुष्टं त्रैलोक्यसुन्दरि! ।

गुह्याद् गुह्यतरं ज्ञानं न कुत्रापि प्रकाशितम् ।।

कलाविद्या परा शक्तिः श्रीचक्राकाररूपिणी ।
तन्मध्ये बैन्दवं स्थानं तत्राऽऽस्ते परमेश्वरी ।।

सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती ।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि! ।।

पञ्चभूतात्मकं चैव तन्मात्रात्मकमेव च ।
इन्द्रियात्मकमेवं च मनस्तत्त्वात्मकं तथा ।।

मायादितत्त्वरूपं तु तत्त्वातीतं तु बैन्दवम् ।
बैन्दवे जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी ।।

सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी ।।' इति।

यत् तु श्रीभगवद्गीतायाम्—

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।'

इति भगवद्वचनम्, तत् 'अष्टयोनिमष्टपुत्रामि'त्यादिश्रुत्यनुसारेण चित्तस्य बुद्धौ अन्तर्भावमङ्गीकृत्य भगवता प्रतिपादितमिति अवगन्तव्यम्।

'बिन्दुरूपा परा योनिरि'त्युक्तम्, तदेव स्पष्टीकरोति- **'नवचक्राणि दीधिरे'** इति। नवसङ्ख्याकानि चक्राणि दीधिरे चकाशिरे। 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोरिति धातोर्लिट्। बिन्दोरुभयत ऊर्ध्वत्रिकोणाश्चत्वारः। अधस्त्रिकोणाः पञ्च। आहत्य नवसङ्ख्यानि त्रिकोणचक्राणीत्यर्थः। एतानि मध्यमाया व्यष्टिरूपाणि वामादि-शब्दवाच्यानि त्रिकोणचक्राणि नवैव दीधिरे इत्यर्थः। 'परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चतुर्धा वाग्भिन्ने'ति प्रागुक्तम्। 'श्रुतिगोचरा मध्यमे'त्यादिलक्षणमपि निरूपितम्।

इदानीं तासां चक्रस्वरूपत्वं वक्तव्यमिति कामकलाविद्यायां प्रोक्तमुदाहृत्य प्रदर्श्यते। यथा—

'याऽसान्तरोहरूपा परा महेशी त्रिभाविताकारा ।
स्पष्टा पश्यन्त्यादित्रिमातृकात्मा च चक्रतां याता ।।

चक्रस्यापि महेश्या न भेदलेशोऽपि भाष्यते विबुधैः ।
अनयोः सूक्ष्माकारा परैव सा स्थूलयोश्च न कापि भिदा ।।

मध्यं चक्रस्य स्यात् परामयं बिन्दुतत्त्वमेवेदम् ।
उच्छूनं तच्च यदा त्रिकोणरूपेण परिणतं स्पष्टम् ।
एतत् पश्यन्त्यादित्रितयनिदानं त्रिबीजरूपं च ।।

वामा ज्येष्ठा रौद्री चाम्बिकयाऽनुत्तरांशभूताः स्युः ।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शान्ताश्चैताश्चोत्तरावयवाः ।।

व्यस्ताव्यस्ततदर्णद्वयमिदमेकादशात्मपश्यन्ती ।
एवं कामकलात्मा त्रिबिन्दुतत्त्वस्वरूपवर्णमयी ।
सेयं त्रिकोणरूपा याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता ।।

एका परा तदन्या वामादिव्यष्टिमातृसृष्ट्यात्मा ।
तेन नवात्मा जाता माता सा मध्यमाभिधानाभ्याम् ।।

द्विविधा हि मध्यमा सा सूक्ष्मा स्थूलाकृतिस्थिता सूक्ष्मा ।
नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा च भूतलिप्याख्या ।।

आद्या कारणमन्या कार्यं त्वनयोर्यतस्ततो हेतोः ।
सैवेयं न हि भेदस्तादात्म्यं हेतुहेतुमतोर्दिष्टम् ।। इत्यादि।

'परया पश्यन्त्याऽपि च मध्यमया स्थूलसूक्ष्मरूपिण्या ।
एताभिरेकपञ्चाशदक्षरात्मिका वैखरी जाता ।।' इति।

अयमर्थः—असान्तरोहरूपा-अन्तरम्-अन्तःकरणं तस्मिन्नूहः वितर्कः, इत्थमिति परिच्छेदः। तेन सहितं रूपं यस्याः सा सान्तरोहरूपा, सा न भवतीति अवाङ्मनसगोचरा सर्ववेदान्तैरपि परिच्छेत्तुमशक्या सर्वकारणभूता शिवादिधरण्यन्ततत्त्वसङ्घाताऽऽविर्भावभूमिः महेश्वरी परा सर्वोत्कृष्टेत्युच्यत इति भावः। श्रुतिश्च—'परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते' इति। आगमश्च- 'स्वरूपज्योतिरेवान्तःपरा वागनपायिनी' इति।

एवम्भूतलक्षणा सैव परा शक्तिरेव 'स्पष्टा पश्यन्त्यादित्रिमातृकात्मे'ति स्पष्टा प्रथमोत्पन्नत्वेन विवक्षिता, विषयिणी पश्यन्तीत्युच्यते। [१]आदिशब्देन मध्यमा वैखरी च। सैव वैखरीनामा अखिलवर्णरूपा। एवंरूपा त्रिमातृकात्मिका सैव परा, चक्रतां याता प्राप्ता। त्रिखण्डचक्रैक्यमियायेत्यर्थः। एतदेवाह— 'चक्रस्यापी'ति। त्रैलोक्यमोहनादिबैन्दवान्तनवावरणात्मकस्य सुन्दर्यधिष्ठान-भूतस्य चक्रस्य, महेश्याः तदधिष्ठात्र्याः सुन्दर्याश्च भेदलेशः ईषद्भेदोऽपि

१. 'पश्यन्त्यादित्रिमातृकात्मा' इत्यत्रादिशब्देनेत्यर्थः।

विबुधैः विशेषज्ञैः न विभाव्यते नाऽनुभूयते। कुतः? श्रीसुन्दरीरूपत्वात् श्रीचक्रस्य। पुनरपि तादृगभेदमेव तयोराचष्टे—**'अनयोः सूक्ष्माकारे'** त्यादिना। अनयोः सूक्ष्मरूपयोः चक्रदेवतयोः। सूक्ष्मरूपत्वं नाम अपरिच्छिन्नत्त्वमेव। तत्र श्रीचक्रस्य सूक्ष्मरूपेणाऽवस्थानं बिन्द्वात्मना बिन्दोश्च अपरिच्छिन्नत्वं **'बैन्दवे परमाकाशे'** इत्यादिनाऽवगन्तव्यम्। देवताया अपि **'विद्याऽपि तादृगात्मे'**त्यादिना अभिहितमेव। तथा स्थूलयोश्चक्रदेवतयोश्च। अत्र स्थूलत्त्वं नाम चक्रस्य त्रिकोणादिचतुरस्र-पर्यन्तविजृम्भणम्। देवताया अपि त्रिपुराऽम्बिकादित्रिपुराशक्त्यन्तरूपेणाऽऽमननम्। एवंविधयोश्चक्रदेवतयोः भेदो न कदाचिदि-त्यर्थः।

अत्र हेतुमाह—'सा परैव सूक्ष्माकारे'ति। सा पूर्वोक्तलक्षणा परैव आदि-शक्तिरेव, सूक्ष्माकारा सूक्ष्मभूत आकारः स्वरूपमनयोरित्यर्थः। अत एव हेतोः ईषद्भेदोऽपि विद्वद्भिर्नानुभूयते। 'मध्यं चक्रस्य स्यादि'त्यादि 'वामा ज्येष्ठे'त्यारम्भ्य 'एकादशात्मपश्यन्ती'त्यन्तं व्याख्यातम्। 'एवं काम-कलात्मे'ति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थः। कामकलात्मा—'कामः' प्रकाशैकस्वभावः अनुत्तराक्षरात्मा परमशिवः। 'कला' अखिल-वर्णान्त्यपरमहंसाक्षरमयी विमर्शविग्रहा। 'तदुभयात्मकं' नाम स्वाभाविकपरिपूर्णाहम्भावशीलत्वम्। एवंरूपा कामकलात्मिका 'त्रिबिन्दुतत्त्व-स्वरूपवर्णमयी'—त्रिबिन्दवः रक्तशुक्लमिश्ररूपाः, तेषां स्वभावस्तत्त्वम्, तत्स्वरूपा ये वर्णाः (अं, हं, अहं) वाग्भवादयः, तदात्मिका सेयम्। 'त्रिकोणरूपा' सच्चिदानन्दघनपरमार्थसकलाम्नायसारभूता, इयं विश्वाहम्भावनाकारिभिः महायोगिभिः आत्मसाक्षित्वेनाऽनुभूयमाना, 'त्रिगुणा' इच्छा-ज्ञान-क्रिया-माया-शक्तिमयी सत्त्वरजस्तमोरूपा। अत एव 'माता' सर्वजगन्निर्मात्री। 'आत्मा वा इदमेक अग्र आसीत्' इति श्रुत्युक्तरीत्या सर्वतत्त्वातीता परा शक्तिः। त्रिकोणरूपम् अनुत्तरानन्देच्छासङ्घट्टत्रिकोणमित्यभियुक्तोक्तरीत्या सर्वसिद्धिप्रदायिकाऽति-रहस्यभूतत्रिकोणचक्रं याता तन्मयी जातेत्यर्थः।

एका परेति। सत्त्वरजस्तमोगुणसाम्यरूपा। तदन्या पश्यन्ती। अन्यत्र अनुत्तरगुणरूपवैषम्यरूपेत्यर्थः। मध्यमा-वामादि-व्यष्टिरूपा स्थूलात्मिका वामादिशक्तयः बैन्दवस्थानस्योभयत्र सम्पुटत्वेनाऽवस्थिताः। एता एव व्यूहशब्द-वाच्याः सत्यो नवात्मकशब्देन व्यवह्रियन्ते। समष्टिरूपास्ताः पराः या मन्त्रभूताः। तेन कारणेन नवात्मा जाता। सा मध्यमाऽभिधानाभ्याम् नामभ्याम्। द्विविधा हिं यस्मात् सा मध्यमा सूक्ष्मा स्थूलाकृतिश्चेति द्विधा। सूक्ष्मस्वरूपमाह—'स्थिते'ति। स्थैर्यावस्थायुक्त्यवस्थायामेव भाव्या। 'नवनादमयी'ति नवनादस्वरूपिणी नववर्गात्मा

च-अ क च ट त प य श लाः परस्परभिन्नजातीयाः, स्वर-कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्ग क वर्गाणां परस्परमभिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वात्।

तत्र प्रमाणमाह—**'भूतलिप्याख्येति'**। ह य र व लाख्यलिपिरूपाभिख्या विज्ञेया, मिथ्यारूपाया लिपेराख्यापनत्वं दर्पणप्रतिबिम्बस्य मुखज्ञापकत्वमिव न विरुध्यते। **'आद्या कारणमन्ये'**ति। आद्या सूक्ष्मरूपा मध्यमा कारणम्, स्थूलरूपा या मध्यमा कार्यम्; अनयोः सूक्ष्मस्थूलयोः कार्यकारणयोः यतस्ततो हेतोः सैवेयं सैव सूक्ष्मैवेयं स्थूला। अतः स्थूल-सूक्ष्मयोरैक्याभेदविमर्शदशायामपि न कोऽपि भेदहेतुरस्तीति तात्पर्येणोक्तं 'यतस्ततो हेतोः' इति। तदेव प्रतिपादयति—**'न हि भेद'** इति। हेतुहेतुमत्तादात्म्यमभीष्टमित्यन्वयः। सर्वत्र तादात्म्यं हेतुहेतुमद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यर्थः। **'परये'ति।** परा-पश्यन्ती-मध्यमाभिरेताभिः एकपञ्चाशद्-वर्णात्मिका वैखरी वाक् जातेत्यर्थः। तत्र श्रुतिः—**'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'** इति। अस्या अर्थः—चत्वारि-चतुःसङ्ख्याकानि, वाक् = वाचि। सप्तम्यर्थे प्रथमा। परिमिता परिमितानि, पदानि = वाक्यानि परा-पश्यन्ती-मध्यमासंज्ञकानि, तानि पदानि। विदुः ब्राह्मणाः वेदविदः। ये मनीषिणः धीमन्तः योगिनो वा। गुहा गुहायाम्। अन्तरे त्रीणि पदानि = परा पश्यन्ती-मध्यमाख्यानि निहितानि निक्षिप्तानि, नेङ्गयन्ति न चलयन्ति। न बहिर्निःसरन्तीत्यर्थः। तुरीयं चतुर्थं पदं वैखर्याख्यं योगिनो वाचः भारत्याः मनुष्याः वदन्ति जल्पन्तीत्यर्थः। तस्मान्मध्यमाया व्यष्टिरूपाणि वामादिशब्दवाच्यानि नवत्रिकोणचक्राणि इति सिद्धम्। यथोक्तं चतुःशत्याम्-

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ।।' इति।

मूलप्रकृतिरूपाणां नवानां रेखाणां संयोगादपि नवैवेत्याह—**'नवैव योगा'** इति। नवानां रेखाणां त्रिकोणत्वसम्पादकप्रान्तरेखाद्वयसंयोगाच्च **'नवसङ्ख्याका एव दीधिर'** इत्यन्वयः।

श्रीचक्रलेखनम्

एतत् सर्वं चक्रलेखनापरिज्ञाने ज्ञातुं दुःशकमिति चक्रलेखनप्रकारो निरूप्यते। स च द्विप्रकारः सृष्टिक्रमेण संहारक्रमेण चेति। यद्यपि संहारक्रमेण लेखनं कौलमार्ग एव तथापि नवयोनिपरिज्ञानार्थं स प्रकारो निरूप्यते। पुरतो वृत्तमालिख्य, तन्मध्ये नवलेखा विलिख्य, पश्चिमरेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य, स्वापेक्षया

षष्ठ्या रेखया योजयेत्। एवं प्राग्रेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य, स्वापेक्षया सप्तम्या रेखया योजयेत्। पश्चिमद्वितीयरेखा-प्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षयाऽष्टम्या योजयेत्। ततः प्राक्पश्चिम-तृतीयरेखाप्रान्ताभ्यां षट्कोणमालिखेत्। षट्कोणमध्यस्थितह्रस्वरेखात्रितये पश्चिमरेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षया पञ्चम्या योजयेत्। एवं प्राग्—रेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षया पञ्चम्या योजयेत्। मध्यस्थितातिह्रस्वरेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षया तृतीयरेखया योजयेत्। एतत् कौलमतं नवयोनिचक्रं भवति।

सृष्टिक्रमेण लेखनप्रकारो महोपनिषदि प्रतिपादितः—

यथा—'देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन्। महाचक्रं चक्रनायकं नो ब्रूहीति। सर्वकामिकं सर्वाराध्यं सर्वरूपं सर्वतोमुखं मोक्षद्वारम्। यद् योगिनः प्रपद्य परं ब्रह्म भूत्वा निर्वाणमुपदिशन्ति। तान् स होवाच भगवान्। श्रीचक्रं व्याख्यास्यामः। आद्यं त्रिकोणं त्र्यश्रं कृत्वा तदन्तर्मध्यवर्तिमान-यष्टिरेखामाकृष्य विशालं नीत्वाऽग्रतो योनिं कृत्वा पर्वयोन्यग्ररूपिणीं मानयष्टिरेखां कृत्वा तां सर्वोर्ध्वां कृत्वा योनिं कृत्वा आद्यं त्रिकोणचक्रं भवति। द्वितीयमन्तरालं भवति। तृतीयमष्टयोन्यङ्कितं भवति। अथाऽष्टारचक्राद्यन्तविदिक्कोणाग्रतो रेखां नीत्वा साध्याद्याकर्षणबद्धरेखां नीत्वेत्येवमथोर्ध्वसम्पुटयोन्यङ्कितं कृत्वा कक्षाभ्य ऊर्ध्वरेखाचतुष्टयं कृत्वा यथाक्रमेण मानयष्टिद्वयेन दशयोन्यङ्कितं भवति। अनेन प्रकारेण पुनर्दशारं चक्रं भवति। मध्यत्रिकोणाग्रचतुष्टयाद् रेखा चाराग्रकोणेषु ऊर्ध्वं योनिं सम्पुटं कृत्वा मध्यचतुष्टयकक्षाभ्यो रेखाचतुष्टयं कृत्वा दशाऽराद्यकोणेषु संयोज्य तद्दशारांशतो नीतां मानयष्टिरेखां योजयित्वा चतुर्दशारं चक्रं भवति। षोडशपत्रसंवृतं चक्रं चतुर्द्वारं भवति, ततः पार्थिवं चक्रं चतुर्द्वारं भवति, एवं सृष्टियोगेन चक्रं व्याख्यातमेतन्नवात्मकमि'ति। एवं योगाश्च नवैव चकासतीत्यर्थः। योगिन्यश्च विविधा एव सन्तीत्याह—**'नव योगिनीश्चे'**ति। योगिन्यः प्रकटादयो नव विद्या एव दीधिरे इत्यर्थः। यथा प्रकटयोगिन्यो गुप्तयोगिन्यो गुप्ततरयोगिन्यो सम्प्रदाययोगिन्यः कुलोत्तीर्णयोगिन्यो निगर्भयोगिन्यो रहस्ययोगिन्यो रहस्यतरयोगिन्यः परापररहस्ययोगिन्य इत्येवं नवयोगिन्यश्चकासतीत्यर्थः। तत्र सिद्धिदेव्यो दश ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः, मुद्रादेव्यो दश, एतास्त्रिविधाः प्रकटयोगिन्याख्याः। एतासां सिद्धदेव्यो-ऽणिमाद्याः, अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, ईशित्वं, वशित्वं, प्राकाम्यं भुक्तिः प्राप्तिः सर्वकामेति। एताश्चतुर्भुजा जपाकुसुमवर्णाश्चिन्तामणिक-पालत्रिशूलसिद्धकज्जलजलधरा ध्येयाः। ब्राह्म्याद्यास्तु ब्राह्मी माहेश्वरी वैष्णवी वाराही माहेन्द्री चामुण्डी कौमारी महालक्ष्मीत्यष्ट शक्तयः।

एता द्विभुजाः शोणविग्रहाः कपालमुत्पलं च दधाना रक्तवस्त्रा ध्येयाः। ब्रह्मादिसदृशाकाराः ब्रह्मादिसदृशायुधधराश्च। मुद्रादेव्यस्तु सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशङ्करिणी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहाङ्कुशा, सर्वखेचरी, सर्वबीजा, सर्वयोनिः सर्वत्रिखण्डिनीति दश। एता दाडिमीपुष्पसङ्काशाश्चतुर्भुजा मुद्राविरचनयुक्त-हस्त-गदा-भुजद्वययुत-चर्मकृपाणिकाः मन्दरक्तविलोलाक्ष्यः ध्येयाः। एवमष्टाविंशतिसंख्याकाः प्रकटयोगिन्यो ज्ञेयाः। गुप्तयोगिन्यः षोडश। कामाकर्षिणी बुद्ध्याकर्षिणी, अहङ्काराकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षणी, शरीराकर्षिणी चेति। एताः षोडश शीतांशुकलारूपा विद्रुमनिभा मन्द-स्मितमुखारविन्दाश्चतुर्भुजास्त्रिणेत्राश्चन्द्रार्धमुकुटोज्ज्वलाश्चापबाणखड्गचर्मधरा ध्येयाः। अष्टौ गुप्ततरयोगिन्योनङ्गकुसुमा अनङ्गमेखला अनङ्गमदना अनङ्ग-मदनातुरा अनङ्गरेखा अनङ्गवेगा अनङ्गाङ्कुशा अनङ्गमालिनीति एता जपाकुसुमनिभा इक्षु-चापपुष्पशरपुष्पकन्दकोत्पलानि चतुर्भुजैर्दधाना ध्येयाः। सम्प्रदाय-योगिन्यश्चतुर्दश। सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसम्मोहिनी, सर्वस्तम्भिनी, सर्वजृम्भिणी, सर्ववशङ्करी, सर्वरञ्जिनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसम्पत्तिपूरणी सर्वमन्त्रमयी, सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करी चेति एता वेणीकृतकचा सिन्दूरतिलकोज्ज्वला अतितीव्र-स्वभावाः, कालानलसमानकान्तयश्चतुर्भुजा, वह्निचापवह्निबाण-वह्निखड्ग-वह्निचक्रफलकान् दधाना दीप्तविग्रहा ध्येयाः। कुलोत्तीर्ण-योगिन्यो दश-सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसम्पत्प्रदा, सर्वप्रियङ्करी, सर्वमङ्गलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्वदुःखविमोचिनी, सर्वमृत्युप्रशमनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वाङ्गसुन्दरी, सर्वसौभाग्यदायिनी चेति। एताः स्फटिकसङ्काशाः परशुपाशगदाघण्टामणिधरा भ्रुकुटीकुटिलाननाः साधकेषु दयार्द्रहृदया ध्येयाः। निगर्भयोगिन्यो दश-सर्वज्ञा सर्वशक्तिः सर्वैश्वर्यप्रदा सर्वज्ञानमयी सर्वव्याधि-विनाशिनी सर्वाधारस्वरूपा सर्वपापहरा सर्वानन्दमयी सर्वरक्षास्वरूपिणी सर्वेप्सितफलप्रदेति। एता मुक्ताहारसमवर्णाश्चतुर्भुजा वज्रशक्तितोमरचक्राणि दधाना ध्येयाः।

अष्टौ रहस्ययोगिन्यः—वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी कौलिनी, चेति। एताः रक्ताशोकप्रसूनवर्णाश्चतुर्भुजा बाण—कार्मुकवीणापुस्तकधारिण्यः कवचच्छन्नसर्वाङ्ग्यो ध्येयाः।

रहस्यतरयोगिन्यः—महाकामेश्वरी, महावज्रेश्वरी महाभगमालिनी चेति। एता अष्टभुजाः चापबाण-पानपात्र-मातुलिङ्ग-कृपाण-फलक-नागपाश-घण्टाधरा

मदिरामत्ताः ललितासमानमाहात्म्यतेजसो ध्येयाः। परापर-रहस्ययोगिनी एकैव। पाशाऽङ्कुशेक्षुचाप-पुष्पबाणालङ्कृतचतुर्भुजा जपाकुसुमपाटला कामेश्वराङ्कनिलया ध्येया। अस्या एव देहावयवा इतरा योगिन्यः। तथा चोक्तं कामकलास्तोत्रे—

'सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत यदा ।
तद्देहावयवानां परिणतिरावरणदेवताः सर्वाः ।।

आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी ।
कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा ।।

पाशाङ्कुशेक्षुचापप्रसूनशरपञ्चकाञ्चितस्वकरा ।
बालारुणाऽरुणाङ्गी शशि-भानु-कृशानुलोचनत्रितया ।।

तन्मिथुनं गुणभेदादास्ते बिन्दुत्रयात्मके त्र्यस्त्रे ।
कामेशी-मित्रेश-प्रमुखद्वन्द्वत्रयात्मना विततम् ।।

वसुकोणनिवासिन्यो यास्ताः सन्ध्यारुणा वशिन्याद्याः ।
पुर्यष्टकमेवेदं चक्रतनोः संविदात्मनो देव्याः ।।

तद्विषयवृत्तयस्ताः सर्वज्ञादिस्वरूपमापन्नाः ।
अन्तर्दशारनिलया लसन्ति शरदिन्दुसुन्दराकाराः ।।

तद्बाह्यपङ्क्तिकोणेषु योगिन्यः सर्वसिद्धिदाः पूर्वाः ।
देवी धीकर्मेन्द्रियविषयमया विशदवेषभूषाढ्याः ।।

भुवनारचक्रभवना देवीमनुकरणविवरणस्फुरणाः ।
सन्ध्यासवर्णवसनाः सञ्चिन्त्याः सम्प्रदाययोगिन्यः ।।

अव्यक्तमहदहङ्कृतितन्मात्रस्वीकृताङ्गनाकाराः ।
द्विरदच्छदनसरोजे जयन्ति गुप्ततरयोगिन्यः ।।

भूतानीन्द्रियदशकं मनश्च देव्या विकारषोडशकम् ।
कामाकर्षिण्यादिस्वरूपतः षोडशारमध्यास्ते ।।

मुद्रास्त्रिखण्डया सह संविन्मय्यः समुच्छ्रिताः सर्वाः ।
आदिमहीगृहवासा भासा बालार्ककान्तिभिः सदृशाः ।।

आधारनवकमस्या नवचक्रत्वेन परिणतं येन ।
नवनाथशक्तयोऽपि च मुद्राकारेण परिणतास्तेन ।।

अस्यास्त्वगादिसप्तकमाकारश्चैवमष्टकं स्पष्टम् ।
ब्राह्म्यादिमातृरूपं मध्यमभूबिम्बमेतदध्यास्ते ।।

अणिमादिसिद्धयोऽस्याः स्वीकृतकमनीयकामिनीरूपाः ।
विद्यान्तरफलभूता गुणभावेनान्त्यभूमिकेतनगाः ।।'

इत्येवं नवविधयोगिन्यश्चकासतीत्यर्थः ।

चक्रिण्यश्च नवैवेत्याह—**'नवानां चक्रे' त्यादिना।** नवानां चक्राणां विभक्तिलोपः छान्दसः। **बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारद्वय-चतुर्दशकोणा-ऽष्टदलपद्मषोडशदपद्म-भूपुरत्रयरूपाणां** सर्वानन्दमय-सर्वसिद्धिप्रद-सर्व-रोगहर-सर्वरक्षाकर-सर्वार्थदायक-सर्वसौभाग्यदायक-सर्वसङ्क्षोभण-सर्वाशापूरक-त्रैलोक्यमोहननामधेयानां नवानां चक्राणामित्यर्थः।

ननु पूर्व 'नव चक्राणि दीधिरे' इत्यत्र मध्यमाया व्यष्टिरूपाणि वामादिशब्दवाच्यानि नवत्रिकोणचक्राणीति व्याख्यातम्। तत्र त्रिकोणा-ऽष्टकोण-दशकोणद्वयचतुर्दशकोणरूपाणि पञ्च चक्राण्येव सन्ति। बिन्द्वष्टदल-षोडशदलपद्म-भूपुरत्रयात्मकं शिवचक्रचतुष्टयं कुतो नोक्तम्? इति चेत्, शिवचक्रचतुष्टयानां शक्तिचक्रपञ्चकेऽन्तर्भावमङ्गीकृत्य (इदम्) उक्तमित्यवगन्तव्यम्। तथा चोक्तं त्रिशत्याम्—

'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ।।

बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् ।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ।।

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम् ।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके ।।

शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां तु परस्परम् ।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित् ।।' इति।

एवं नवानां चक्राणाम् अधिनाथा स्वामिनी नवैवेत्यर्थः। सा कीदृशी? स्योना सुखरूपा, सर्वानन्दमयचक्रनाथा भूमानन्दरूपा महात्रिपुरसुन्दर्येव। सैव त्रिपुरा त्रिपुरेशी त्रिपुरसुन्दरी त्रिपुरवासिनी त्रिपुराश्रीः त्रिपुरमालिनी त्रिपुरासिद्धिः त्रिपुराम्बा महात्रिपुरसुन्दरीति संज्ञां प्राप्य नवचक्रनाथेत्युच्यत इत्यर्थः। तत्र त्रिपुरा चक्रेश्वरी पुस्तकाक्षसूत्रपद्मद्वयकरा स्फटिकाभा मुक्ताभरणालङ्कृता ध्येया। त्रिपुरेश्वरी तु पाशाऽङ्कुशवराभयहस्ता शुभ्रवर्णा शुभ्राभरणरक्तमुकुटा ध्येया। त्रिपुरसुन्दरी तु रक्तवर्णा पुस्तकाक्षमालावराऽभयकरा सर्वाभरणभूषिता ध्येया।

त्रिपुरवासिनी तु रक्तवर्णा पुस्तकाक्षमालावराऽभयकरा ध्येया। त्रिपुराश्रीस्तु उद्यद्भानुसहस्राभा सर्वालङ्कारभूषिता मदघूर्णितनेत्रत्रया पुस्तकाऽक्षमालावराऽभयकरा ध्येया। त्रिपुरामालिनी तु रक्तवर्णा पाशाऽङ्कुशकपालाऽभयधारिणी ध्येया। त्रिपुरासिद्धा तु शुभ्रवर्णा पाशाङ्कुशकपालाभयधारिणी ध्येया। त्रिपुराम्बा तु उद्यत्सहस्रार्कनिभा त्रिनेत्रा शशाङ्कमुकुटा रक्ताम्बरा रक्तालङ्कारभूषिता पीनोन्नत-घनस्तनी शोणितपङ्किलमुण्डमाला पुस्तकाऽभय-जपमाला-वरकरा ध्येया। महात्रिपुरसुन्दरीध्यानं पूर्वमेवोक्तम्। अत्र आवरणदेवतानां चक्रेश्वरीणां च प्रागुक्तध्यानकरणाशक्तौ कामेश्वराङ्कोपवेशनं विना देव्या रूपध्यानमेव कार्यम्।

मुद्राशक्तयोभद्राशक्तयश्च परदेवताऽभिन्ना नवैवेत्याह—**'नवमुद्रा नवभद्रा महीना'** मिति। नवमुद्रा नाम सङ्क्षोभण-द्रावणाऽऽकर्षण-वश्योन्मादन-महाङ्कुशखेचरी-बीज-योन्याख्याः। तथा चोक्तम्—

'सङ्क्षोभ-द्रावणाऽऽकर्ष-वश्योन्माद-महाङ्कुशाः ।
खेचरी-बीज-न्योन्याख्या नव मुद्राः प्रकीर्तिताः ।।' इति।

एतासां ध्यानं पूर्वमेवोक्तम्। रचनाप्रकारो वर्ण्यते—

'कनिष्ठाऽनामिका-मध्या नखैरन्योन्यसङ्गताः ।
कृत्वाऽङ्गुष्ठौ कनिष्ठास्थौ ऋजुकुर्याच्च तर्जनी ।।

सर्वसङ्क्षोभिणी मुद्रा त्रैलोक्यक्षोभकारिणी ।
एतस्या मध्यमे देवी तर्जनीवत् कृते सती ।।

सर्वविद्राविणी मुद्रा सर्वासामपि योषिताम् ।
ताभ्यामङ्कुशरूपाभ्यां संश्लिष्टाकर्षिणी मता ।।

परिवृत्ताङ्गुली कृत्वा नखाश्लिष्टतरौ करौ ।
अङ्गुष्ठतर्जनीश्लिष्टौ सर्ववश्यकरी मता ।।

करौ तु प्रसृतौ कृत्वा व्यत्यस्तौ तत् कनिष्ठिके ।
तदग्राश्लेषतो भुग्ने मध्यमानामिके ऋजू ।।

सम्भुखौ तु करौ कृत्वा मध्यमा मध्यमेऽन्त्यजे ।
अनामिके तु सरले तद्बहिस्तर्जनीद्वयम् ।।

दण्डाकारौ ततोऽङ्गुष्ठौ मध्यमानखदेशगौ ।
एषोन्मादिनी मुद्रा सर्वोन्मादनकारिणी ।।

अन्या त्वनामिकें भुग्ने तर्जन्यौ वाऽङ्कुशाकृती ।
एषा महाङ्कुशामुद्रा स्तम्भनाकर्षकारिणी ।।

वामदक्षकरौ सम्यग् विन्यसेत् कूर्परौ ततः ।
मणिबन्धौ च बध्नीयादञ्जलिं मध्यपृष्ठयोः ।।

विधाय भुग्ने तर्जन्यावाङ्गुष्ठौ कारयेद् ऋजू ।
कनिष्ठाऽनामिके कुर्यात् व्यत्यस्ते करपृष्ठके ।
इयं सा खेचरी मुद्रा ललिता प्रीतिकारिणी ।।

अस्या विरचनेनैव सर्वाः सिद्ध्यन्ति देवताः ।
कनिष्ठे तर्जपृष्ठे च वृद्धाभ्यां योजयेत् शनैः ।।

कनिष्ठपृष्ठे मध्ये द्वे तयोः पृष्ठे त्वनामिके ।
अष्टमी बीजमूद्रेयं नवमी योनिरीरिता ।।

मिथः कनिष्ठिके बद्धा तर्जनीभ्यामनामिके ।
अनामिकोर्ध्वगश्लिष्टदीर्घमध्यमयोरधः ।।

अङ्गुष्ठाग्रद्वयं न्यस्येद् योनिमुद्रेयमीरिता ।।'

इति नवमुद्रारचनाप्रकारः। प्रकरणवशात् त्रिखण्डमुद्रारचनाप्रकारोऽपि प्रदर्श्यते। हस्तद्वयाङ्गुलीर्योनिमुद्रां सदाबध्य करतलद्वयपृष्ठभागे कनिष्ठाद्वयम् ऊर्ध्वीकृत्य अन्योन्यम् आमूलाग्रं संश्लेषयेत्। एषा त्रिखण्डमुद्रा दशमी, एषा मुद्रा देव्यः त्रैलोक्यमोहनचक्रमारभ्य सर्वानन्दमयचक्रपर्यन्तं त्रिपुराद्विचक्रिणीनां वामपार्श्वे तिष्ठन्ति। नवभद्रा—भद्राशब्दो लक्ष्मीवाचकः। 'भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि' इति श्रुतेः। तेनाणिमादिसिद्धय उपलक्ष्यन्ते, लक्ष्मीशब्दस्य श्रीपर्यायत्वात्।

'लक्ष्मीः सरस्वती शक्तिः त्रिवर्गसम्पद् विभूतिशोभासु ।
उपकरण-वेषरचना-विद्यासु च श्रीरिति प्रथिता ।।'

इति व्यासवचनात्। एताः सिद्धयो नव त्रैलोक्यमोहनचक्रमारभ्य सर्वानन्दमयचक्रपर्यन्तं चक्रिणीनां दक्षिणपार्श्वमाश्रित्य वर्तन्त इत्यर्थः। चक्रिणीनां वामदक्षिण-पार्श्वयोः मुद्रासिद्धिदेव्यः क्रमेण पूजनीया इति सौभाग्यरत्नाकरे पूजाप्रकरणे पठितम्। उपनिषदि चैवमुक्तम्- यथा एतन्नवात्मकं चक्रं प्रातिलोम्येन व्याचक्ष्महे। प्रथमं त्रैलोक्यमोहनं चक्रं भवति। साणिमाद्यष्टकं भवति। सप्रकटयोगिनीसंज्ञकं भवति। त्रिपुराचक्रेश्वर्याऽधिष्ठितं भवति। साणिमासिद्धि-संक्षोभणमुद्राभ्यां जुष्टं भवति। द्वितीयं सर्वाशापरिपूरकं चक्रं भवति। सकामाकर्षिण्यादिषोडशदेवताधिष्ठितं भवति। सगुप्तयोगिनी-संज्ञकं भवति। त्रिपुरेश्वरीचक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। सगुप्तं भवति सलघिमासिद्धि-सर्वविद्राविणी-

मुद्राभ्यां जुष्टं भवति। तृतीयं सर्वसङ्क्षोभणचक्रं भवति। सानङ्गकुसुमाद्यष्टकं भवति। सगुप्ततरयोगिनीसंज्ञकं भवति। त्रिपुरसुन्दरीचक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। समहिमासिद्धि-सर्वाकर्षिणीमुद्राभ्यां जुष्टं भवति। तुरीयं सर्वसौभाग्यदायकं चक्रं भवति। ससर्वसङ्क्षोभिण्यादिचतुर्दशकं भवति। ससम्प्रदाययोगिनीसंज्ञकं भवति। त्रिपुरवासिनीचक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। सेशित्वसिद्धि-वशीकरणमुद्राभ्यां जुष्टं भवति। तुरीयान्तं सर्वार्थ-साधकं चक्रं भवति। ससर्वसिद्धप्रदादेवीदशकं भवति। सकुलकौलीयोगिनी-संज्ञकं भवति। सत्रिपुरालक्ष्म्यधिष्ठितं भवति। सवशित्वसिद्धि-सर्वोन्मादिनी-मुद्राभ्यां जुष्टं भवति। षष्ठं सर्वरक्षाकरं चक्रं भवति। ससर्वज्ञादेवीदशकं भवति। सनिगर्भयोगिनीसंज्ञकं भवति। सत्रिपुरमालिनी-चक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। सप्राकाम्यसिद्धि-सर्वमहा-ङ्कुशामुद्राभ्यां जुष्टं भवति। सप्तमं सर्वरोगहरं चक्रं भवति। सवशिन्याद्यष्टकं भवति। सरहस्ययोगिनीसंज्ञकं भवति। सत्रिपुराम्बा-चक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। खेचरीमुद्रया जुष्टं भवति। अष्टमं सर्वसिद्धिप्रदं चक्रं सायुधचतुष्टयं भवति। सपरापररहस्यं भवति। इच्छासिद्धि-बीजमुद्राभ्यां जुष्टं भवति। नवमं चक्रनामकं सर्वानन्दमयं चक्रं भवति। सत्रिपुराभट्टारिकाधिष्ठितं भवति। स-परापररहस्ययोगिनीसंज्ञकं भवति। त्रिपुराभैरवीचक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। सप्राप्तिसिद्धि-योनिमुद्राभ्यां जुष्टं भवति। तत्रैव ब्रह्माण्डस्वरूपेण विराजितं नवात्मकं चक्रं भवति। स श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीराजराजेश्वर्यधिष्ठितं भवति। ससर्वचक्रात्मकं भवति। ससर्वयोगिन्यात्मकं भवति। ससुन्दरीदेवता-चक्रेश्वर्यधिष्ठितं भवति। ससर्वकामसिद्धित्रिखण्डमुद्राभ्यां जुष्टं भवति। ससर्वच्छन्दांसि चक्रवर्णानि। तदेव चक्रं श्रीचक्रम् तस्य नाभ्याम् अग्निः, सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः। तत्र ओङ्कारपीठं पूजयित्वा तत्र अक्षरबिन्दुरूपिणीं परमचित्कलां परमशिवाङ्कस्थां श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीमावाहयेदिति।

एता नवमुद्रा नवसिद्धयश्च परदेवतेत्याह—**महीनेति**। मह्यन्तीति, मह्यः चक्रिणीयोगिन्यादयः, तासाम् इना स्वामिनी, ललिता भट्टारिकेत्यर्थः।

ननु **'चक्राणि नव, चक्रिण्यश्च नव, मुद्रादयश्च नव'** इत्युक्तम्, पुराणादिषु च—

'नवावरणमीशानि त्रिपुरस्याधिदैवतम्' इति,

'अस्या एवावतारास्तु त्रिपुराद्याश्च शक्तयः।'

इति (च) उक्तम्। बिन्दुपीठस्थितां श्रीदेवीमन्तरेण तासां नवकत्वं कथमिति चेत्? सत्यम्, सैव आत्मना सह नवाऽभिन्नेत्यवगन्तव्यम्। तथा च ब्रह्माण्डपुराणे

ललितोपाख्याने प्रदर्शितम्—

'तासां च प्रसङ्गेषु नित्यानां च प्रसञ्जने ।
चक्रिणीनां योगिनीनां श्रीदेवी पूरणात्मिका ।।
या कामेश्वरपर्यङ्कललिता ललिताम्बिका ।
कामेश्वर्यादितुर्या सा नित्यानां षोडशी मता ।।
योगिनी चक्रदेवीनां नवमी परिकीर्तिता ।' इति।।२।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

एवं बिन्दुचक्रमुक्त्वा त्रिकोणवसुकोणचक्रद्वयसमष्टिरूपं नवयोन्यात्मकं चक्रमुपदेष्टुं द्वितीयामृचमाह **नवयोनीरितिः।**

त्रिसः पुरो नव योनीर्दीधिरे। एकमपि बिन्दुचक्रं त्र्यात्मकत्वात् प्रत्येकं रूपत्रयं दध्रे। 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' (पा. धातुसूत्रम्) इतिच्छान्दसधातोरिदं रूपम्। दीपनं प्रकाशनम्, फलत उत्पादनमेवेह विवक्षितोऽर्थः। शान्तात्वावच्छेदेनेच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति तिस्रो देवता उपादधात्, अम्बिकात्वावच्छेदेन ब्रह्मविष्णुरुद्रान् स्त्रीरूपान् वामाज्येष्ठारौद्री-शक्तिनामकान-जनयत्। परत्वावच्छेदेन पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति वाग्देवता अजीजनदित्यर्थः। सा परदेवतैवैनां त्रिपुरामधिष्ठाय नवयोनीश्चक्रे इतिवान्वयः। एता नव देवता एव नवयोनिचक्रात्मना परिणतेति तु वासनाध्वनिः। किञ्च त्रलोक्यमोहनादीनि नवचक्राणि जातजनिष्यमाणानि संस्कारात्मना नवयोनिष्वेव सन्ति। तदेतदाह- **नवचक्राणि कर्तॄणि नवयोनीर्दीधिरे इति।** शक्तित्रिकोणद्वयवह्नित्रिकोणैकेन हि नवयोनि-चक्रनिष्पत्तिः। प्रतित्रिकोणं तिस्रो रेखा इति नवानां रेखाणां योगा अपि कोणरूपा नवैव। तेन नव योगिनीर्दीधिरे। नवचक्राणामिह सत्त्वादेव तत्रत्यप्रकटादियोगिनीनवकमपि कोणात्मनेहैव तिष्ठतीति भावः। 'देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महः' इत्यादिव्यवहाराद्देशाद्यवच्छिन्नो बिन्दुचक्रादि-प्रपञ्चो ब्रह्मणोऽधोऽधस्तिष्ठतीति लभ्यते। एतन्मूलक एव श्रीचक्रस्य मेरुप्रस्तारोऽपि। तेनैकस्मिंश्चक्रे भूपुरादिबिन्द्वन्ता उपर्युपरि नवभूमिकाः, तासामधिपतयोऽपि त्रिपुराचक्रेश्वर्यादिनामानो नवैव। ता अपि नवयोनिष्वेव सूक्ष्मरूपेण क्रमेण तिष्ठन्तीत्याह चक्रे नवानां महीनामधिनाथा अपि कर्त्र्यो नवयोनीर्दीधिर इति। स्योना इति चक्रेश्वरीविशेषणम्। सुखहेतुभूतेत्यर्थः। नवमुद्राः सङ्क्षोभण्यादि-योन्यन्ता अपीहैव स्थिताः। नवभद्रास्तु तन्त्रे विवृताः—'धर्माधर्मौ तथात्मानो

मातृमेये तथा प्रमा' इति। पुण्यं पापम् आत्मा अन्तरात्मा परमात्मा ज्ञानात्मा प्रमाता प्रमेयं प्रमेति नवकं तदर्थः। आत्मचतुष्टयस्वरूपविवरणमात्मोपनिषदि द्रष्टव्यम्।

'चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्' इत्युपबृंहणदर्शनात्। भद्रपदेन मन्त्रा वा ग्राह्याः। ते च नवचक्रेश्वरीमन्त्रा इति केचित्। सान्निध्यान्मुद्रामन्त्रा एवेति युक्तम्। बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोणात्मकचक्रत्रयरूपे सहारचक्र एव सर्वं श्रीचक्रं सूक्ष्मरूपेण तिष्ठतीति पिण्डितोऽर्थः। आपत्कालिकसङ्क्षिप्तपूजाप्रकारेषु वसुकोणादिबिन्द्वन्तमातृपूजाविधिर्यस्त-न्त्रेषूपलभ्यते तत्रेयमेव श्रुतिर्मूलम्। अत्र सर्वत्रोपबृंहणानि तन्त्रपुराणवचनानि तु विस्तरभयान्न लिख्यन्ते ॥२॥

भाषाव्याख्या

प्रथम मन्त्र से बिन्दुचक्र का निरूपण किया गया। तत्पश्चात् द्वितीय मन्त्र से त्रिकोण और अष्टकोण रूप दो चक्रों का समष्टिरूप तथा नवयोनि रूप चक्र का उपदेश किया जाता है। प्रथम मन्त्र में निर्दिष्ट तीन पुरियों ने अर्थात् त्रिपुरा ने नौ योनियों को उद्भासित किया। एक होता हुआ भी बिन्दुचक्र त्र्यात्मक (तीन रूपों वाला) होने के कारण अलग-अलग तीन रूपों को उत्पन्न किया। 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' वैदिक धातु है। अतः इसका लोक में प्रयोग नहीं होता। दीप्ति = दीपन का प्रकाशन अर्थ है जो परिणामतः उत्पादन अर्थ के रूप में विवक्षित है। प्रथम मन्त्र में ही ब्रह्म की शान्ता, अम्बिका और परा, इन तीन शक्तियों का उल्लेख किया गया है। वह बिन्दुचक्र शान्तात्व के रूप से इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को प्रकट किया तथा अम्बिकात्व के रूप से ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र देवों को ही स्त्रीरूप में वामा, जेष्ठा और रौद्री शक्ति के रूप में उत्पन्न किया एवम् परात्व के रूप से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक तीन वाणीतत्त्वों को उत्पन्न किया। एवञ्च, अन्वययोजना हुई—**तिस्रः पुरः नव योनी र्दीधिरे**। फलितार्थ का कथन करते हैं—**सा परदेवतैवैनां त्रिपुरामधिष्ठाय नवयोनीश्चक्र इति वाऽन्वयः**। परदेवता ही तीन पुरियों में विराजमान होकर अर्थात् त्रिधावस्थापन्न होकर नौ योनियों को उत्पन्न किया = नौ देवियों को उत्पन्न किया। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं—**एता नव देवता एव नवयोनिचक्रात्मना परिणतेति**। नौ देवता ही नवयोन्यात्मक चक्र के रूप में परिणत हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव करके भगवान् ने आठ प्रकृति के भेदों का निरूपण करके नौ योनियों को ही इङ्गित किया है—

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥'

बिन्दुरूपा परायोनि का स्पष्टीकरण है—**नव चक्राणि दीधिरे**। नौ संख्या वाले चक्र प्रकाशित हुए। बिन्दु के दोनों ओर चार ऊर्ध्व त्रिकोण और उसके नीचे पाँच अधः त्रिकोण

चक्र मिलकर नौ चक्र हुए। आचार्य का कहना है कि त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों की स्थिति संस्कार के रूप में नौ योनियों में ही है। इसका समन्वय मन्त्र में ही करते हैं— **तदेतदाह- नव चक्राणि कर्तॄणि नव योनी र्दीधिर इति।** अर्थात् नौ चक्रों ने नौ योनियों को उद्भासित किया। दो शक्तित्रिकोण और एक वह्नित्रिकोण से नौ योनिचक्रों की निष्पत्ति होती है। प्रत्येक त्रिकोण में तीन रेखायें होती हैं। इस तरह नौ रेखाओं का योग भी कोण रूप नौ संख्या में ही होगा। इसी से नौ योगिनियों का प्राकट्य हुआ। तात्पर्य ध्वनित करते हैं— **नवचक्राणामिह।** नौ चक्रों के होने से ही वहीं प्रकट आदि नौ योगिनियाँ भी कोण के रूप में चक्र में ही रहती हैं। श्रीरामानन्दतीर्थजी ने नौ योगिनियों को इस तरह परिगणित किया है—प्रकटयोगिनी, गुप्तयोगिनी, गुप्ततरयोगिनी, सम्प्रदाययोगिनी, कुलोत्तीर्णयोगिनी, निगर्भयोगिनी, रहस्ययोगिनी, रहस्यतरयोगिनी और परापररहस्ययोगिनी। प्रत्येक इन योगिनियों में अलग-अलग नामों का विवेचन भी श्रीरामानन्दीयभाष्य में ही द्रष्टव्य है। मन्त्र के उत्तरार्ध की व्याख्या का उपक्रम करते हैं— **देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महः।** देश-काल से अपरिच्छिन्न जो ज्योति है वह ऊर्ध्व परम ज्योति (महः) है, इत्यादि व्यवहारों से अर्थात् सिद्ध होता है कि जो देश और काल से परिच्छिन्न है वह बिन्दुचक्रादि का प्रपञ्च ब्रह्म के अधोभाग में ही स्थित रहता है। इसी को आधार मान कर श्रीचक्र का मेरुप्रस्तार है। इस तरह एक चक्र में भूपुर से लेकर बिन्दुपर्यन्त ऊपर-ऊपर नौ भूमिकायें होती हैं जिनकी स्वामिनी भी त्रिपुराचक्रेश्वरी आदि नामों वाली नौ की संख्या में ही होती हैं। ये सभी नौ संख्या वाली योनियों में ही सूक्ष्मरूप से रहती हैं। इसी को मन्त्रवर्ण कहता है—**नवानां चक्रे।**

आचार्य मन्त्र की योजना करते हैं—**चक्रे नवानां महीनामधिनाथा अपि कर्त्र्यो नव योनीर्दीधिरे।** अर्थात् चक्र में नौ भूमियों की अधिनायिकायें भी नौ योनियों को उद्भासित करती हैं। अर्थात् नौ योनियों में ही समाहित हैं। स्योना का शोभन अर्थ है। **'स्योनं ते सदनं कृणोमि'**, इत्यादि रूप से वेदों में अन्यत्र भी 'स्योन' शब्द आया है। यहाँ यह चक्रेश्वरी का विशेषण है। चक्रेश्वरी स्योना अर्थात् कल्याणकारिणी हैं। संक्षोभिणी से लेकर योनि पर्यन्त नौ मुद्रायें यहीं स्थित हैं तथा नौ भद्र भी। तन्त्र में धर्म, अधर्म, आत्मा (चार), प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का उल्लेख नौ भद्र के रूप में है। आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा, ये चार आत्मा के प्रकारों का विवेचन आत्मोपनिषद् में है।

'चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्'।

यह मन्त्रोक्त का ही विस्तार है। 'भद्र' शब्द के विषय में अन्य पक्ष प्रस्तुत करते हैं—**भद्रपदेन मन्त्रा वा ग्राह्याः।** 'भद्र' पद से नवचक्रेश्वरीमन्त्रों का ग्रहण कुछ आचार्य मानते हैं। आचार्य श्रीभास्करराय के मत में मुद्रा के सन्निधान में ही 'भद्र' पद का प्रयोग होने से मुद्रा के मन्त्रों का ग्रहण है। पूरे मन्त्र का निर्गलितार्थ प्रस्तुत करते हैं— **बिन्दुत्रिकोणवसुकोण।**

बिन्दु, त्रिकोण और अष्टकोण रूप तीन चक्रों वाले संहारचक्र में ही सारा श्रीचक्र सूक्ष्मरूप से विराजमान रहता है। दशारयुग्म, मन्वस्र, अष्टदलकमल, षोडशदलकमल

आदि का बिन्दुत्रिकोणाष्टकोणात्मक चक्रत्रय में ही अन्तर्भाव है। चार शिव चक्रों के शक्तिचक्रों में अन्तर्भाव को श्रीस्वामी रामानन्दतीर्थजी ने निम्न वचन के आधार पर स्वीकार किया है—

'त्रिकोणमष्टकोणञ्च दशकोणद्वयन्तथा ।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ।।
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् ।
चतुरस्रञ्च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ।।
त्रिकोणे बैन्दवं शिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम् ।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके ।।
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां तु परस्परम् ।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित् ।।'

त्रिकोण, अष्टकोण, दो दशकोण और चतुर्दशकोण, ये पाँच शक्तिचक्र है तथा बिन्दु, अष्टदल कमल, षोडशदल कमल और चतुष्कोण, ये चार शिवचक्र हैं। त्रिकोण में बिन्दु का उपदेश है। इसी तरह अष्टकोण में अष्टदलकमल का, दो दशकोणों में षोडशदलकमल का तथा चतुर्दशकोण में भूपुर का समावेश है। इस तरह शक्तिचक्रों और शिव चक्रों का अविनाभाव सम्बन्ध है। इस तथ्य को जानने वाला ही वस्तुतः चकों का ज्ञाता है।

संक्षिप्त पूजा के प्रकार में यही द्वितीय मन्त्र तन्त्रग्रन्थों का मूल है,इस तथ्य को प्रकट करते हैं—**आपत्कालिक**। आपत्काल में तन्त्र के ग्रन्थों में अष्टकोण से लेकर बिन्दुपर्यन्त जो मातृपूजा का विधान प्राप्त है उसमें **'नवयोनीर्नव चक्राणि दीधिरे'**, यह मन्त्र ही मूल है। इस तरह यह सिद्ध हो रहा है कि तन्त्रागम के ग्रन्थों का प्रामाण्य स्वातन्त्र्येण न होकर श्रुतिमूलकत्वेन ही आचार्य को मान्य है॥२॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

एका सा आसीत् प्रथमा सा नवासीदासोनविंशदासोनत्रिंशत् ।
चत्वारिंशदथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो मा विशन्तु ।।३।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

एवं संहारक्रमेण नवयोन्यात्मकं श्रीचक्रं सप्रपञ्चमुक्त्वा सृष्टिक्रमेणापि प्रतिपादयति—

आधाराधेययोरभेदाद् आधेयानां शक्तीनां ग्रहणात् आधारभूतानि त्रिकोणचक्राणि उपलक्ष्यन्ते। प्रथमा सर्वकारणभूता मध्यत्रिकोणनिलया

एकैवासीदित्यर्थः। सा पूर्वोक्तप्रथमत्रिकोणस्था नव नवसंख्याका आसीदिति पूर्वेणान्वयः। समनन्तरभाविना अष्टकोणचक्रेण सम्पृक्ता सतीत्यर्थः। अथेत्युत्तरतोऽध्याहर्तव्यः। अथ अष्टकोणसंसर्गजनितनवसंख्याप्राप्त्यनन्तरमित्यर्थः। **आसोनविंशत्**। आस ऊनविंशदिति पदच्छेदः। सा नवत्रिकोणात्मिका ऊनविंशत्। ऊनविंशतिसंख्या नवाधिका दश। आ इत्यत्र विध्यर्थः। अन्तर्दशारेण सह एकोनविंशतित्रिकोणात्मिका आसीदित्यर्थः। अथ अनन्तरम् **'आसोनत्रिंशत्'**—पूर्ववत् पदच्छेदः। सा एकोनत्रिंशत्त्रिकोणात्मिका उनत्रिंशत् ऊनत्रिंशत्कोणपर्यन्तं बहिर्दशारसङ्गत्या आसीदित्यर्थः। अथ ऊनत्रिंशत्त्रिकोणपरिणामानन्तरं चत्वारिंशत्सङ्ख्याकाः तिस्रस्त्रितय-सङ्ख्याकाः त्रिचत्वारिंशत्संख्याका इति यावत्। उशतीः उशत्यः कामयमाना वात्सल्यनिघ्नहृदया मातर इव लौकिकजनन्य इव मा मामुपासकं विशन्तु मूलाधारादिषट्चक्रतादात्म्यतया प्रविशन्त्वित्यर्थः। यथोक्तं वामकेश्वरतन्त्रे—

> **'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।**
> **मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात् ।।**
>
> **मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् ।**
> **अनाहतं विशुध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ।।**
>
> **नवाऽऽधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति! ।**
> **त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपः शिवः स्मृतः ।।**
>
> **अविनाभावसम्बन्धः तस्मात् बिन्दुत्रिकोणयोः ।'** इति।।३।।

श्रीभास्कररायकृतभाष्यम्—

अथ दशारद्वयमन्वस्ररूपं स्थितिचक्रमुपदेष्टु तृतीयामृचमाह—एका सेति।

आभ्यो नवयोनिभ्यस्सूक्ष्मभूतानि पञ्च स्थूलभूतानि पञ्चेति भूतदशकमभवत्। तेभ्यस्स्थूलसूक्ष्मभेदेन शब्दादितन्मात्रदशकमभूत्। तेभ्यश्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चान्तःकरणानि चत्वारीति चतुर्दश-कमभवत्। एतास्सर्वा अपि देवताः स्त्रीरूपत्वाद्योनिरूपा एव। तदिदं सर्वम्—

> **'भूततन्मात्रदशकप्रकाशालम्बनत्वतः ।**
> **द्विदशारस्फुरद्रूपम्'**

इत्यादिना तन्त्रे विवृतम्। सैव प्रक्रिया पूर्वानुवादपूर्वकमिहोपदिश्यतेयाऽथमा सर्वजगत्कारणभूता देवता सैकैव पूर्वमासीत् बिन्दुचक्ररूपा। अथ नवासीत्

नवयोन्यालम्बना। अथोनविंशत् एकोनविंशतिस्वरूपा आस नव योनयो-ऽन्तर्दशारयोनयश्चेति। विंशदित्यादिच्छान्दसम्। अथोनत्रिंशदास बहिर्दशारयोनीनां मेलनेन। अथ चत्वारिंशत्तिस्रश्च पूर्वासु च चतुर्दशमेलनेन त्रिचत्वारिंशद्योनि-स्वरूपेणैकैव देवी जातेत्यर्थः। बिन्दुचक्रस्यान्तरालाकारत्वेन एका सासीद् इत्यस्य योन्याकृतीनां मध्ये परिगणनम्। समिधा देदीप्यमाना एता मातरो मा विशन्तु मां प्रविशन्तु मच्छरीरस्यापि श्रीचक्ररूपत्वादिति स्तोतृकृतं प्रार्थनम्। उशतीरिव कामयमाना इव वस्तुतो निष्कामत्वात्। धेनवोऽपि वत्ससामीप्यमिच्छन्त्यो वनाद् द्रुतं गोष्ठं यथा प्रविशन्ति तथैताः प्रविशन्त्वित्यर्थः। इयमेव श्रुतिः चक्रन्यासविधीनां मूलम्। एतासामेव देवतानां स्वशरीरे न्यस्तव्यत्वात्।

'योगिन्यो यास्तु तास्सर्वा गेहं कुर्वन्तु मे वपुः।' इति।

शक्तिन्यासमन्त्रलिङ्गसंवादात्तस्यापि मूलम्॥३॥

भाषाव्याख्या

दो दशकोण और चतुर्दशकोण रूप स्थितिचक्र के उपदेश के लिए यह तीसरी ऋक् प्रस्तुत है—**एका सा आसीत् प्रथमा सा।**

पूर्व मन्त्र में जिन नौ योनियों की चर्चा हैं उनसे ही पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच स्थूल भूत के रूप में भूतदशक (दश भूत) हुआ। इन्हीं से स्थूल और सूक्ष्म के भेद से शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरूप तन्मात्रदशक हुआ। तन्मात्रदशक से पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि-अहङ्कार-चित्त-मन चार अन्तःकरण हुए। ये सभी देवता स्त्रीरूप होने से योनिरूप ही माने जाते हैं। तन्त्र में इसका निरूपण है। पूर्वानुवाद के साथ इसी प्रक्रिया का इस तृतीय मन्त्र में विवेचन किया जा रहा है। जो प्रथमा = आद्या अर्थात् आदि में होने वाली सारे जगत् की कारणभूता देवता शास्त्रों में उपगीत है वही बिन्दुचक्रस्वरूपिणी देवता पहले थी। नव योनय आलम्बनं यस्याः सा नवालम्बना, अर्थात् नौ योनियों के आधार पर वही एक ही देवता नौ संख्या में प्रतिष्ठित हुई। प्रथम त्रिकोण में विराजमान वह नव संख्या वाली हुई, यह अभिप्राय है। कैसे? त्रिकोण के बाद अष्टकोण से युक्त होकर पुनः वह अष्टकोण के सम्बन्ध से नौ संख्या को प्राप्त करने के बाद उन्नीस संख्या वाली हुई। अन्तर्दशार = अन्तर्दशकोण के साथ यह एकोनविंशति की संख्या संपन्न होती है। एकोनविंशति ही वेद में एकोनविंशत् हुआ है, ऐसा श्रीभास्करराय का कहना है। वही एकोनविंशतित्रिकोणस्वरूपिणी भगवती बहिर्दशार से सम्पृक्त होकर उनत्रिंशत् अर्थात् उन्तीस हुई। इसके बाद वह तिरालिस की संख्या में संविभक्त हुई। कैसे? कहते हैं—**पूर्वासु चतुर्दशमेलनेन।** पूर्व उन्तीस में चौदह को जोड़ देने पर वह तिरालिस योनियों के रूप में एक ही देवी हुई। बिन्दुचक्र अन्तराल (मध्य) का आकार है अतः योनि के आकारों के मध्य में 'एका सासीत्' का

परिगणन है। ये सारी देदीप्यमान मातायें मेरे शरीर में प्रवेश करें—**समिधा मा विशन्तु**। स्तुतिकर्ता की यह प्रार्थना शरीर को ही श्रीचक्र के रूप में स्वीकार करने पर है। सारी देवियाँ निष्काम हैं तथापि कामना करती हुईं सी मेरे शरीर में प्रवेश करें, इस अर्थ को और स्फोरित करते हैं—**धेनवोऽपि**। सवत्सा गायें भी बछड़ों के पास आना चाहती हुईं शीघ्रातिशीघ्र जैसे गोष्ठ में प्रवेश करती हैं वैसे ये सभी देवियाँ भी मेरे शरीर में प्रवेश करें, यह निर्गलित अर्थ है। तन्त्रागम में चक्रन्यासविधियों की मूलभूता यही श्रुति है, इस स्मृत्यधिकरणन्याय को प्रकट करते हैं—**इयमेव श्रुतिः**। न्यासप्रक्रिया में इन सभी देवताओं का अपने शरीर में न्यास किया जाता है।

'योगिन्यो यास्तु ताः सर्वा गेहं कुर्वन्तु मे वपुः ।'

अर्थात् सारी योगिनियाँ मेरे शरीर को अपना घर बना कर निवास करें। शक्तिन्यास के प्रतिपादक मन्त्र के अन्दर विद्यमान अर्थप्रकाशनरूप लिङ्ग के आधार पर शक्तिन्यास का भी यही तीसरा मन्त्र मूल है।।३।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

'ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद् रजो भूत् ।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति ।।४।।

एवं त्रिकोणरूपाणि शक्तिचक्राणि उक्त्वा बिन्दुरूपाणि शिवचक्राणि प्रतिपादयति 'ऊर्ध्वज्वलज्जवलनं ज्योतिरग्र' इत्यादिना।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

ऊर्ध्वमूर्ध्वमूर्ध्वमुखं ज्वलन् भ्राजत् छान्दसत्वात् पुंलिङ्गता, ज्वलति दीव्यतीति ज्वलत्, ज्योतिः बिन्दुचक्रात्मकं तेजः, अग्रे सर्वेषां चक्राणामुपरि सहस्त्रदलकमलस्य चतुरस्त्रकर्णिकामध्य इत्यर्थः। सहस्त्रदलमध्यकर्णिकामध्ये ज्योतिर्मयं बिन्दुचक्रम्। ऊर्ध्वं ज्वलतीत्यर्थः। तथा च श्रूयते—

'हिरणमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः तद्यदात्माविदो विदुः ।।
सुवर्णं कोशं रजसा परीवृतं देवानां वसुधानीं विराजम् ।
अमृतस्य पूर्णान्तमुकलां विचक्षते ।।'
'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते ।
विश्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु ।।'इति।

एवंभूतबिन्दुमाहात्म्यं ब्रह्मोपनिषदि च प्रतिपाद्यते। यथा वा—

'अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति—नाभिः हृदयं कण्ठो मूर्धा चेति। ततश्च तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। 'त्रिषु त्रिपादं ब्रह्म विभाति शुभ्रमक्षरम् जागरितं स्वप्नं सुषुप्तम्।' जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्ते रुद्रः, तुरीयं परमाक्षरम्। स आदित्यः, स विष्णुः, स प्राणः स पुरुषः जीवः, सोऽग्निः, स ईश्वरः, स जाग्रति। तेषां मध्ये यत् परं ब्रह्म विभाति अच्छायमपवनमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितमि'ति।

अस्यार्थः—'अस्यैष देवस्य सम्प्रसादोऽन्तर्यामि खग' इत्यादि पूर्वतनकार्यजालेन निर्णीतार्थकस्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। तेषु च त्रिषु स्थानेषु, त्रिपादं त्रिविधं चरणम् ब्रह्म सर्वव्यापनशीलं शुभ्रं स्वच्छप्रकाशम् अक्षरं न क्षरतीति व्युत्पत्त्या जगदुत्पत्तिकारणत्वाच्च कारणभूतं विभाति निरवधिकतेजोमयं सद् विद्योतत इत्यर्थः। एवम्भूताक्षरस्य स्थानदेशेषु प्रदेशद्वारावयवस्वरूपमुक्त्वा तुरीयसमुदायरूपं परमाक्षरबिन्दुद्वादशान्ते कोमलात्मकं परं ज्योतिर्मयमिति व्याचक्षते 'तुरीयं परमाक्षरमि'ति आरभ्य 'स ईश्वरो जाग्रती'त्यन्तम्।

आदित्यः प्रकाशरूपः विष्णुः व्यापनशीलः सर्वजीवनदायकः पुरुषः सर्वजीववर्ती जीवः, प्राणादिरूपी अग्निः, अग्रे नेता, एवम्भूतः सर्वेश्वरः विमर्शाख्यकामेश्वरीयुक्तः परमशिव इत्यर्थः। एवम्भूतः परमेश्वरः जाग्रति जागर्तीत्यर्थः। 'व्यत्ययो बहुलमि'ति सूत्रेण क्वचिद् व्यत्ययविधानात्।

अत्र जागर्ति नाम परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-चतुष्टय-मातृकाचक्रात्मकश्रीचक्रमध्यभूत-सर्वानन्दाख्ये निरवधिकतेजोमण्डलमध्यभवने—

'बैन्दवानलसंरूढसंवर्तानलचिद्घनम् ।
कामेश्वराङ्कसंविष्टं युवानमतिसुन्दरम् ।।'

इत्युक्तरीत्या प्रकाशानन्दसारस्वरूपवत्त्वं तत् तादृगक्षरं ज्योतिर्मयं निष्कलमित्याचष्टे। 'तेषां मध्ये' इत्यादिना तेषामाधार-हृदय-कण्ठ-प्रदेशोत्तमाङ्गरूपस्थानविशेषोपासनावक्लृप्तावयवाक्षराणां मध्ये यत् परं तुरीयभूतमक्षरं ब्रह्म निर्वाणाख्यं विभाति विद्योतते, एवम्भूतं निष्कलमित्याह 'अच्छायमपवनमि'त्यादिना।

परमप्रकृतमक्षरं निरूपयति—'ज्योतिर्विदितमि'ति। 'वन्दे ज्योतिरनुत्तरमि' त्यादिना प्रकाशात्मकत्वादेव ज्योतिर्मयत्वं विदितम्। सर्ववेदान्त-विज्ञातमित्यर्थः। सहस्रदलपद्मकर्णिकामध्यस्थितं बिन्दुचक्रमेव परं ज्योतिश्चिद्रूपत्वान्नान्यदित्याह—**'तमो वै तिरश्चीनमि'**ति। तिरश्चीनं तिर्यग्भूतं ज्योतिः सूर्यवन्ह्यादि अप्रकाश-

स्वभावम्, 'वै' प्रसिद्धवाचको निपातः। सोमसूर्याग्न्यादीनाम् एतत्प्रकाशमन्तरेण प्रकाशानुपपत्तेः स्वतः प्रकाशत्वाभावाद् अप्रकाशकत्वं श्रुत्यादिषु प्रसिद्धमिति भावः। तथा च श्रूयते—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।' इति।

श्रीभगवत्पादैरप्युक्तमात्मबोधे—

'यद्भानं भासयते कादीन् भास्यैर्यत् तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।' इति।

श्रीविद्यारण्यैश्चोक्तं दृक्दृश्यप्रकरणे—

'नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथाऽन्यानि भासयेत् साधनं विना ।।' इति।

बैन्दवज्योतिर्न तथेत्याह— **'अजरं तद् रजोभूत् ।'**

इति पूर्वोक्तं बैन्दवं रजः ज्योतिर्लोकः। रजःशब्दो लोकवाचकः। तथा च श्रुतिः।

'आ सत्येन रजसा वर्तमानः' 'तृतीये चक्रे रजांसि प्रियाणि'

'तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसं परो रजसो वै ब्रह्मणःस्थानमि'ति। 'भूत्' अभूदित्यर्थः। अलोपश्छान्दसः। बिन्दुचक्रमेव ज्योतिर्लोकमित्यर्थः। एतदेव मण्डलत्रयकारणमित्याह—**'आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोः'** इत्यादिना। आनन्दयति इति 'आनन्दनम्'।

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'

इति श्रुतेः। मोदयतीति 'मोदनम्'। किं तत्? ज्योतिः तेजः, कस्य इन्दोः चन्द्रात्मकस्य श्रीचक्राभिधानस्य बिन्दोरित्यर्थः। अयं भावः—शिरःस्थितचन्द्रमण्डलं सर्वयोगशास्त्रसिद्धम्। तत् समयिनां मते श्रीचक्रमेव चन्द्रमण्डलम्, षोडश-कलात्मकत्वात्। श्रीविद्यायाः प्रतिपदादिषोडशदिनेषु कलावृद्धिक्षययोर्वक्ष्यमाणत्वात् चन्द्रमण्डलमेव। तदेवं बाह्यस्थितचन्द्र-मण्डलमपीति सुभगोदयव्याख्याने लोल्ललक्ष्मीधरमिश्रेणोक्तं तन्महारहस्यम्। तत्र नवयोनिष्वधःस्थितशिवात्मक-योनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मक-योनिपञ्चकादधःप्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य चतुष्कोणस्य 'सुधासिन्धुरि'ति नामधेयान्तरमस्ति। यथोक्तं भैरवयामले वामकेश्वरमहातन्त्रे बहुरूपाष्टक-विद्यायाम्—

'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः नव योन्यः सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डलम् ।।

तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे ।।

अतिरम्यस्थले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः ।
भृतकाश्च चतुष्पादाः महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ।।

तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ।
शिवार्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् ।।

तनूद्भूतामृतस्यन्दि परमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेति सा ।।' इति।

देव्या मन्दिरमित्यर्थः। **देवीमन्दिरं चतुश्चत्वारिंशत्कोणात्मकं श्रीचक्रमुच्यते।** त्रिकोणात्मकश्रीचक्रस्य बैन्दवस्थानं प्रत्यङ्गत्वात्, बैन्दव-स्थानस्य प्रधानत्वात्। प्रधाने गुणस्य अन्तर्भावात् तदन्तर्भाव इति रहस्यम्।।

भृतका भृत्याः ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वराः। शिवार्कमण्डलं भित्त्वा इत्यस्यायमर्थः- शिवा नाम शक्तिः कुण्डलिनी, अर्कमण्डलं हृत्कमलो-परिस्थितं भित्त्वा भिन्नं कृत्वा अवयुत्य आच्छाद्येत्यर्थः। अर्कमण्डलोपरिस्थितं ब्रह्मद्वारं पिधाय सहस्रकमलान्तःस्थितमिन्दुमण्डलं दशति द्रावयति। अतः कुलयोषित् कुण्डलिनी-शक्तिः। कुलं कुलमार्गं त्यक्त्वा तत्रैव इन्दुमण्डले आस्थाय परं वर्षणम् उत्कृष्टवर्षणम्।

द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु वर्षणं कृत्वेति शेषः। सा कुण्डलिनी पुनः स्वस्थानमेत्य स्वाधिष्ठानमेत्य स्वपितीति तात्पर्यम्। शिवादीनां मञ्चत्वोपधानत्वपतद्-ग्रहत्वाकृत्यापन्नत्वं कामरूपत्वाद् देवानामत्यन्तमेवार्थो घटत इति।

ननु कथं बैन्दवस्थानं श्रीचक्रस्य मध्यस्थितम्? शिवचक्राणां चतुर्णाम् उपरि शक्तिचक्राणां पञ्चानाम् अधस्तात् अवस्थितत्वात् सहस्रारपद्मस्य शिरःस्थितत्वात् सर्वेषाम् उपरि वर्तमानत्वात् तस्य बैन्दवस्थानं नोपपद्यत इति चेत्? निशम्यताम्—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ।।'

इत्यादौ शक्तिचक्राणि त्रिकोणाष्टकोणदशकोणद्वितयचतुर्दश-कोणात्मकानि

पञ्च चक्राणि। शिवचक्राणि तु अष्टदल-षोडशदल-मेखलात्रितय-भूपुरत्रितयात्मकानीति। अतः शक्तिचक्राणां बाह्यतः शिवचक्रेण बिन्दुरूपेण आकृष्य शक्तिचक्रान्तरे स्थापितानि। अत एव बिन्दुः शिवचक्रचतुष्टयात्मकः शक्तिचक्रेषु पञ्चसु व्यप्नुवानः समाप्त इति शिवशक्त्योरैक्यम् इति केचित्। अन्ये तु बिन्दुत्रिकोणयोरैक्यम्, अष्टकोणाष्टदलाम्बुजयोः दशारयुग्मषोडश-दलाम्बुजयोः चतुर्दशार-भूपुरयोः ऐक्यम् इत्यनेन प्रकारेण शिवशक्त्योरैक्य-मित्याहुः। अत्र बिन्दुशब्देन शिवचक्रचतुष्टयप्रतिनिधिभूतो वर्तुलाकारो लक्ष्यते। न च चतुष्कोणमध्यवर्ती बिन्दुः। स तु सहस्रकमलान्तर्गतः। आधारस्वाधिष्ठान-दशदल-प्रकृतिभूतशिवशक्तिमेलनाऽऽविष्टतनुः सादाख्यं षड्विंशत्तत्त्वान्तेन सह नाद-बिन्दुकलानाम् ऐक्यं नास्ति। तस्य नादबिन्दुकलातीत्वात्। अत एव सहस्रकमलान्तर्गतचन्द्रमण्डलमध्यवर्तिसुधासिन्धुरेव भगवत्या विहरणस्थानमिति। अतश्च शिरःस्थितसहस्रदलकमलान्तर्गतश्रीचक्रात्मकशशिबिम्बमध्यस्थिता भगवती। अस्याश्चरणनिर्णेजनजलैः सुधामयैः साधकस्य सकलं शरीरं सम्प्लाव्य पुनः भुजङ्गरूपेण आधारकुण्डलिनीं प्रविश्य सुषुम्नामवष्टभ्य सा भगवती स्वपिति। यथोक्तं वामकेश्वरतन्त्रे—

'भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता ।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभाऽऽशुभा ।।

'आशुभा' क्षणप्रभा विद्युन्निभेत्यर्थः ।

'मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत् ।
मुखेन पुच्छं सङ्गृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता ।।

पद्मासनगतः स्वस्थः गुदं सङ्कुच्य साधकः ।
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ।।

वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ।
ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।।

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ।
ब्रह्मग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।।

सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।
सा चाऽवस्था परा श्रेया सैव निर्वृतिकारणम् ।।' इति।

श्रुतिरपि श्रीचक्रात्मकशशिबिम्बमध्यगताया भगवत्याश्चरणाम्बुजाऽमृतधारासेचनं प्रतिपादयति। तथाहि—

'लोकस्य द्वारमर्चिमत् पवित्रं
ज्योतिष्मद् भ्राजमानं महस्वत् ।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं
चरणन्नो लोके सुधितान् दधातु ।।' इति।

अस्यार्थः—'लोकस्य' स्वनिवासस्थानस्य सायुज्यस्य सष्ट्यादेर्वा ब्रह्म-लोकादेर्वा 'द्वारम्' तत्प्रापकम् इत्यर्थः। 'अर्चिमत्' अर्चींषि मयूखाः अस्य सन्तीति 'अर्चिष्मत्' इत्यर्थः, छान्दसः सकारलोपः। मयूखाः किरणाः, 'पवित्रम्' अतिशुद्धम्, अन्यशुद्धिहेतुश्च 'ज्योतिष्मत् भ्राजमानं महस्वत्' इत्याम्रेडनम् अर्चिष्मत् संस्कृत्यर्थः। यद्वा—चक्रस्य त्रिखण्डत्वेन 'अर्चिष्मदि'त्यनेन आग्नेयानि अर्चींषि अष्टोत्तरशतं कथ्यन्ते। 'ज्योतिष्मदि'त्यनेन ऐन्दवानि षट्त्रिंशदुत्तरशतं ज्योतींषि निर्दिश्यन्ते। 'महस्वदि'त्यनेन भानवीयाः षोडशोत्तरशतं महांसि किरणाः सङ्गृह्यन्ते। एतच्च उत्तरत्र निपुणतरम् उपपादयिष्यामः। 'अमृतस्य धाराः' सुधायाः प्रवाहान्, 'बहुधा' बहुकारेण, द्विसप्तति-सहस्रनाडीमार्गेषु 'दोहमानं' किरत्, चन्द्रमण्डलगतसुधाधाराप्रवाहान् स्वनिर्णेजनपवित्रितान् वर्षदित्यर्थः। तच्चरणं 'चरण' शब्दः नपुंसकः। 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यमरः। (नः) अस्मान् साधकान्, 'लोके' प्रपञ्चे, 'सुधितान्' तृप्तान्। यद्वा—सञ्जात-बुद्धिप्रकाशान् सुधियः कृत्वा, 'दधातु' पुष्णातु। ननु अयं मन्त्रः अषाढासु इष्टिसु याज्यत्वेनाऽऽम्नातः। मन्त्राणां समवेतार्थप्रकाशनशीलत्वात्। 'चरणाय स्वाहे'ति [१]चतुर्थ्यर्थोपहितशब्दस्यैव देवतात्वात् एवं व्याख्यानं न सङ्गच्छत इति चेत्? उच्यते। अत्राहुर्भगवत्पादाः—

'सिद्धमन्नं परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिः।' इति।

अयं भावः—वेदस्य सकर्तृकत्वाऽसिद्धेः फलदानसमर्थत्वेन सर्वविद्वदभिमतं वृद्धव्यवहारावसितशक्तिकं 'लोकस्य द्वारम्' इत्यादि-विशेषणविशिष्टत्वार्हं भगवत्याश्चरणमेव 'चरणाय स्वाहे'त्यत्र चरणशब्देनाऽभिधीयत इति। एवं चन्द्रमण्डलात्मकं श्रीचक्रं श्रीदेवी-चरणकिरणालङ्कृतं बैन्दवं ज्योतिः। एता रुद्रविष्णुग्रन्थिरूपाः। 'उ वै' प्रसिद्धार्थे निपातौ। काः पुनस्ताः? ग्रन्थित्रयात्मना प्रसिद्धाः। 'मण्डलाः' सोम-सूर्याऽग्निमण्डलाः, त्रिवलय्रा इत्यर्थः। 'मण्डयन्ति' अलङ्कुर्वन्ति। यथा मणिगतमयूखा मणिमलङ्कुर्वन्ति, तद्वदिति भावः।

अत्रेदमनुसन्धेयम्—आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञा-

---

१. 'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिः' इति भट्टपादोक्तत्वात्।

चक्रात्मकं त्रिखण्डं सोमसूर्यानलात्मकं श्रीचक्रम्। मूलाधार-स्वाधिष्ठान-चक्रद्वयमेकखण्डम्। मणिपूराऽनाहतचक्रद्वयमेकखण्डम्। विशुद्ध्याज्ञाचक्र-द्वयमेकखण्डम्। अत्र प्रथमखण्डोपरि अग्निस्थानं तदेव रुद्रग्रन्थिरित्युच्यते। द्वितीयखण्डोपरि सूर्यस्थानम्, तदेव विष्णुग्रन्थिरित्युच्यते। तृतीयखण्डोपरि चन्द्रस्थानम्, तदेव ब्रह्मग्रन्थिरित्युच्यते। 'सोम-सूर्याऽनलात्मकमि'-त्यवरोहक्रमेण अवगन्तव्यम्। तत्र प्रथमखण्डोपरि स्थितो वह्निः स्वज्वालाभिः प्रथमखण्डमावृणोति। द्वितीयखण्डोपरि स्थितः सूर्यः स्वकीयैः किरणैः द्वितीयखण्डमावृणोति। तृतीयखण्डोपरि स्थितश्चन्द्रः स्वकलाभिस् तृतीयखण्डमावृणोति। आधारचक्रे महीतत्त्वात्मके वह्नेः षट्पञ्चाशत् ज्वालाः। मणिपूरे उदकतत्त्वात्मके स्वोपरिस्थिते द्विपञ्चाशज्ज्वालाः। एवम् अष्टोत्तरशतं वह्नेर्ज्वालाः। सूर्यस्याऽग्नितत्त्वात्मके स्वाधिष्ठाने द्विषष्टिकिरणाः। अनिलतत्त्वात्मके अनाहतचक्रे चतुष्पञ्चाशत् किरणाः। सूर्यस्य मणिपूरं विहाय स्वाधिष्ठानप्रवेशः सूर्याग्न्योरेकत्वात्। सूर्यान्तर्भावादग्नेश्च। स्वाधिष्ठानमणिपूरयोस्तु सूर्याग्निस्थानयोर्मध्ये अग्निस्थाने सूर्यप्रवेशः, सूर्यस्थाने अग्निप्रवेशः, जगद्दाहकाभिशामकसंसेचकमेघात्मकसूर्यकिरणजनितवर्षोत्पत्त्यर्थम्। सूर्यकिरणा एवाऽग्निसंभिन्ना मेघत्वमपन्ना जलरूपेणेति मणिपूरस्याऽऽधारत्वा-धिष्ठानयोर्मध्ये निवेशः। अनाहतोपरिस्थितसूर्यकिरणाः स्वाधिष्ठानाग्निना संवलिताः सन्तो मणिपूरं प्रविश्य जलत्वमापन्नाः, तेन जलेन स्वाधिष्ठानाग्निना दग्धं जगदाप्लावयन्तीत्यागमरहस्यम्। एवं सूर्यस्य षोडशोत्तरशतं किरणा भवन्ति। चन्द्रस्य कला वियत्तत्त्वात्मके विशुद्धिचक्रे द्विसप्ततिः। मनस्तत्त्वात्मके आज्ञाचक्रे चतुःषष्टिः। एवं चन्द्रस्य षट्त्रिंशदुत्तरं शतं कला भवन्ति। यथोक्तं भैरवयामले भैरवाष्टकप्रस्तावे—

'अष्टोत्तरशतं वह्नेः षोडशोत्तरशतं रवेः ।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य च विनिर्णयः।।' इति।

एवं सोमसूर्यानलाः पिण्डाण्ड-ब्रह्माण्डे आवृत्य वर्तन्ते। पिण्डाण्ड-ब्रह्माण्डयोरैक्यात्। पिण्डाण्डावृत्तिरेव ब्रह्माण्डावृत्तिरिति रहस्यम्। एवं पिण्डाण्डमतीत्य वर्तते सहस्रकमलम्। तच्च ज्योत्स्नामयो लोकः। तत्र स्थितश्चन्द्रमा नित्यकलः। अत एव अग्नि-सूर्य-चन्द्राणां मयूखाः षष्ट्युत्तरत्रिशतत्रिशतसंख्याका आधार-चक्रप्रभृति आज्ञाचक्रपर्यन्तमेव किरन्ति। अज्ञाचक्रस्थितचन्द्रादन्य एव सहस्रकमलस्थितश्चन्द्रः श्रीचक्रात्मको नित्यकल इति। यदुक्तं सुभगोदये 'षोडशकलानां शोडशनित्यात्मकत्वात् प्रतिपदादिशुक्लकृष्णपक्षतिथ्यात्मकतया

वृद्धिक्षयसद्भावात् चन्द्र-स्यापि सहस्रदलकमलस्य वृद्धिक्षयौ भवत एवेति। तत्र चन्द्रमसो वृद्धिक्षयौ न भवतः। किन्तु षोडशनित्यात्मकाः षोडश चन्द्राः प्रतिपदादिपौर्णमा-स्यन्ततिथिप्रवर्तकाः। तथैवाऽमावास्याप्रभृतिकृष्णपक्षप्रति-पदन्ततिथिप्रवर्तकाः 'स्वात्मतिरोधानाऽतिरोधानाभ्याम्' इति मन्त्रबिदु-रहस्यम्।

इदमत्रानुसन्धेयम्—श्रीविद्यायाश्चन्द्रकलाविद्यापरनामधेयायाः पञ्चदश-तिथिरूपत्वात् षष्ट्युत्तरत्रिशतमयूखाः दिवसात्मकाः। तेन संवत्सरो लक्ष्यते। तस्य कालशक्त्यात्मकस्य संवत्सरस्य प्रजापतिरूपत्वात् प्रजापते-र्जगत्कर्तृत्वात् मरीचीनां जगदुत्पत्तिस्थितिलयकरत्वम्। ते च मरीचयः अस्मिन् ब्रह्माण्डे पिण्डाण्डे च षष्ट्युत्तरत्रिशतसङ्ख्याकाः। एवम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डेषु पिण्डाण्डे च एवमेव प्रतिब्रह्माण्डं षष्ट्युत्तरत्रिशत-संख्याका मयूखाः, ततश्चानन्ता मयूखाः। ते च मयूखाः सूर्यचन्द्राग्निसम्पृक्ताः। एते मयूखा भगवतीपादारविन्दजन्मान-स्तांस्तांल्लोकान् प्रकाशयन्ति। अयं च 'लोकस्य द्वारमि' त्युक्त्वा भगवती-पादारविन्दात् सम्भव उक्तः।

अयं भावः—सूर्य-चन्द्राग्नयो भगवतीप्रसादसमासादितजगत्प्रकाश-कत्वसामर्थ्यात् जगन्ति प्रकाशयन्तीति। अतश्च सर्वलोकातिक्रान्तं चन्द्रकलाचक्रं बैन्दवस्थानमिति। तत्र अनेककोटिब्रह्माण्डपिण्डाण्डा-वच्छिन्नमयूखानाम् उपरि श्रीदेव्याश्चरणाविन्दं वर्तत इति भावः। यथोक्तं भैरवयामले ज्ञानविद्यायां गौरीं प्रति महेश्वरेण—

'साधु साधु महाभागे! पृष्टं त्रैलोक्यसुन्दरि! ।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि! ।।

पञ्चभूतात्मकं चैव तन्मात्रात्मकमेव च ।
इन्द्रियात्मकमेवं च मनस्तत्त्वात्मकं तथा ।।

मायादित्त्वरूपञ्च तत्त्वातीतं च बैन्दवम् ।
बैन्दवे जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहारकारिणी ।।

सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी ।
ज्योतीरूपा पराकाशा यस्या देहोद्भवाः शिवे ।।

किरणाश्च सहस्रं च द्विसहस्रं च लक्षकम् ।
कोटिरर्बुदमेतेषां परा संख्या न विद्यते ।।

तामेवानुप्रविश्यैव भाति लोकं चराचरम् ।
यस्या देव्या महेशानि! भासा सर्वं विभासते ।।

तद्भासा रहितं किञ्चिद् न च यच्च प्रकाशते ।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिद्रूपायाश्चितं विना ।।

आन्ध्यमापद्यते नूनं जगदेतच्चराचरम् ।
तेषामनन्तकोटीनां मयूखानां महेश्वरि! ।।

मध्ये षष्ट्युत्तरं तेऽमी त्रिशतं किरणाः शिवे! ।
ब्रह्माण्डं व्यश्नुवानास्ते पिण्डाण्डमपि शङ्करि! ।।

दिवा सूर्यस्तथा रात्रौ सोमो वह्निश्च सन्ध्ययोः ।
प्रकाशयन्तः कालांस्ते तस्मात् कालात्मकास्त्रयः ।।

षष्ट्युत्तरं च त्रिशतं दिनान्येव तु हायनम् ।
हायनात्मा महादेवः प्रजापतिरिति श्रुतिः ।।

प्रजापतिर्लोककर्ता मरीचिप्रमुखान् मुनीन् ।
सृजन्ति लोकपालांस्ते ते सर्वे लोकरक्षकाः ।।

संहारश्च हरायत्तः उत्पत्तिर्भवनिर्मिता ।
रक्षा तु मृडसंलग्ना सृष्टिस्थितिलये शिवः ।।

नियुक्तः परमेशान्या जगदेवं प्रवर्त्तते ।।' इति।

एवमेते सोम-सूर्याऽग्नि-मण्डला बैन्दवं ज्योतिर्मण्डयन्तीत्यर्थः।।४।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

अथ सृष्टिचक्रेऽवशिष्टे वृत्तत्रयविशिष्टं पद्मद्वयमुपदेष्टुं चतुर्थीमृचमाह- ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनज्योतिरिति।

चतुर्दशारमधोऽधो हि द्वे चक्रे अष्टदलषोडशदलपद्मात्मके वर्तेते । तयोर्द्वे कर्णिकावृत्ते बाह्यवृत्तमेकम्, एवं त्रीणि वृत्तानीति कतिपयसिद्धान्तः। अत एव 'ज्येष्ठारूपं चतुष्कोणं वामारूपं भ्रमित्रयम्' इत्यत्र भ्रमित्रयपदस्य वृत्तत्रयान्तरालद्वयवर्तिपद्मद्वयलक्षकत्वेन प्राचामाचार्याणां व्याख्या युज्यते। 'वृत्तत्रयसंयुतम्। सरोरुहद्वयं शाक्तैरग्नीषोमात्मकं प्रिये' इति वचनेऽप्येषैव व्याख्या। तानि च वृत्तान्यग्निसूर्यसोमगुणत्रयरूपाणीति प्रकृतायामृचि वर्णनेनैव तदन्तरालपद्मद्वयं वर्णितं वेदितव्यम्। अक्षरार्थस्त्वग्रे स्थितिचक्रोत्तरचक्रेषु प्रथमं तमो वै तमोगुणात्मकं ज्वलननामकं ज्योतिर्मण्डलमभूत्। ऊर्ध्वज्वलदिति

विशेषणेनाग्निज्वालारूपत्वदृढीकारः। ऊर्ध्वभागे कज्जलदर्शनेन तमोरूपत्व-दृढीकारश्च। अत एव तेजोमयस्य तमस्त्वोक्तावसाङ्गत्यशङ्कापरिहारायैव वै इत्यव्ययम्। ततः परं तिरश्चीनं तिर्यक्प्रसारि ज्योतिर्मण्डलं रक्तत्वाद्रजोगुणमभूत्। तच्च सूर्यरूपम्। अग्निसूर्ययोरूर्ध्व-तिर्यक्प्रसृतेः प्रत्यक्षत्वात्। यथाहुरभियुक्ताः—

'गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः'। इति। अजरमिति विशेषणमग्नितो वैलक्षण्यदृढीकरणाय। ततो मोदनं वैषयिकसुखोत्पादक-मिन्दोर्ज्योतिर्मण्डलमभूत्। आनन्दपदेन सत्त्वगुणात्मकतोक्ता, सत्त्वाधिक्यस्यैव ब्रह्मानन्दव्यञ्जकत्वात्। उ वै इति कोमलामन्त्रणे एवकारार्थे वा। एवं त्रीणि मण्डलानि वृत्तानि। एता मातृः मण्डयन्ति शोभावतीः कुर्वन्ति। वृत्तत्रयान्तराल-वर्तिकमलयुगलविशिष्टं श्रीचक्रं कार्यक्षमम्, न केवलं मन्वश्रान्तमित्यर्थः मन्वश्रादिबिन्द्वन्तपूजाया आपत्कल्पत्वादिति भावः ॥४॥

भाषाव्याख्या

अनन्तर सृष्टिचक्र के अवशिष्ट रहने पर तीन वृत्तों से विशिष्ट दो कमलों (अष्टदल-षोडशदल) के उपदेश के लिए यह चतुर्थ ऋक् है— **ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनज्योतिरग्रे।** मन्त्रव्याख्या का उपक्रम करते हैं—**चतुर्दशारम्।** चतुर्दशकोण के नीचे की ओर अष्टदलकमल और षोडशदल कमलरूप दो चक्र हैं। इन दोनों चक्रों के तीन वृत्त हैं—कर्णिकावृत्त दो और बाह्य वृत्त एक। यह कतिपय आचार्यों का सिद्धान्त है। इस अर्थ को परिपुष्ट करते हैं—**अतएव।**

'ज्येष्ठारूपं चतुष्कोणं वामारूपं भ्रमित्रयम्'।

उक्त सिद्धान्त की परिपुष्टि में श्लोकगत 'भ्रमित्रय' पद से तीन वृत्तों के मध्य में विद्यमान दोनों (अष्टदल-षोडशदल) कमल भी लक्षित होते हैं, यह प्राच्य आचार्यों की व्याख्या भी सङ्गत हो जाती है। **'वृत्तत्रयसंयुतम्। सरोरुहद्वयं शाक्तैरग्नीषोमात्मकं प्रिये'** अर्थात् तीन वृत्तों से संयुक्त दो कमल अग्नीषोमात्मक हैं, इस वाक्य की व्याख्या भी पूर्वोक्त प्रकार की ही होगी। ये तीनों वृत्त अग्नि, सूर्य और सोम, इन तीन देवतारूप हैं। आचार्य ने यहाँ 'गुण' शब्द का प्रयोग अङ्गत्वाभिप्राय से किया है, जैसे याग में द्रव्य, देवता, देश, काल आदि गुण कहे जाते हैं। इस चौथी ऋक् में उक्त देवतात्रयात्मक तीनों वृत्तों के वर्णन से मध्यवर्ती दो कमलों का भी परिगणन समझना चाहिये। इस प्रकार यहाँ अष्टदल कमल, षोडशदल कमल एवम् तीन वृत्तों का प्रतिपादन है। भूपुर का प्रतिपादन पाँचवीं ऋक् में होगा। मन्त्र के अक्षरार्थ की योजना करते हैं—**अक्षरार्थस्त्वग्रे।** स्थितिचक्र के बाद वाले चक्रों में प्रथमतया तमोगुणस्वरूप 'ज्वलन' नाम का ज्योतिर्मण्डल हुआ। मण्डल का बिम्ब अर्थ है, जैसे सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल। 'ऊर्ध्वज्वलत्' का अर्थ है—

ऊपर की ओर उद्दीप्त प्रकाश वाला। इस विशेषण से अग्निज्वाला के रूप का निश्चय होता है। दीपक आदि में अग्निज्वाला के ऊपरी भाग में कज्जल दिखायी देता है, इसी कारण कृष्णवर्णप्रधान तमोरूप का निश्चय होता है। तेजोमय अर्थात् तेज़:स्वरूप वस्तु का 'तम' के रूप में कथन असङ्गत जैसा लग रहा है, इस आशङ्का के परिहार (दूरीकरण) के लिए दार्ढ्य का द्योतक 'वै' अव्यय है। द्वितीय ज्योतिर्मण्डल को कहते हैं—**ततः परम्।**

तत्पश्चात् तिरश्चीन अर्थात् तिरछे फैलने के स्वभाव वाला सूर्यरूप ज्योतिर्मण्डल हुआ। रक्तवर्ण से उपलित यह रजोगुणात्मक है। अग्निरूप ज्योतिर्मण्डल का ऊर्ध्व फैलाव और सूर्यरूप ज्योतिर्मण्डल का तिर्यक्प्रसार प्रत्यक्षतः सिद्धि है, इस तथ्य को अभियुक्त के वचन से दृढ़ करते हैं— **यथाहुरभियुक्ताः।**

महाकवि माघ का भगवान् नारद के विषय में यह श्लोक सुप्रसिद्ध है—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः
प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः
किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ।।१-२।।

सूर्य का गमन तिरछा प्रसिद्ध है और अग्नि का ऊपर की ओर। यह आकाश से नीचे की ओर चारों तरफ फैलने वाला तेज क्या हो सकता है, ऐसा लोगों ने व्याकुल होकर नारद को देखा।

'अजरम्' विशेषण अग्नि से विलक्षणता को दृढ़ करने के लिए है। तत्पश्चात् मोदन अर्थात् वैषयिक सुख का जनक चन्द्रमण्डल हुआ। मन्त्र में आया 'आनन्दन' पद सत्त्वगुणस्वरूपता को ध्वनित करने के लिए है, क्योंकि सत्त्व गुण की अधिकता ही ब्रह्मानन्द की व्यञ्जिका होती है। 'उ वै' पद 'एव' अर्थ में या आमन्त्रण का द्योतक है। इस तरह से तीन मण्डल = वृत्त हुए। ये तीनों माताओं को मण्डित करते हैं। तात्पर्य प्रकट करते हैं—**वृत्तत्रयान्तरालवर्ति।** तीनों वृत्तों के मध्य में विद्यमान दो कमलों से विशिष्ट श्रीचक्र ही उपासना के योग्य होता है अर्थात् फलदायक होता है, न कि चतुर्दशकोण तक ही। क्यों? इसीलिए कि चतुर्दशकोण से लेकर बिन्दुपर्यन्त की पूजा आपत्कल्प है अर्थात् समय आदि का सङ्कट उपस्थित होने पर ही है। 'बिन्दु' शब्द से एकत्र चतुष्कोण के किसी मत में त्रिकोण के मध्य में विद्यमान बिन्दु की विवक्षा मानी गयी है जो सहस्रदल कमल के अन्तर्गत है। शिवचक्र चार हैं जिनका प्रतिनिधिभूत वर्तुलाकार भी 'बिन्दु' शब्द से अभिलक्षित होता है। श्रीरामानन्दतीर्थजी ने अपने भाष्य में इसका स्पष्टीकरण किया है। तथाहि—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ।।'

शिवा च शिवश्च शिवौ तयोः शिवयोः। श्रीचक्र शिव और शक्ति दोनों का

शरीर माना जाता है। यहाँ त्रिकोण, अष्टकोण, दो दशकोण और चतुर्दशकोण, इन कोणों के रूप में पाँच शक्तिचक्र हैं तथा अष्टदल पद्म, षोडशदल पद्म, तीन मेखला (वृत्त) और तीन भूपुर, ये चार शिवचक्र हैं। शिवचक्र और शक्तिचक्रों की एकता के प्रतिपादन में दो मत हैं। चार शिवचक्र बिन्दुरूप हैं जो पाँच शक्तिचक्रों में व्याप्त होते हुए अन्तर्भूत अर्थात् समाप्त हो जाते हैं, यह एक मत है। अन्य के मत में बिन्दु और त्रिकोण की एकता तथा अष्टकोण और अष्टदलकमल, दो दशकोण और षोडशदलकमल एवम् चतुदर्शकोण (मन्वस्र) और भूपुर की एकता स्वीकार करके शिव और शक्ति का ऐक्य माना गया है।।४।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

तिस्रश्च रेखाः सदनानि भूमेस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः।
एतत्पुरं पूरकं पूरकाणां मैत्री प्रथते मदनो मदन्या।।५।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

इत्थं ग्रन्थित्रयात्मकं मण्डलत्रयं निरूप्य भूरेखात्रयं **'प्रतिपादयति तिस्रो रेखा'** इत्यादिना—

त्रयाणां मण्डलानामुपरि तिस्रः त्रिसंख्याका रेखाः सहस्रदलपद्मकर्णिकारूपेण चतुर्द्वारोपेताः। द्वारेषु चतुर्षु सोपानयुक्ता वर्तन्त इति शेषः। 'पार्थिवं तु चतुर्द्वारं भवती'ति श्रुतेः। तास्तिस्रो रेखाः सदनानि निकेतनानि। कस्याः? भूमेः सर्व-प्रकृतिभूतायाः पृथिव्याः। ताः किंरूपाः? त्रिविष्टपाः स्वर्ग-मर्त्यपाताललोकरूपाः। त्रिगुणाःगुणत्रयात्मकाः। त्रिप्रकाराः—पुनश्च लोके ये त्रिप्रकारा दृश्यन्ते आग्निवायुसूर्याः, ऋग्यजुःसामानि, गार्हपत्याऽऽहवनीयदक्षिणाग्नयः, वसुरुद्राऽऽदित्याः, अकारोकार-मकाराः, ब्रह्म-विष्णुरुद्राः, एते सर्वे भूरेखात्रयात्मका इत्यर्थः।

प्रकान्तं श्रीचक्रनिरूपणं निगमयति—'एतत् पुरमि'त्यादिना। एतत् इदं बुद्धिस्थं सृष्टिक्रमसंहारक्रमभेदेन द्विविधं कुलसमयमार्गद्वयानुसारि, पुरं श्रीचक्रनगरं पूरकं सन्धयितृकम्। केषाम्? शुद्धविद्यादिपरान्तदेवतायन्त्राणाम्, यद्वा नवर्षिपूरण-चक्रस्य श्रीदेवीरूपत्वात् सर्वाशापूरकत्वादिधर्मवत्त्वाच्चेत्यर्थः।

तथा च देव्युपनिषदि—'सर्वे वै देवा देवीम् उपतस्थुः। काऽसि त्वं महादेवि!, साऽब्रवीत्—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाऽशून्यं च। अहमानन्दानानन्दौ विज्ञानाविज्ञानेऽहं ब्रह्माब्रह्माणी वेदितव्ये' इत्याहाथर्वणी श्रुतिः। अहं पञ्च भूतानि। अहं पञ्च तन्मात्राणि। अहमखिलं जगद्, वेदोऽहम् अवेदोऽहम्। विद्याऽहमविद्याऽहम्। अजाऽहमनजाऽहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् चाऽहम्।

'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः।
अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ।।

अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम् ।
विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ।।

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते ।
अहं राष्ट्री सद्गमनी वसूनाम् अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ।।

मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति ।।' इति।

ऋग्वेदोऽपि देवीसूक्ते—'यं कामये तं तमग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधामि'ति। एतत् सृष्टिचक्रमपि मन्दबुद्धीनां ज्ञातुं दुःशकमिति सृष्टिचक्रलेखन-प्रकारो निरूप्यतेआदौ त्रिकोणमालिख्य मध्ये बिन्दुं निक्षिप्य बिन्दोरुपरि त्रिकोणं भित्त्वा त्रिकोणान्तरं प्रागग्रं विलिख्य प्रथमत्रिकोणाग्रात् त्रिकोणान्तरं पश्चिमाभिमुखं लिखेत्। एवमष्टकोणचक्रमुत्पन्नम्। एतस्मादेव दशार-मुत्पादयेत्। तद् यथा—अष्टकोण-प्राक्-पश्चिम-रेखाप्रान्ताभ्यां षट्कोण-मुत्पाद्य विदिग्गतमर्मस्थानेभ्यश्च-तुर्भ्यश्चतुरस्त्रिकोणानुत्पाद्य अष्टकोणगतयोनेरुपरि दक्षिणोत्तरायतरेखाम् ईशाना-ऽग्निकोणत्रिकोणेषु योजयेत्। एवं पश्चिमतो योजयेत्। दशारं भवति। एतस्मादेव दशारात् पुनर्दशारान्तरमुक्तरीत्या उत्पादयेत्। तद्यथा—प्रथमदशारपूर्वपश्चिमरेखा-प्रान्ताभ्यां षट्कोणमुत्पादयेत्। षट्कोणगतमर्मस्थानेभ्यश्चतुर्भ्यः त्रिकोणचतुष्टय-मुत्पादयेत्। तदुपरि स्थितमर्मचतुष्ट्यात् दशारन्यायेन त्रिकोण-चतुष्टयमुत्पाद्य प्राक् पश्चमरेखाः मेलयेत्। एवं त्रयश्चत्वारिंशत् कोणाः, चतुर्विंशतिसन्धयः चतुर्विंशतिमर्माणीति। एतत्समयमतरहस्यम्। अस्मिञ्चक्रे त्रिकोणमूर्ध्वमुखं लेखनीयम्। कौलचक्रे त्रिकोणमध्यगतो बिन्दुः समयचक्रे चतुष्कोणमध्यगतो बिन्दुः। कौलचक्रे त्रिकोणसंख्या नास्ति नवत्रिकोणात्म-कत्वात्। नवानां त्रिकोणानां मेलने मर्मसन्धयः स्वत एवोत्पद्यन्त इति महारहस्यम्। उभयचक्रसाधारणमत ऊर्ध्वम् अष्टदलपद्मम्। ततः षोडशदलपद्मम्। ततो मेखलात्रितयम्। ततश्चतुर्द्वारयुक्तं भूपुरत्रितयमिति श्रीचक्रोद्धारो निरूपितः। तथा चोक्तम्—

'बिन्दुत्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्ममन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।
वृत्तं त्रिभूपुरयुतं परितश्चतुर्धा श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ।।' इति।

सौन्दर्यलहर्यामपि—

'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः ।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव चरणकोणाः परिणताः ।।

अत्र रुद्रयामले विशेष उक्तः—

'पृश्नयो नाम मुनयो सर्वे चक्रसमाश्रयाः ।
सेवमानाश्चक्रविद्यां देवगन्धर्वपूजिताम् ।।
अग्नीषोमात्मकं चक्रम् अग्नीषोममयं जगत् ।
अग्नावन्तर्गतो भानुरग्नीषोममयं स्मृतम् ।।
त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम् ।
त्रिकोणं बैन्दवं सौम्यमष्टकोणन्तु मिश्रकम् ।।
चक्रं चन्द्रमयं चैव दशारद्वितयं तथा ।
चतुर्दशारं वह्नेस्तु चतुश्चक्रं च भानुमत् ।।
एतत्प्रसादादिन्द्राद्या वसवोऽष्टौ मरुद्गणाः ।
ये ये समृद्धा लोकेऽस्मिन् त्रिपुराचक्रसेवकाः ।।
पुरत्रयं च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम् ।
महालक्ष्म्याः पुरं चक्रं तथैवाऽऽस्ते सदाशिवः ।।'

इममेवार्थं श्रुतिरप्याह तैत्तरीयारुणोपनिषत्—'इमा नुकं भुवना सीषधेम। इन्द्रश्च विश्वे च देवाः' इत्यादिना 'ऋषिभिरदात् पृश्निभिः' इत्यन्तेन। 'पृश्नयो' नाम मुनयः परस्परं सङ्गिरन्ते। इमां चक्रविद्याम्। 'नुकं' वितर्के। 'भुवना' भुवनानि। 'सीषधेम' अवगच्छेम। श्रीविद्यामुपाश्रित्यैव भुवनान्यवतिष्ठन्ते इति वितर्कयाम इत्यर्थः। यद्वा—इमां चक्रविद्यां भुवना भुवनात्मतया, सीषधेम नुकं पृच्छायाम्। 'नु पृच्छायां वितर्के चे'त्यमरः। 'इन्द्रश्च विश्वे च देवाः' स्पष्टोऽर्थः। चक्रविद्यामुपाश्रित्यैवाऽऽसत इत्यर्थः। **'यज्ञं च नः तन्वं च प्रजां च आदित्यैरिन्द्रः सह सीषधातु'** अस्यार्थः—यज्ञमग्निष्टोमादिकं नः अस्माकं तन्वं तनुं शरीरार्धं पत्नीमिति यावत्। प्रजां सन्तानम्। चकारात् सर्वाः सम्पदः। आदित्यैः मरुद्गणैः, सह साकं चक्रविद्योपासनाप्राप्तपरमैश्वर्य इन्द्रः, चक्रविद्यामस्माकमुपदिश्य सीषधातु सम्पादितवान्, प्राप्तकाले लोट्।

'आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिः। अस्माकं भूदविता तनूनाम् ।।'

अयमर्थः—अस्माकं तनूनां पुत्र-मित्र-कलत्रादीनाम् अविता रक्षकः भूत् भवत्वित्यर्थः। इन्द्र एवाऽस्माकं योगक्षेमसम्पादक इति भावः।

'आप्लवस्वाप्रप्लवस्व'—पृश्नयः चक्रविद्यां प्रस्तुवन्ति। आपादमस्तकं प्लवनममृतनिष्यन्दसेचनं कुरु। प्रकर्षेण प्लवनं द्विसहस्रसप्ततिनाडीमार्गसेचनं कुरु।

'आण्डीभवजमामुहुः'—'आण्डी' पिण्डाण्डं ब्रह्माण्डं च। च्विप्रत्य-यान्तः। 'वव' पिण्डाण्डरूपेण अस्मदीयेन ब्रह्माण्डरूपेण बाह्ये भवदीयेन प्राप्नुहि। तव सायुज्यं देहीत्यर्थः। 'अज' अवगच्छ। मुहुर्मामवगच्छ। अनुगृहाणेत्यर्थः। 'अज'गताविति धातोः अकारलोपश्छान्दसः।

सुखादीन्दुः खनिधनाम्। प्रतिमुञ्चस्य स्वां पुरम्। अस्यार्थः—सुखमत्ति आदयतीति सुखादी सुखसम्पादकः इन्दुः चन्द्रः बैन्दवस्थानगतः। 'खनिधनाम्'—खं बैन्दवस्थानमेव नितरां धनं यस्याः सा ताम्। यद्वा-सुखादीं सुखप्रथमां सुखात्मिकाम्! दुःखनिधनाम् दुःखस्य निधनं नाशो यत्रेति दुःखनिधनाम्। अज्ञातदुःखामित्यर्थः यद्वा-सुखादीं-शोभनेन खेन इन्द्रियेण मनसा आदीम् आद्यां मनोवेद्यामित्यर्थः। दुःखनिधनां दुःखानां दुष्टेन्द्रियाणां चक्षुरादीनाम् अगोचरामिति। 'प्रतिमुञ्चस्व स्वां पुरम्' स्वां भगवत्यास्तव पुरं प्रतिमुञ्चस्व अधितिष्ठ।

'मरीचयः स्वायम्भुवाः'—स्वयं भगवत्याः सकाशात् भवा उत्पन्नाः मरीचयो मयूखाः। सर्वाणि भुवनान्यावृत्त्य वर्तन्त इति शेषः। सूर्यचन्द्राग्नीनां प्रकाशकत्वं स्वायम्भुवमरीचिप्रसादादेवेत्युक्तम्।

'ये शरीराण्यकल्पयन्'। अस्यार्थः—ये मयूखाः षष्ट्युत्तरशत-सङ्ख्याकाः शरीराणि कालात्मकानि षष्ट्युत्तरत्रिशतसङ्ख्याकानि दिनानि तान्येव संवत्सरः। 'संवत्सरो वै प्रजापतिरि'ति श्रुतेः।

'ते ते देहं कल्पयन्तु' ते मरीचयः, ते तव, देहं कल्पयन्तु देहमाश्रयन्तु। देहशब्देन देहावयवश्चरणमुच्यते। भवच्चरणोत्पन्ना इत्यर्थः।

'मा च ते ख्या स्म तीरिषत्'—ते तव, ख्या ख्यातिः ज्ञानम्, मा च तीरिषत् अस्मान् न जहातु। भवद्विषयं ज्ञानमस्माकं सदा सिद्ध्यत्वित्यर्थः।

इतः परं पृश्नयः चक्रविद्यानुष्ठाने त्वरमाणाः परस्परं सङ्गिरन्ते—**'उत्तिष्ठत मा स्वप्त, अग्निमिच्छध्वं भारताः! राज्ञः सोमस्य तृप्तासः, सूर्येण सयुजोषसः'।** अयमर्थः—हे भा-रताः! भायां भारूपायां ज्योतीरूपायां चक्रविद्यायामिति

यावत्। रताः उपासनारताः। यद्वा—भारत्याः सरस्वत्याः श्रीविद्यायाः उपासकाः। सामान्यविहितप्रत्ययस्य विशेषवाचित्वाद् भारता इति। 'उत्तिष्ठत' उपासनोपक्रमं कुरुत। 'मा स्वप्त' प्रमत्ता (मा) भवत। 'अग्निमिच्छध्वम्' स्वाधिष्ठानगताग्निं प्रज्वलयत। राज्ञश्चन्द्रस्य। उमया सहितः 'सोमः' चन्द्रमण्डलान्तर्गत-बैन्दवास्थानगतत्वात् देव्याः, चन्द्रस्य सोमशब्दवाच्यत्वसिद्धिः। तस्य चन्द्रस्य निष्यन्दैः 'तृप्तासः' तृप्ताः। 'सूर्येण' अनाहतचक्र-विशुद्धिचक्रयोर्मध्यस्थितेन सूर्येण सयुजा अग्निचन्द्रयोर्मध्यवर्तिनेत्यर्थः। राज्ञा तृप्तास इत्यन्वयः। कीदृशाः? 'उषसः' प्लुष्टमायामयक्लेशाः। यद्वा—'उषसः' उषःकाले ध्यानरताः। तस्मिन् काल एव भगवत्या निदिध्यासनादेर्विहितत्वात्।

पृश्नयः परापूजनसामग्रीमुपदिशन्ति।

'युवा सुवासाः' युवा दृढाङ्गः स्वस्थः, 'सुवासाः' शुभ्रवस्त्रः। इदं शुभ्राभरणशुभ्रमाल्यादीनामुपलक्षणम्। एवंविधः सन् पूजयेदित्यर्थः।

श्रीचक्रस्वरूपं तावदाहुः—**'अष्टाचक्रा नवद्वारा'**। अष्टकोणदशकोणद्वितय-चर्तुदशकोणाऽष्टपत्रषोडशपत्र-त्रिवलय-त्रिरेखात्मकानि अष्टौ चक्राणि यस्याः सा 'अष्टाचक्रा'। अत एव 'नवद्वारा' नव द्वाराणि त्रिकोणरूपाणि यस्याः सा 'नवद्वारा'। **'देवानां पूरयोध्या'** देवानामिन्द्रादीनां पूज्यत्वेन सम्बन्धिनी पूः श्रीविद्यानगरम्। यद्या—दीव्यन्तीति देवाः। पञ्चविंशतितत्त्वानि। तेषां 'पूः' श्रीविद्यानगरम्। यद्वा—सूर्यचन्द्राग्नीनां 'पूः' सोमसूर्यानलात्मकत्वात् श्रीचक्रस्य। तस्य पुरत्रयसमष्टिरूपत्वात् 'पूरि' त्येकवचनसिद्धिरिति ध्येयम्। 'अयोध्या'—असाध्या मन्दभाग्यानामिति शेषः।

'तस्यां हिरणमयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः'।

अस्याऽर्थः—तस्यां पुरि श्रीचक्रमध्ये 'हिरणमयः कोशः' सहस्रदलकमलकोश इत्यर्थः, बैन्दवस्थाने सहस्रदलकमलकोशस्य विद्यमानत्वात्। तस्य कोशस्य 'ज्योतिषा स्वर्गो लोक आवृतः'—ज्योतिर्लोकः स्वर्गलोक इत्यर्थः। अत्र पृश्नयः चक्रविद्योपासनायाः फलमाहुः—

'यो वैतां ब्रह्मणो वेद, अमृतेनाऽऽवृतां पुरीम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च, आयुः कीर्ति प्रजां ददुः ।।'

अयमर्थः—'ब्रह्मणः' ब्रह्मस्वरूपाया भगवत्याः 'तां' पूर्वोक्ताममृतावृतां चन्द्रमण्डलगतपीयूषधारावृतां पुरीं श्रीचक्ररूपां त्रिपुरायाः पुरं 'यो वेद' ज्ञान-पूर्वकमर्चनं करोति, 'तस्मै' विदुषे अर्चकाय, 'ब्रह्म च' ब्रह्मस्वरूपा भगवती।

'ब्रह्मा च = ब्रह्मस्वरूपो भगवान्। चकारद्वयम् उभयोर्मेलनं समुच्चितोति। मिलितयोरेव बैन्दवस्थाने सहस्रारे सुधासिन्धुमध्ये मणिद्वीपे चिन्तामणिगृहे निवासात्। एतावुभौ आयुः जीवितं कीर्तिं यशः प्रजां सन्तानं ददुः दद्यातामित्यर्थः। व्यत्ययो बहुलमिति वचनव्यत्ययः।

शिवशक्त्योस्तत्रैव निवासमाहुः—

'विभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशाऽपराजिता ।।'

अयमर्थः—बिभ्राजमानाम् (अनन्तकोटिसंख्याककिरणैरिति शेषः) प्रकाशमानां 'हरिणीं' हिरण्यवर्णाम् 'हिरण्यवर्णां हरिणीमि'ति श्रुतेः। यशसा कीर्त्या, (सम्परीवृताम्) सम्यक् परिवृताम्। ये ये लोके कीर्तिमन्तः, ते ते सर्वे भगवतीप्रसादसमासादितकीर्तिमन्त इत्यर्थः। तां बैन्दवीं 'पुरं' चिन्तामणिगृहं 'ब्रह्मा' सदाशिवः, 'ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्' इति श्रुतेः। पुल्लिङ्गब्रह्मशब्दसदाशिवशब्दयोरेक एवाऽर्थः प्रतीतः। 'विवेशा-ऽपराजिता'। सादाख्या चन्द्रकला विवेश। वाक्यद्वयेनोभयोः प्रवेशभेद-प्रतिपादनम्। बैन्दवे चिन्तामणिगृहे सदाशिवः सर्वदा सन्निहितः। 'अपराजिता' कुण्डलिनी शक्तिः षट् चक्राणि भित्त्वा भूयो भूयः प्रविशतीतीममर्थं ज्ञापयितुम्। शिवशक्त्योस्तस्मिन् चक्रेऽवस्थितिप्रकारमाहुः।

'पराङेत्यज्यामयी पराङेत्यनाशकी'। अस्यार्थः—पराक् अधोमुखी चक्ररूपिणी शिवशक्त्योर्मध्ये शक्तिः, अज्यामयी ज्यानिरहिता। ज्यानिः हानिः, तद्रहिता नित्या दुःखरहिता आनन्दमयीत्यर्थः। 'एति' वर्तते। यद्वा 'अज्यामयी' ज्या भूमिः, तेन पञ्चभूतानि लक्ष्यन्ते। तन्मयी न भवतीति 'अज्यामयी' मनस्तत्त्वादिमयी, शिवचक्रात्मकचतुर्योन्यात्मिकेति यावत्। शिवयोनीनां बैन्दवस्थानादधः अवाङ्मुखतयाऽवस्थानात्। 'अनाशकी' नाशरहिता, शक्तिचक्रात्मकपञ्चयोन्यात्मिका। पराङ् अधोमुखी। एति शक्तियोनीनामपि शिवयोन्यपेक्षया अवाङ्मुखत्वात्। एवं शिवयोनि-शक्तियोन्योः परस्परमवाङ्मुखत्वं चक्रलेखनक्रमादवगम्यते। विदुषः फलमाहुः—

'इह चामुत्र चान्वेति, विद्वान् देवासुरानुभयान्'।

दीव्यन्तीति देवाः। एकादशेन्द्रियाणि। 'असुराः' असवः प्राणाः प्राणादि-पञ्चवायवः, तान् रान्ति आददत इति पञ्चतन्मात्रा उच्यन्ते। 'उभयत्र देवासुरेष्वन्वितान् माया-शुद्धविद्या-महेश्वर-सदाशिवान्। यो विद्वान् पञ्चविंशतितत्त्वजातं विदित्वा

शिवशक्तिसम्पुटात्मकं पञ्चविंशतितत्त्वविलक्षणं षड्विंशं तत्त्वं यस्तु वेत्ति स विद्वान्, इह च इह लोके पूजातारतम्यवशात् अमुत्र च परलोके सार्ष्टिसालोक्यसामीप्यसारूप्यात्मिकया पञ्चविधया मुक्त्या अन्वेति युज्यते।

अथ देवासुरोभयज्ञानोपायमाहुः—

'यत् कुमारी मन्द्रयते यद्योषित् यत् पतिव्रता ।
अरिष्टं यत् किं च क्रियते अग्निस्तदनुवेधति ।।'

अयमर्थः—कुण्डलिन्याः शक्तेः अवस्थात्रयं विद्यते। यत् यस्मिन् चक्रे, कुमारी कुमारावस्थापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रस्वरं करोति कुण्डलिन्याः सर्पाकारत्वात्। सर्पो हि सुप्तोत्थाने मन्द्रस्वरं करोति, तद्वदित्यर्थः। यदि योषित् यस्मिन् चक्रे कुलयोषित् विष्णुग्रन्थिपर्यन्तं गत्वा राति इति शेषः।

'कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा राति विष्णोः प्रभेदनः'।

इति सनत्कुमारवचनात्। यत् यस्मिन् चक्रे पतिव्रता पत्या सदाशिवेन सार्द्धं सहस्रदलकमले विहरमाणा रिष्टं शुभाभावः, 'रिष्टं क्षेमेशुभाभावः' इत्यभिधानात् तदन्यदरिष्टं शुभम् अमृतारवाद इत्यर्थः। यत्किञ्चित् क्रियते, तत् स्वाधिष्ठानगतोऽग्निरनुवेधति सहायं करोति। अतश्चाऽभ्यासवशात् वायुनाऽग्निं प्रज्वाल्य अग्निशिखानुविद्धविलीनचन्द्रमण्डलगलत्पीयूषधारानुभवे पञ्चविंशति-तत्त्वातीता परमेश्वरीति ज्ञातुं सुशकेत्युपदेशः।

चक्रविद्योपासनं वर्णिनाम् आश्रमिणां ज्ञानिनामज्ञानिनां च फलदायक-मित्यभिसन्धायाहुः—

'अश्रृतासः श्रृतासश्च यज्वानो येऽप्ययज्वनः ।
स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते ।।'

अयमर्थः—'अश्रृतासः' अपक्वा अक्षपितान्तःकरणकल्मषा इत्यर्थः। 'श्रृतासश्च' पक्वाश्च। 'आज्जसेरसुगि'त्यसुगागमः। क्षपितान्तःकरणकल्मषा इत्यर्थः। 'यज्वानः' यजनशीलाः, त्रैवर्णिकाः आश्रमिणश्च। 'अयज्वनः' यागरहिताः शूद्रादयः, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त' इति श्रुतिस्त्रैवर्णिकैक-नियताधिकारयज्ञशब्दवाच्याऽग्निष्टोमादिपरा। चक्रविद्योपासने शूद्राणा-मप्यधिकारचोदनात्। निषाद-स्थपतिवद्[१] वैदिके कर्मण्यधिकारसिद्धेर्न न काचित् क्षतिः। 'यन्तः' इण् गतौ। चक्रविद्यामवगन्तारः। 'स्वः' स्वर्गं नापेक्षन्ते।

१. 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' इति विधिना निषादानामप्यधिकारादिति भावः।

चक्रविद्योपासनाव्यतिरेकेण देवतान्तरोपासनायामनिष्टमाहुः—

'इन्द्रमग्निं च ये विदुः सिकता इव संयन्ति ।

रश्मिभिः समुदीरिता अस्माल्लोकादमुष्माच्च ।।'

अयमर्थः—सुराऽसुरमुख्यवन्दितचरणारविन्दायाः सर्वान्तर्यामिन्याः सर्वव्यापिन्या जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतोश्चक्रविद्याया अन्यत्वेन ये इन्द्रमग्निं च, चकाराद् यमादिलोकपालान् पृथिव्यादिसदाशिवान्ततत्त्वानि च उपास्यत्वेन विदुः, ते सिकता इव बालुककणा इव संयन्ति परस्परं विरलाः परिभ्रष्टा भवेयुरित्यर्थः। किञ्च—रश्मिभिः यमपाशैः उत्तरप्रबन्धे 'अपेत वीते'त्यादौ प्रतिपादितैः समुदीरिताः संयताः बद्धा भवेयुः। किञ्च-अस्माल्लोकादमुष्मात् लोकाच्च भ्रष्टा भवेयुरिति शेषः। अत एव श्रुत्यन्तरन्—

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' इति।

अयमर्थः—'अविद्यां' विद्याविरुद्धां ज्ञानमार्गविरुद्धामिन्द्रादिसेवां 'वाचं धेनुमुपासीते'त्येवमध्यारोपितसेवां च ये (कुर्वते) उपासते, ते अविद्वांसः अन्धं तमः प्रविशन्ति अन्धतामिस्रं प्रविशन्तीत्यर्थः। चकारः प्रकरण-समाप्तिद्योतकः।

'ऋषिभिरदात् पृश्निभिः' पृश्निनामकैः ऋषिभिरेतत् सर्वमदात् अदायि। कर्मणि लुङ्। छान्दसः कर्मणि प्रत्ययलोपः; कर्तृप्रत्ययव्यत्ययश्च। ऋषिभिः पृश्निभिरेवमुक्तमित्यर्थः। यद्वा पृश्निभिः सहितः ऋषिसंघ एवमदात्। वाचमिति शेषः। उक्तवानित्यर्थः। प्रदेशान्तरे—

'सतद्वा अट्टारगमन्ता संहार्यन्नगरं तवेति'। अस्यार्थः—सतद्वा चतुर्द्वारमित्यर्थः। छान्दसो वर्णलोपश्च। भगवत्यां श्रीविद्यायाम् अप्रतिहतस्वातन्त्र्यप्रभावात् अयं वेदः प्रतीकतयोपादानात् क्वचिन्मन्त्रस्यादिवर्णं गृह्णाति, क्वचिदन्त्यं क्वचिदुभयं क्वचिन्मध्यं क्वचिदधिकं क्वचिन्न्यूनम्। यथा 'चत्वारो मामशश्चारोस्त्रः' इत्यत्र भाष्यकारैरेवं भाषितम्। मशकवत् शत्रून् शृणातीति मशश्चोरः। अत्र मकारेण मशकपदं गृह्यते, रेफोऽधिको गृहीतः निरर्थकः। शृणातीति शारः। शृहिंसायामिति धातोः ततो मशकानि निष्पिनष्टीति मशकशब्दो राज्ञो विशेषणमिति। एवं बहुषु स्थलेषु दृश्यते। तथात्रापि। 'अट्टारगमम्' अट्टारैः प्राकारवलयैः त्रिभिरगमं दुर्गमम्, 'ता' तानीमानि भूतानि। भगवति! तव नगरं पुरं श्रीचक्रात्मकं संहार्यं संहारकमित्यर्थः। पृथिव्यादिमहेश्वरान्तानि तत्त्वानि तत्रैव लीयन्ते इति तात्पर्यम्। केचिदेवं व्याचक्षते संहार्यं संहारक्रमेण लेखनीयम् इति। तन्न, कौलमत एव संहारक्रमेण चक्रस्य लेखनीयत्वादिति। अत्र मेरुप्रस्तारकैलासप्रस्तारभूप्रस्तारास्त्रयः

सन्ति। 'मेरुप्रस्तारो' नाम नित्याषोडशी-तादात्म्यम्। कैलासप्रस्तारो नाम मातृकातादात्म्यम्। भूप्रस्तारो नाम वशिन्यादितादात्म्यम् इति शुभागमपञ्चके कथितम्। **शुभागमपञ्चकं नाम वासिष्ठसंहिता, सनकसंहिता, सनन्दनसंहिता सनत्कुमारसंहितेति संहिताः शुभागमपञ्चकम्।** तत्र वसिष्ठसंहितायां देवीं प्रति शिववचनम्—

'श्रुणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशिकार्णवम् ।
न कस्यचिन्मया ख्यातं सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।।

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी ।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी ।।

नित्यक्लिन्ना तथा भेरुदण्डा वह्निवासिनी ।
महावज्रेश्वरी रौद्री त्वरिता कुलसुन्दरी ।।

नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ।
ज्वालामालिनिका चैव चित्रा नित्या तु षोडशी ।।

प्रतिपत्प्रभृति ता देव्यः पौर्णिमास्यन्तमर्चयेत् ।
एकादिवृद्धिदान्येव दर्शान्तं देवि विग्रहम् ।।' इति।

षोडशनित्यास्तु अष्टवर्गात्मकतया अष्टदलपद्मे अष्टपत्रेषु स्थिताः। यथाक्रमम् अष्टकोणचक्रे प्रागादिकोणमारभ्य एकैकस्मिन् कोणे द्विकं द्विकमन्तर्भूतम्। एवमष्टद्विकानि अष्टकोणेष्वन्तर्भूतानि। एता एव नित्याः षोडशस्वरात्मकतया षोडशदलपद्मे स्थिता द्विदशारेऽन्तर्भूताः। एतासां नित्यानां मध्ये प्रथमनित्याद्वयं त्रिकोणबिन्दुरूपेण स्थितम्। अवशिष्टास्तु चतुर्दश नित्या मन्वश्रेऽन्तर्भूताः। मेखलात्रयभूपुरत्रये बैन्दवत्रिकोणयोरन्तर्भूते। एवं नित्यानां चक्रेऽन्तर्भावः। इममेवान्तर्भावं मेरुप्रस्तरमाहुः। अत एव चन्द्रकलाविद्यायाः श्रीचक्रविद्याया अङ्गत्वं नित्यानां सिद्धम्। सनन्दनसंदितायां ऋषीन् प्रति सनन्दनवचनम्। एतास्तु षोडशनित्याश्चन्द्रकलायाश्चक्रविद्याया अङ्गभूताः, एतास्तु षोडश नित्याः स्वरात्मिकाः। पञ्चदशाक्षरीमन्त्रगत-एकारादिभूत-अकारविसर्गात्मक-सकाराभ्यां संगृहीता जीवकलारूपा बैन्दवस्थाने स्थापितास्तत्रैवान्तर्भूताः। कादयो मावसानाः पाशाङ्कुशबीजयुक्ताः सन्तः अष्टारे दशकोणद्वये चाऽन्तर्भूताः। शिष्टास्तु यकारादयो नव वर्णा द्विरावृत्त्या मन्वश्रे चतुर्दशकोणेषु चतुर्दशारान्तर्भूताः। शिष्टं वर्णचतुष्टयं शिवचक्रचतुष्टयेऽन्तर्भूतम्। इममेव कैलासप्रस्तारमाहुः। एवं नित्यानां चक्रविद्यायां षोडशनित्यानामङ्गत्वं प्रतिपादितम्। सनत्कुमारसंहितायामपि

चक्रविद्यायां षोडशनित्यानामङ्गत्वं प्रतिपादितम्। यथा सनत्कुमारवचनम्—श्रीचक्राङ्गभूता नित्या वशिन्यादिभिः द्विकं द्विकं मेलयित्वा बैन्दव-त्रिकोणं विहायाऽष्टासु कोणेषु अन्तर्भाव्याः। मध्ये त्रिपुरसुन्दरी अन्तर्भाव्या। अष्ट वर्गाः अष्ट वशिन्यादयः। षोडश नित्याः। द्वादश योगिन्यः। चतस्रो गन्धाकर्षण्यादयः, एवं चतुश्चत्वारिंशद्देवता अन्तर्भाव्याः। अत्रैकां शक्तिं विहाय त्रयश्चत्वारिंशत्कोणेषु त्रयश्चत्वारिंशद् देवता अन्तर्भाव्याः। एकां त्रिपुरसुन्दरीं बैन्दवस्थानादधस्तात्। गन्धाकर्षिण्याद्याश्चतुर्द्वारेष्विति नित्यानामङ्गत्वं प्रतिपादितम्। इममेव भूप्रस्तरमाहुः। अत्र वशिन्याद्यष्टकम् वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी, कौलिनीति षोडश नित्याः पूर्वमुक्ताः। योगिनीद्वादशकं च विद्यायोगिनी, रेचिकायोगिनी, अमृतायोगिनी मोचिकायोगिनी, दीपिकायोगिनी, ज्ञानयोगिनी, आप्यायनीयोगिनी, व्यापिनीयोगिनी, मेधायोगिनी, लोभरूपा योगिनी, सिद्धरूपा योगिनी, लक्ष्मीयोगिनी चेति। एवं द्वादश योगिन्यः। गन्धाकर्षिण्यादयश्चतस्रः। सेयं पञ्चाशद्वर्णात्मिका भवति। ते चाष्टवर्गाः अ क च ट त प यादयः शादयः। अकारादयः षोडश स्वराः प्रथमवर्गः। कादयः पञ्च द्वितीयः। चादयः पञ्च तृतीयः। टादयः पञ्च चतुर्थः। तादयः पञ्च पञ्चमः। पादयः पञ्च षष्ठः। यादयश्चत्वारः सप्तमः। शादयः पञ्च अष्टमः। एवं अष्टवर्णात्मिका भगवती मातृका त्रिपुरसुन्दरी। अ क च ट त प य श वर्गेषु यथाक्रमं वशिन्यादि-शक्तिभिर्योजिता **बिन्दुत्रिकोणात्मकशिवचक्रचतुष्टयवसुकोणदशारद्वितय-चतुर्दशकोणात्मकेषु अष्टसु चक्रेषु योजिता ध्याता सती कार्यकर्तृत्वसम्पादिका।** एवं द्वादशयोगिनीभिः सार्धं वशिन्याद्यष्टकं मिलित्वा विंशतिकला भवन्ति। ता विंशतिकलाः शुद्धस्फटिकसङ्काशाः दशारयुग्मकोणेषु सञ्चिन्तनीयाः। तथा च श्रुतिः—

'गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।' इति।

अयमर्थः—'गन्धद्वाराम्' गन्ध-रस-रूप-स्पर्शा 'गन्ध' शब्देन सङ्गृहीताः। तेन गन्धाकर्षिण्यादयोऽधिदेवताः सङ्गृहीता भवन्ति। गन्धाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी चेति। ताभिर्युक्तानि चतुर्द्वाराणि यस्याः सा गन्धद्वारा ताम्। 'दुराधर्षाम्' दुष्प्रधर्षाम्, मन्दभाग्यानामिति शेषः। 'नित्यपुष्टाम्' नित्यानन्दस्वरूपिणीम्। 'करीषिणीम्' गन्धाद्याकर्षिणीमित्यर्थः। यद्वा—करिभिः गजैः ईषिणीं परिवृताम्। 'ईश्वरीम्' अधिदेवतां सर्वभूतानाम्। तामिह चक्रे

उपह्वये 'श्रियम्' विद्याम्। गन्धद्वारामिति गन्धाकर्षिणीचतुष्कम्, वशिन्याद्यष्टकम्, योगीनीनां द्वादशकं सङ्गृहीतम्। तथा च शम्भुवाक्यम्—

'मातृकां वशिनीयुक्तां योगिनीभिः समन्विताम् ।
गन्धाद्याकर्षिणीयुक्तां संस्मरेत् त्रिपुराम्बिकाम् ।।' इति।

अत्रेदमनुसन्धेयम्—वशिन्यादयः शक्तयः, पञ्चाशद्वर्णात्मिका इत्युक्तम्। तत्र वशिनीशक्तिः स्वरात्मिका। स्वराः षोडश अकारादयः। तेषां स्वरूपं सनत्कुमारसंहितायां पञ्चशत्यामुक्तम्। अत्र सङ्क्षेपेण कथ्यते। अकारात्मिका शक्तिरष्टभुजा पाशाङ्कुश-वराऽभय-पुस्तकाऽक्षमाला-कमण्डलु-व्याख्या-मुद्राकरा। एवकाराद्यात्मिकाः शक्तयः शुक्लवर्णाः। इयांस्तु विशेषः। अकारात्मिकायाः शक्तेर्मण्डलमशीतिलक्षयोजनायतम्। आकारस्य तद्द्विगुणम्। इकारस्य नवतिलक्ष-योजनायतम्। ईकारस्य तद्द्विगुणम्। उकारस्य कोटियोजनपरिमितपरिणाहं मण्डलम्। ऊकारस्य तद्द्विगुणम्। ऋकारस्य पञ्चाशल्लक्षयोजनपरिमितं मण्डलम्। तद्द्विगुणं ॠकारस्य। तद्द्विगुणं ऌकारॡकारयोरपि। एवमेकारस्य सार्धकोटिपरिणाहं मण्डलम्। ऐकारौकाराणां सममेवैकारेण। बिन्दुविसर्गयोस्तु अकाराद्द्विगुणं मण्डलम्। व्यञ्जनशक्तीनामकारमण्डलादर्धं मण्डलम्। ताः शक्तयः पाशाऽङ्कुशाऽक्षमाला-कमण्डलुधराः। अन्तःस्थास्तु पाशाऽङ्कुशाऽभयवरकराः। ऊष्माणस्तु पाशा-ऽङ्कुशाक्षमाला-वर-कराः। क कार-क्षकारौ पाशाङ्कुशैक्षव-शरासन-पुष्प-बाणकरौ। एताः शक्तयः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाः। केचित् तु स्वरात्मिकाः शक्तयः स्फटिकाभाः। कादयो मावसाना विद्रुमाभाः। यादयो नव पीतवर्णाः। क्षकारः अरुणवर्ण इति। लकारस्तु लकार एवान्तर्भूतः। एवं वशिन्यादिमाहात्म्यं भूप्रस्तारे प्रतिपादितम्।

अत्र प्रस्तारत्रये निम्नरेखः भूप्रस्तारः पातालवासिनां पूज्यः। मर्त्यलोकवासिनां तु ऊर्ध्वरेखः कैलासप्रस्तारः। क्रमोन्नतो मेरुप्रस्तारः स्वर्गलोकवासिनां पूज्यः।

'पातालवासिनां देवि! प्रस्तारो निम्नरेखकः ।
ऊर्ध्वरेखो महेशानि मर्त्यलोकनिवासिनाम् ।।
स्वर्गलोकनिवासिनां यन्त्राणां मेरुसंज्ञकम् ।।
भूपुरं तु समारभ्य बैन्दवान्तं महेश्वरि! ।
क्रमात् समुन्नतं सर्वं मेरुरूपं मयोदितम् ।।
गोपितव्यं त्वया भद्रे! स्वगुप्तमिव सन्ततम् ।।' इति।

त्रिपुरतापिन्यां श्रीचक्रलक्षणमुक्तम्। तद्यथा—'अथ याज्ञवल्क्य इति होवाच शृणु सौम्यादौ विद्यायाः पुरं वक्ष्यामि अक्षरसङ्ख्यया। तत् कथम्? दशारद्वयमन्वष्टदलस्वरूपत्रिवृत्तवेदाश्रयुतं श्रीपुरम्, तस्याः प्रतिविधिसंख्येति। एवं शिवशक्त्यात्मकमधिष्ठानं श्रीचक्रं सप्रपञ्चं प्रतिपाद्य अधिष्ठानाधारकामेश्वरौ प्रतिपादयति। **'अथ प्रथते मदनो मदनी'**ति। अत्र नवावरणविशिष्टश्रीचक्र-मध्यत्रिकोणमध्यवर्तिसर्वानन्दमयबिन्दुपीठोपरि पञ्चब्रह्ममहामञ्चे इत्यर्थः। तद्बिन्दुना च प्रथते वर्धते सौन्दर्यद्युतिः येनेति शेषः। तथा चोक्तं तापिन्याम्—'अथेयमेतेषां ब्रह्मादीनां कलाः सङ्गृह्य मञ्चाकारं कृत्वा तन्मञ्चं सर्वानन्दमयचक्रे संस्थाप्य स्वस्याः क्रीडार्थमवशिष्टं ब्रह्मकामेश्वररूपं स्वमायया कृत्वा तं कामेश्वरमञ्चोपरि संस्थाप्य कामेश्वरस्य वामाङ्कपर्यङ्के स्थितवत्यासीदिति। कौ ताविति अहं मदनो मदनी'ति। स्वसौन्दर्यातिशयेन पराशक्तिं मदयतीति मदनः कामेश्वरः। मदनात् कामेश्वरात् अनपेता मदनी। तदभिन्नेति यावत्। चकारोऽध्याहर्तव्यः। मदनो मदनी चेति। तौ दिव्यदम्पती सर्वानन्दमयचक्रे पञ्चब्रह्मासने सर्वोत्कृष्टतया वर्तेते इति शेषः। लोकातिशायिसौन्दर्यात् तयोः अन्योन्यानुरागवशादेकीभूतौ विराजेत इति भावः। तथा ललितोपाख्याने प्रतिपादितम्—

'तां दृष्ट्वा मृगशावाक्षीं कुमारो नीललोहितः ।
अभवन् मन्मथाविष्टो विस्मृत्य सकलाः क्रियाः ।।

साऽपि तं वीक्ष्य तन्वङ्गी मूर्तिमन्तमिव स्मरम् ।
मदनाविष्टसर्वाङ्गी स्वानुरूपममन्यत ।।

अन्योन्यालोकनासक्तौ तावुभौ मदनाकृती ।
सर्वभावविशेषज्ञौ श्रुतिमन्तौ मनस्विनौ ।
परैरज्ञातचारित्रौ मुहूर्तास्वस्थचेतनौ ।' इति।

रुद्रयामले च—

'पुरत्रयं च चक्रस्य सोम-सूर्याऽनलात्मकम् ।
महालक्ष्म्याः पुरं चक्रं तत्रैवास्ते तथा शिवः ।।' इति।।५।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

नवमं भूगृहात्मकं चक्रमुपदेष्टुं पञ्चमीमृचमाह—तिस्रश्चेति।

तन्त्रान्तरे कर्णिकावृत्तद्वयातिरिक्तानि पद्मद्वयाद् बहिस्त्रीणि वृत्तानि विहितानि दृश्यन्ते। तत्पक्षे तिस्रश्च रेखा इत्येतावन्मात्रं वृत्तरेखात्रयपरं नेयम्। न चैवं

सति कर्णिकाद्वयस्यैवावशेषेण मण्डलत्रयकथनासङ्गतिरिति वाच्यम्। तन्त्रराजे मन्वस्राद् बहिर्मर्यादावृत्तस्याष्टदलकर्णिकावृत्तातिरिक्तस्य कथनेनास्याः श्रुतेस्तन्मूलत्वोपपत्तेः। भूमेः सदनानि तिस्रो रेखा इति सामानाधिकरण्यं त्वक्लिष्टोऽर्थः। ता एव त्रिविष्टपा भुवनत्रयरूपाः, देवतावासभूमित्वात् स्वर्गरूपा वा। त्रिगुणा गुणत्रयरूपाः। त्रिप्रकाशाः सूर्यचन्द्राग्निरूपवृत्तत्रयप्रकाशरूपाः। श्रीचक्रवर्णनमुपसंहरति—एतदिति। सार्द्धचतुष्टयेन वर्णितं पुरं श्रीपुरमिव सपरिवारपरदेवतानिवासस्थानं चक्रं पूरकाणां भक्तमनोरथपूरकाणां शिवविष्ण्वादीनामपि पूरकं मनोरथपूरकम्। अत्र श्रीचक्रे मदनः शिवः कामेश्वरः मदन्या शिवकामसुन्दरी च प्रथेते स्वमयूखात्मकाणिमादिनानादिव्यरूपविस्तारेण विलसत इत्यर्थः। 'छन्दसि परेऽपि व्यवहिताश्च' इत्यभ्यनुज्ञानम्॥५॥

भाषाव्याख्या

इस तरह तीन ग्रन्थियों (वृत्त) के रूप में तीन मण्डलों का प्रतिपादन हुआ। अब तीन भूरेखाओं (भूगृह, भूपुर) के प्रतिपादन के लिए पाँचवी ऋक् प्रस्तुत है—**तिस्रश्च रेखाः सदनानि भूमेः**। नवम भूगृहात्मक चक्र के उपदेश के लिए यह ऋक् है, ऐसा श्रीभास्करायजी भी सुव्यक्त करते हैं। सर्वप्रकृतिभूता भूमि (पृथिवी) की तीन लोकों के रूप में, तीन गुणों और तीन प्रकारों या प्रकाशों के रूप में तीन मण्डलों के ऊपर चार द्वारों में विद्यमान, सोपानयुक्त तीन रेखायें सदन (गृह) हैं। यह सार्ध चार मन्त्रों से उपदिष्ट श्रीचक्र श्रीपुर के समान पुर (नगर) है जो जीवों के मनोरथों के पूरक (पूर्ण करने वाले) ब्रह्म-विष्णुरुद्रात्मक तीनों देवों के मनोरथों का भी पूरक है। इस श्रीचक्र में मदन (कामेश्वर) और मदन्या (कामेश्वरी) शोभायमान हैं, यह पिण्डित अर्थ है। अन्य पक्ष के प्रतिपादन में व्यवस्था का उपक्रम करते हैं—**तन्त्रान्तरे**।

कतिपय तन्त्रों में दो कर्णिकावृत्तों के अतिरिक्त तीन वृत्त विहित हैं जो दोनों पद्मों (कमल) के बाहर हैं। इस पक्ष में 'तिस्रश्च रेखाः' इन दोनों पदों को वृत्तात्मक तीन रेखाओं के बोधन में ही स्वीकार करना चाहिये। इस तरह यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि दो कर्णिकाओं के ही अवशिष्ट होने पर पूर्व मन्त्र में तीन मण्डलों का प्रतिपादन असङ्गत हो जायेगा। क्यों? इसीलिए कि तन्त्रराज में चतुर्दशकोण के बाहर अष्टदल कर्णिकावृत्त के अतिरिक्त मर्यादावृत्त का कथन है। एवञ्च, यह श्रुति उसका मूल हो जायेगी। श्रीभास्करराय ने 'त्रिप्रकाराः' के स्थान में 'त्रिप्रकाशाः' पाठ माना है तथा तीनों प्रकाशों में सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में तीन वृत्तों को स्वीकार किया है। 'त्रिप्रकाराः' पाठ में अग्नि-वायु-सूर्य, ऋग्-यजुः-साम, गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिणाग्नि, वसु-रुद्र-आदित्य, अकार-उकार-मकार और ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र, इन सभी का तीन भूरेखाओं के रूप में प्रतिपादन श्रीरामानन्दतीर्थजी ने किया है॥५॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

मदन्तिका मानिनी मङ्गला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता ।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती ।।६।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

कामेश्वराविनाभूता सा किं नामधेयेत्याकाङ्क्षायाम्—'कथं नु भगवन्! ब्रह्मविद्यानामाख्या ब्रह्मण्यायातेति श्रुत्युक्तरीत्या श्रीविद्यायाः स्वतो नामाद्यभावेऽपि 'नामरूपे व्याकरवाणि', 'नामरूपे व्याकरोत्', 'सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहंनामाऽभवत्', 'नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते'त्यादिश्रुतिभिः कल्पितानि नामानि श्रौतानि कथयति 'मन्दन्तिके'त्यादिना—

मदन्तिका—मदयन्ती। स्वार्थे कः प्रत्ययः। वर्णलोपश्छान्दसः। उपासकान् भोगैकरसिकान् साऽऽलोक्य जगताम् अभिमतार्थप्रदानाद् मदयतीति भावः। 'अहं जनाय समदं कृणोमि' इति श्रुतेः। तथा ब्रह्माण्डपुराणे—

'इन्द्रनीलमयः सालः चक्रवाल इवापरः ।
तन्मध्ये कक्षभूमिश्च नीलरत्नमयी मुने ।।

तत्र नद्यश्च मधुराः सरांसि शिशिराणि च ।
नानाविधानि भोग्यानि वस्तूनि सरसान्यपि ।।

ये भूलोकगता मर्त्या ललिताचक्रसाधकाः ।
ते देहान्ते शक्रनीलकक्षां प्राप्य वसन्ति ते ।।

तत्र दिव्यानि वस्तूनि भुञ्जाना वनितासखाः ।
पिबन्तो मधुरं मद्यं नृत्यन्ते तत्र निर्भराः ।।

सरस्तटेषु सिन्धूनां कूलेषु कलशोद्भव ।
लतागृहेषु (चित्रेषु) मण्डपेषु मदर्धिषु ।।

सदा जपन्तः श्रीदेवीं पठन्तश्चापि तद्गुणान् ।
निवसन्ति महाभागा नारीभिः परिवेष्टिताः ।।' इति।

मानिनी—अन्याधिककरणपूर्वकात्मोत्कर्षो 'मानम्' तद्वती। तद्यथोक्तम्—

'अन्याधिककरणादात्मोत्कर्षो मानं बलादिजः'। इति।

श्रुतिरप्याह—

'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामयेत तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्' ।।

श्रीभगवत्पादाश्च—**'पुरस्तादास्ते नः पुरमथितुराहो पुरुषिका'**। इति।

मङ्गला च—मङ्ग्यते प्राप्यते पुण्यैरिति मङ्गलम्, 'मङ्गेरलच्' इति 'अलच्' प्रत्ययः। तद्रूपा। यद्वा प्रशस्ताचरणरूपा। तथा च स्मृतिः—

'प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम् ।
एतत्तु मङ्गलं प्रोक्तमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।।' इति।

पुराणेषु च—

'सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे! सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि! नमोऽस्तु ते ।।' इति।

चकारोऽप्यर्थः। सेत्युत्तरत्र स्थितोऽध्याहार्यः। सा पूर्वोक्ता मदना मङ्गला च भवतीति भावः।

सुभगा—चापि सा पूर्वोक्ता कामेश्वरी सुभगाऽपि भवति। शोभना भगा ऐश्वर्यादयोऽस्याः सन्तीति सुभगा। तथाचोक्तं विष्णुपुराणे—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां'भग इतीरणात् ।।' इति।

'सरस्वती वा सुभगा' इति श्रुतेः ।

सुन्दरी—अभिरूपदेहं वहतीति वा, समस्तसौभाग्यस्वरूपत्वाद् वा। 'सुन्दरीं सुभगा'मिति श्रुतेः। तथा चोक्तं ब्रह्माण्डपुराणे—

'बालार्कपाटलाकारा नवयौवनदर्पिता ।
आमृष्टपद्मरागाभचरणाब्जनखच्छटा ।।
यावकश्रीनिर्व्यपेक्षपादलौहित्यवाहिनी ।
कलनिःस्वनमञ्जीररवकङ्कणमनोहरा ।।
अनङ्गवीरतूणीरदर्पोन्मादनजङ्घिका ।
करिशुण्डाकदलिकाकान्तितुल्योरुशोभिनी ।
अरुणेन दुकूलेन सुस्पर्शेन तनीयसा ।।
अलङ्कृतनितम्बाढ्या जघनाभोगभासुरा ।
अर्धोरुकग्रन्थिमती रक्ता काञ्ची-विराजिता ।।
नतनाभिगुहावर्तत्रिवल्यूर्मिप्रभावरी ।
स्तनकुड्मलहिन्दोलमुक्तादामशतावृता ।।

अतिपीवरवक्षोजभारभङ्गुरमध्यभूः ।
शिरीषदामकौमल्यशालिनश्चतुरो भुजान् ।।

केयूरकङ्कणश्रेणिमण्डितान् सोर्मिकाङ्गुलीन् ।।

वहन्ती परिसम्मृष्टशङ्खसुन्दरकन्धरा ।
मुखदर्पणवृत्ताभचिबुका पाटलाधरा ।।

शुचिभिः पङ्क्तिशुद्धैश्च विद्यारूपैश्च भास्वरैः ।
कुन्दकुड्मलसच्छायैर्दन्तैर्दर्शितचन्द्रिका ।।

स्थूलमौक्तिकसन्नद्धनासाभरणभासुरा ।
केतकान्तर्दलद्रोणीदीर्घदीर्घविलोचना ।।

अर्द्धेन्दुलुलिता फाले सम्यक् क्लृप्तालकच्छटा ।
बालीवसंसमागिक्यकुण्डलामण्डितश्रुतिः ।।

नवकर्पूरकस्तूरी सदामोदितवीटिका ।
शरच्चारुनिशानाथमण्डलीमधुरानना ।।

चिन्तामणीनां सारेण क्लृप्तचारुकिरीटिका ।।

स्फुरत्तिलकरत्नाभफालनेत्रविराजिता ।
घनान्धकारनिबिडश्यामकुन्तलसंहतिः ।।

सीमन्तरेखाविन्यस्तसिन्दूरश्रेणिभासुरा ।
स्फुरच्चन्द्रकलोत्तंसा मदालोलविलोचना ।।

सर्वशृङ्गारवेषाढ्या सर्वाभरणमण्डिता ।
समस्तलोकमाता च सदानन्दविवर्धिनी ।।

अपाङ्गरिङ्खत्करुणानिर्झरीतर्पिताऽखिला ।
भासते सा भगवती भवघ्नी ललिताऽम्बिका ।।' इति।

सिद्धिमत्ता—सिद्धयः अणिमाद्याः, ताभिः मत्ता दृप्ता। अणिमादिसिद्धिभिरजस्त्रं सेवितेत्यर्थः।

'अणिमादिभिरावृतां मयूखैरहमित्येव विभावये भवानीम्' ।

इति मन्त्रशास्त्रोक्तत्वात्। श्रीभगवत्पादैरुक्तम्—

स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाद्याभिरभितो
निषेव्ये नित्ये त्वामहमिति सदा भावयति यः' ।। इति।

लज्जा—उपासकानां स्तोत्रैः कामेश्वरेऽनुरागाद् वा चेतःसङ्कोचनं लज्जा। तद्वतीत्यर्थः। यथोक्तम्—

'चेतःसङ्कोचनं लज्जा व्रीडाऽनङ्ग (राग) स्तवादिभिः'।

इति। ह्रीङ्कारात्मिकेति यावत्।

मतिः—तत्त्वानुसन्धानेनार्थनिर्द्धारणं मतिः। बुद्धिस्वरूपेत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

'तत्त्वमार्गानुसन्धानादर्थनिर्धारणं मतिः'। इति।

तुष्टिः—परमानन्दैकभूतत्वात् तुष्टिः। 'आनन्दो ब्रह्म' 'ब्रह्मैषा एकानेक-प्रपञ्चः स्यादि'ति श्रुतेः।

इष्टा—परमानन्दत्वेन प्रिया यदा महायागक्रमाराध्या। तद् यथा—

**'कुण्डं योजनविस्तारं सम्यक् कृत्वा तु शोभनम्।
महायागविधानेन प्रणिधाय हुताशनम्॥**

**यजाम परमां शक्तिं मद्यमांसैर्वयं सुराः।
ब्रह्मभूता भवामो वा भोक्ष्यामो वा त्रिविष्टपम्॥**

**एवमुक्तास्तु ते सर्वे देवाः सेन्द्रपुरोगमाः।
विधिवज्जुहुवुर्मांसमुत्कृत्योत्कृत्य मन्त्रतः।
हुतेषु सर्वांशेषु पादेषु च करेषु च॥**

**होतुमिच्छत्सु देवेषु कलेवरमशेषतः।
प्रादुर्बभूव परमं तेजःपुञ्जमनूपमम्॥**

**कोटिसूर्य-प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्।
तन्मध्ये समुदभूच्चक्राकारमनुत्तमम्॥**

**तन्मध्ये च महादेवीमुदयार्कसमप्रभाम्।
जगदुज्जीवनाकारां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्॥'** इति।

'अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषां प्रथमा यज्ञियानाम्' इति श्रुतिश्च।

पुष्टा—सर्वसम्पूर्णा। तथा च श्रुतिः—'नित्यपुष्टां करीषिणीम्' इति। ललितोपाख्याने च सर्वसम्पूर्णता विशेषेण वर्णिता।

लक्ष्मीः—लक्ष्यते 'तत्त्वमस्या'दिमहावाक्यैरिति लक्ष्मीः। 'लक्षेर्मुडिति इत्रत्ययो मुडागमश्च। 'भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि', 'श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकाङ्गामि'त्यादि श्रुतिभ्यः। आगमश्च 'महालक्ष्म्याः पुरं चक्रं तत्रैवाऽऽस्ते तथा शिवः' इति।

उमा—प्रणवस्वरूपिणी ब्रह्मविद्या, ओङ्कार-ब्रह्मविद्याया एव उमेति संज्ञेत्यर्थः। ओङ्कार एव वर्णव्यत्ययेनोमेति गम्यते। तथैवोक्तं कैवल्योपनिषदादिषु—**'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्', 'स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्' 'अम्बिकापतय उमापतये नमो नम'** इति। एतदर्थस्तु सूतसंहितायाम्—

'उमासहायमोमर्थं प्रभुं साक्षात् त्रिलोचनम्'। इत्यादिना

'भक्तानामार्तिहन्त्री तु तत्रैवाऽन्तर्हिताऽभवत् ।।' इत्यन्तेन भागेन स्पष्टीकृतः।

अत्राभियुक्तोक्तिरपि—

'ओमित्युमेति युवयोरभिधानमेकं
सृष्ट्यादिसृष्ट्यवधितागुणमात्रभिन्नम् ।
एकं च तावदभिधेयमपीहरूपं
वेणी-जटेति कचसंहतिभेदभिन्नम् ।।' इति।

ललिता—**'सुकुमाराङ्गविन्यासा ललिता परिकीर्तिता।'** इति।

यद्वा—धीरललितगुणवती ।

'निर्जिताशेषशत्रुत्वान्निश्चिन्ता नीतिविप्लवा ।
सचिवन्यस्तभूभारा सुधीरललिता स्मृता ।।' इत्युक्तम्।

तथैवोक्तं सहस्रनामस्तोत्रे—

'महापाशुपतास्त्राग्निनिर्दग्धाऽसुरसैनिका ।
कामेश्वराऽस्त्रनिर्दग्धसभण्डासुरशून्यका ।।' इति।

'मन्त्रिणीन्यस्तराज्यधूरि'ति च ।

अतः धीरललितगुणवत्त्वात् ललितेति ।

अथवा—'कामेश्वराङ्कोपलालनाल्ललिता'। तथा च ललितोपाख्याने—

'कामेश्वराङ्कपर्यङ्कलालनाल्ललिताभिधे'ति ।

लालपन्ती—अजस्रं निरवधिकपरकामेश्वरगुणान् आम्रेडयन्तीत्यर्थः। यथोक्तं श्रीभगवत्पादैः—

'अविश्रान्तं पत्युर्गुणगणकथाऽऽम्रेडनजपा-
जपापुष्पच्छाया तव जननि! जिह्वा जयति से'ति ।।६।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

क्षेत्रेषु विविधेषु नामभेदेन यानि देवीरूपाणि पुराणेषु तन्त्रेषु चोपलभ्यन्ते

तानि सर्वाण्यस्या एवेत्युपदेष्टुं षष्ठीमृचमाह—मदन्तिकेति।

पद्मपुराणे देवीतीर्थपरिगणनावसरे कतिपयानि रूपाण्युक्तानि—'प्रयागे ललिता देवी' इत्यादिना। लङ्कायां मङ्गला नाम त्रिकूटे भद्रसुन्दरी। करवीरे महालक्ष्मीस्तथा देवीविनायके।। देवदारुवने पुष्टिर्मेधा काश्मीरमण्डले। तुष्टिर्वत्सेश्वरे तथा' इत्यादीनि अन्यान्यपि रूपाणि तत्र तत्रान्वेष्याणि। मदन्तिकेत्यादिचतुर्दशकं वाराणस्यां विशालाक्षीत्यादीनामुपलक्षणम्। यदेव किञ्चिद्देवीरूपं तत्त्वेन लालप्यमानापि सैवेत्यर्थः। लालपन्तीपदं लालप्यमानापरम्। 'प्रातिपदिकादुच्चरन्ती विभक्तिः प्रातिपदिकार्थौ विशेषक इत्याह' इति शाबरभाष्ये प्रयोगदर्शनात्। अथवा पञ्चदशाक्षराणां पञ्चदशेया देवताः। शुद्धमत्तेत्यत्र सिद्धिमत्तेत्याथर्वणः पठिः ।।६।।

भाषाव्याख्या

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नाम के भेद से जो देवी के रूप पुराण तन्त्र आदि ग्रन्थों में मिलते हैं वे सभी रूप श्रीचक्राधिष्ठात्री के ही हैं, इस तथ्य के उपदेश के लिए ही यह छठी ऋक् है—**मदन्तिका मानिनी**। यहाँ देवी के नामों की चर्चा है। देवीतीर्थों की परिगणना पद्मपुराण में है जहाँ उनके रूपों का भी वर्णन है। आचार्य इसको इङ्गित करते हैं—**पद्मपुराणे**।

प्रयाग में ललिता देवी, लङ्का में मङ्गला, त्रिकूट में भद्रसुन्दरी, करवीर में महालक्ष्मी तथा विनायक में देवी, देवदारुवन में पुष्टि, काश्मीर में मेधा, वत्सेश्वर में तुष्टि। इसी तरह पुराण आदि शास्त्रों का गवेषण करने पर विभिन्न रूपों का दर्शन होता है। मन्त्र में मदन्तिका से लेकर ललिता तक चौदह नाम परिगणित हैं जिनसे वाराणसी में विशालाक्षी आदि देवियाँ भी उपलक्षित हैं। लालपन्ती का लालप्यमाना अर्थ है। इस तरह का प्रयोग आचार्यों के ग्रन्थों में हुआ है, ऐसा इङ्गित करते हैं—**'प्रातिपदिकादुच्चरन्ती विभक्तिः प्रातिपदिकार्थौ विशेषक इत्याह' इति शाबरभाष्ये प्रयोगदर्शनात्।**' यहाँ 'उच्चरन्ती' का 'उच्चार्यमाणा' अर्थ है। तात्पर्य प्रकट करते हैं—**यदेव किञ्चिद्**। जो कुछ भी देवी का रूप लोक में तत्त्वतः उच्चारित होता है उसमें वही परदेवता प्रतिष्ठित है। पक्षान्तर प्रस्तुत करते हैं—**अथवा**। मन्त्र के पन्द्रह अक्षरों से पन्द्रह देवताओं का उपदेश यहाँ समझना चाहिये। इस तरह 'लालपन्ती' पद भी मदन्तिका आदि की तरह देवी के रूप में परिगणित हो जायेगा। श्रीरामानन्दाचार्यजी ने पन्द्रहवें रूप को स्वीकार किया है। इन्होंने सभी नामों का निवर्चन भी किया है। तथाहि-

मदयतीति मदन्तिका। भोगरसिकों को जो अभीष्ट वस्तु प्रदान करके मतवाला बनाये। **'अहं जनाय समदं कृणोमि'**, इस मन्त्र से भी **'मदन्तिका'** नाम की पुष्टि होती है। **मानिनी मानमस्ति अस्याः सा**। बलादि से जायमान आत्मोत्कर्ष ही मान है। **मङ्गला**

मङ्ग्यते प्राप्यते पुण्यैर्या सा। पुण्य से जिनको प्राप्त किया जा सके वे मङ्गला गौरी हैं। पूर्व मन्त्र में निर्दिष्ट मदना ही मङ्गला हैं। **शोभना भगा यस्याः सा सुभगा।** श्री विष्णुपुराण में षड्विधैश्वर्य को भग के रूप में इस तरह कहा गया है—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणात् ।।'

अभिरूपं देहं वहति या सा सुन्दरी। समस्त सौभाग्यों से सम्पन्न होने के कारण भी 'सुन्दरी' नाम है। **अणिमादिभिः सिद्धिभिर्मत्ता या सा सिद्धिमत्ता।** अणिमा आदि सिद्धियाँ जिनकी नित्य सपर्या करें वे सिद्धिमत्ता हैं। उपासकों के स्तोत्रों या कामेश्वर सदाशिव में अनुराग होने से लज्जावती ही लज्जा हैं। जो नारियों में जायमान साक्षात् लज्जारूपिणी हैं। ह्रीङ्काररूपा हैं। मति अर्थात् बुद्धिस्वरूपिणी हैं। तत्त्वमार्ग के अनुसन्धान से अर्थ के निर्धारण को मति कहते हैं—

'तत्त्वमार्गानुसन्धानादर्थनिर्धारणं मतिः ।'

परमानन्दस्वरूप होने से तुष्टि हैं। परमानन्द रूप होने के कारण सभी साधकों को या जीवमात्र को अभीष्ट होने से 'इष्टा' हैं। महायाग से आराधित होने के कारण भी 'इष्टा' कही जाती हैं। **सर्वप्रकारेण सम्पूर्णा पुष्टा।** सर्वतः सम्पूर्ण हैं। श्रीसूक्त में भी आया है— **'नित्यपुष्टां करीषिणीम्'।** ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त यावत् पदार्थों का उपचय-अपचय होता है किन्तु श्रीभगवती का विग्रह नित्य एक रूप रहा है, यह अभिप्राय 'पुष्टा' का है। **तत्त्वमस्यादिमहावाक्यैर्या लक्ष्यते सा लक्ष्मीः।** अर्थात् ब्रह्मज्ञानी 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से जिनका निरूपण करें वे लक्ष्मी हैं। अन्यत्र श्रुतियों में भी श्रीभगवती का यह नाम सुप्रथित है—**'भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि', 'श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकाङ्गाम्'।** आगम का भी कथन है—**'महालक्ष्म्याः पुरं चक्रं तत्रैवास्ते तथा शिवः।'** शिव का यहाँ 'नारायण' अर्थ है। अथवा **यया लक्ष्यते जनैः सा लक्ष्मीः सौन्दर्यम्।** जिसके कारण किसी वस्तु को लोग साभिलाष देखें वह सौन्दर्य ही लक्ष्मी कहा जाता है। श्रीभगवती रमणीय वस्तु में रमणीयता का हेतु साक्षात् सौन्दर्य हैं। **श्रीयतेऽनयेति श्रीः सम्पत्।** जिसके कारण लोग किसी की सेवा-चापलूसी करें वह सम्पत्ति ही श्री है। इन्हीं दो यौगिक अर्थों को लेकर ही श्री और लक्ष्मी अर्थात् सम्पत्ति और सौन्दर्य को श्रीनारायण के भार्यास्थानीय के रूप में यह मन्त्रवर्ण कथन करता है—**'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।'**

ऐसे में श्री और लक्ष्मी में विभेद करके दोनों को अलग-अलग भगवान् की पत्नी के रूप में सिद्ध करने का रामानन्दियों का प्रयास उनकी अपार शठता को प्रकट करता है।

उमा = प्रणवरूपा ब्रह्मविद्या। ओङ्कार और ब्रह्मविद्या का ही उमा नाम है। कैवल्योपनिषत् में आया है—**उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्।**

इसका अर्थ सूतसंहिता में है—

'उमासहायमोमर्थं प्रभुं साक्षात् त्रिलोचनम्'। अर्थात् त्रिलोचन भगवान् शिव सदा उमा से सम्पृक्त रहते हैं।

ललिता अर्थात् सुकुमाराङ्गविन्यासवती या धीर-ललित गुणों से युक्त। कामेश्वर के अङ्क में उपलालित (विलसित) होने से भी 'ललिता' नाम है। जैसा कि ललितोपाख्यान में आया है—

'कामेश्वराङ्कपर्यङ्कलालनाल्ललिताभिधा।'

निरन्तर और निरवधिक रूप से अपने पति कामेश्वर के गुणों का आवर्तन करने के कारण लालपन्ती नाम है।।६।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

इमां विज्ञाय सुधया मदन्तीं परिस्त्रुता तर्पयन्तः स्वपीठम्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति।।७।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

ज्ञातॄणां फलं कथयति—'इमां विज्ञाये' त्यादिना।

'इमां' पूर्वोक्तां कामेश्वराङ्कवासिनीं देवीम्, 'विज्ञाय' सम्यग् ज्ञात्वा। कीदृशीमित्याह—सुधया मदन्तीम्। 'सुधया' अमृतलक्षणेन द्रवद्रव्येण, मदन्तीं मत्ताम्। यथोक्तं सहस्रनामस्तोत्रे—'माध्वीपानालसा मत्ते'ति। 'परिस्त्रुता' अभिष्टुता, सोमलक्षणेनाऽमृतेन। तथा च श्रुतिः—'पुनाति ते परिस्रुतं सोमसूर्यस्य दुहिते'ति। तर्पयन्तः प्रीणयन्तः। किं प्रीणयन्तः? स्वपीठं स्वशरीरम्। नाकस्य स्वर्गस्य श्रीपुरमध्यगतमुक्ताप्राकारपूर्वदिग्भागस्थितस्य, महेन्द्रलोकस्थितस्य। पृष्ठे उपरिभागे। कीदृशस्य? महतो विस्तारवतः। वसन्ति तिष्ठन्ति। देवानां सोमवदम्बाया वारुण्यतीव प्रियेति ब्रह्माण्डोत्तरपुराणे ललितोपाख्याने प्रोक्तम्। यथा—

'सर्वदेवप्रिये देवि! वाजपेयादिकैर्मखैः।
सोमपानवदन्यं तं पातुमर्हसि वारुणीम्।।

यागेन मन्त्रपूतेन पीतेन भवता जनः।
सिद्धिं बुद्धिं बलं स्वर्गमपवर्गं च गच्छती'ति।।

अन्ते सायुज्यं च गच्छतीत्याह—**'परं धामे'** त्यादिना। परं सर्वोत्कृष्टं धाम तेजः। परं ब्रह्मेत्यर्थः। तथा च श्रीभगवद्गीतायाम्—

'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' इति।

कीदृशं धामेत्यत आह—**'त्रैपुरम्'** इति। त्रिपुराशब्दो व्याख्यातः। तत्सम्बद्धं

तेजः। अथवा—'अथ यदतः परोदिवो ज्योतिः दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु तावद् यदिदमस्मिन् पुरुषे ज्योतिः' इत्युक्तं तेजः, प्रत्यगभिन्नं ज्योतिरित्यर्थः। आविशन्ति प्रविशन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः।।७।।

श्रीभास्करारायप्रणीतभाष्यम्—

एवं वर्णिताया देवताया उपास्तिं विधातुं सप्तमीमृचमाह—**इमामिति।**

इमां पूर्वोक्तां परदेवतां विज्ञाय विधिविशेषपूर्वकं ज्ञात्वा गुरूपसदन-दीक्षादिपूर्वकमुपास्तिं स्वीकृत्य स्वपीठं स्वशरीराभिन्नं श्रीचक्रं तत्र देवतां सावरणां सुधया परिस्रुता पीयूषीकृतेन द्रव्येण तर्पयन्तः तर्पणाद्युपचारैः पूजयन्तो ये मदन्ति विषयभानप्रमोषपूर्वकं स्वात्मैकविषयकनिर्विकल्पविषयभाजो भवन्ति ते महतो नाकस्य पृष्ठे वसन्ति त्रैपुरं परं धाम चाविशन्ति चेत्यर्थः। अमृतीकरणं संस्कारान्तराणामुपलक्षणम्। तदभिमानिदेवतायां सुधादेवीति संविच्च संस्कारमन्त्र-वर्णादवगम्यते।

'मन्त्रसंस्कारसंशुद्धं तदेवामृतमुच्यते'

इति रुद्रयामलश्च। महानाकपृष्ठवासस्त्रिविधपुरुषार्थफलोपलक्षकः। त्रिपुरायाः परं धाम तु मुक्तोपसर्तव्यं स्वरूपम्, न मोक्ष उच्यते। सर्वान् कामान्मोक्षश्चाप्नुवन्तीति भावः।

'एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।
सगुणा निर्गुणा चेति द्विविधोक्ता मनीषिभिः।।
सगुणा रागिभिः पूज्या निर्गुणा तु विरागिभिः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां स्वामिनी सा निराकुला।।
ददाति वाञ्छितानर्थानर्चिता विधिपूर्वकम्।।'

इति देवीभागवते स्मरणात्।

श्रीविद्यादीक्षितो द्रव्यवता स्वपीठार्चनेन निर्विकल्पकवृत्तिद्वारा सर्वान् कामान् भावयेत् इति [१]भावनाविशिष्टभावनान्तरविधिः पर्यवस्यति। **सर्वथा 'मतिमान्दीक्षेत' इत्यादिकल्पसूत्रादिगतविशेषणविधीनामियमेव श्रुतिर्मूलम्।** 'विज्ञाय तर्पयन्तः'

---

१. रेवत्यधिकरणसिद्धान्तोऽत्र बोधितः श्री भास्कररायैः। तत्र हि—'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोम साम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत' इति वाक्ये प्रकृताग्निष्टुद्या-गानुवादेनैतद्वाक्योपात्तगुणानां विधाने वाक्यभेदापत्तेः क्त्वाप्रत्ययोपात्तभावनोप-सर्जनकं भावनान्तरं विधीयत इति सिद्धान्तितम्। सोऽयं सिद्धान्तः स्मारितः श्रीभास्कराचार्यैः।

इत्यधिकारिविशेषणतया श्रुतमपि तर्पणं फलभावनाकरणत्वेन सम्बध्यते 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इतिवत्। अप्राप्तार्थकत्वाद्विधिशक्तिप्रतिबन्धाभावाच्च मन्त्रत्वेऽपि न विधिव्याघातः। 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' 'प्रणीयादिन्नाथमानाय तव्यान्' 'आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन' इत्यादिमन्त्राणामपि बहुशो विधित्वस्वीकारात् वस्तुतो मदन्तीत्यस्य [1]यदाग्नेयवाक्य इव लेट्त्वकल्पनया भावार्थाधिकरणन्यायेन चिद्देव्यभिन्नात्ममात्रविषयकवृत्तिविशेषबोधकमदधात्वर्थस्यैव करणत्वम्। अन्तर्यागपदवाच्यतापि तस्यैव, यजतेर्वृत्तिविशेषवाचकत्वात्। परिस्रुतेति तु मत्वर्थलक्षणया धात्वर्थेनान्वेति। भावनान्वितयोरुभयोररुणैकहायनीन्यायेन वा पार्ष्ठिकोऽन्वयः। 'प्रतितिष्ठन्ती'[2]त्यस्येव नाकस्य पृष्ठे इत्यादेर्भाव्यसमर्पकत्वत्वम्। चकारेण फलसमुच्चयकथनात्। **'पूत एव तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति'** इत्यत्रेव सम्बन्धिसंवलिताधि-कारत्वम्। अनेकेषां पुरुषार्थानां व्यासज्यवृत्तिफलत्वमिति यावत्। न पुनः 'सर्वेभ्यः कामेभ्यः' इतिवत्प्रत्येक-पर्याप्तम्। तर्पणन्तु [3]फलवदफलन्यायेनाङ्गम्। 'इमां विज्ञाय' इति विद्वत्ताधि-

---

१. 'यदाग्नोयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याच्चाच्युतो भवति' इति वाक्य माग्नेययाग-विधायकम्। अत्र 'भवति' पदं लट्लकारे वर्तते। तस्य न विधायकत्वम्। एवं सति कथमिदं वाक्यमाग्नेययागविधायकमित्युच्यत इत्याशङ्क्य लेट्लकारकल्पनयास्य वाक्यस्य विधायकत्वमाग्नेयाधिकरणे व्यवस्थापितम्। अनेन न्यायेन 'मदन्ति' इत्यस्यापि लेट्त्वकल्पनेत्यर्थः। लेट्स्थाने स्थितस्याख्यातस्य भावना अर्थः। अप्राप्तप्रापकस्थलेषु भावनायां धात्वर्थस्य करणत्वेनान्वय इति भावार्थाधिकरणसिद्धो न्यायः। भावनायां वाक्योपात्तपदार्थानां विशेष्यविशेषणभावमुत्सृत्य साक्षादन्वय एकः, तदनन्तरं पार्ष्ठिकान्वयो द्वितीय इति मीमांसकमर्यादा। यत्र धात्वर्थेन सहानेकेषां पदार्थानां विधानं तत्र विशिष्टविधिमङ्गीकृत्य मत्वर्थलक्षणाघटितशशाब्दबोधस्वीक्रियते, येन च वाक्यभेददोषान्मुक्तिर्भवति। आग्नेयवाक्ये अग्न्यष्टाकपालपुरोडाशामावास्यापौर्णमासीकालविशिष्टस्य धात्वर्थस्य विधानम्। वाक्योपात्तगुणवता यागेन भावयेत् फलमिति बोधो निष्पद्यते। प्रकृते चिद्देव्यभिन्नात्म-मात्रविषयकवृत्तिविशेषरूपमदधात्वर्थस्य विधानम्। सोऽयं चित्तवृत्तिविशेषो भावनात्मकान्तर्यागेऽपि सम्बध्नाति बहिर्यागेऽपि। भावनात्मककार्येष्वपि भावनात्मकद्रव्यदेवतादीनामा-वश्यकता वर्तत एव। साधकेन बहिर्यागेऽपि पूर्वोक्तचित्तवृत्तिमतैवानुष्ठेयः। अन्तर्यागे तन्मयीभावावाप्तये बहिर्यागस्याप्युपकारकत्वमेष्टव्यमेव। अतः 'परिस्रुता' इत्यादिपदैरवबोध्यमानाः पदार्था अपि विशेषणतया भावनायामन्वियन्तीति सिध्यति। तत्र भावनायास्ते कीदृशमुपकारं कुर्युरिति शङ्कायां साक्षादुपकारत्वासम्भवेऽपि धात्वर्थविशेषणतामापन्ना उपकुर्युरित्यरुणाधिकरण-सिद्धन्यायोऽभिवदति। एवमन्वितस्य धात्वर्थस्य साध्यं किमित्यपेक्षायां रात्रिसत्राधिकरणन्यायेन 'नाकस्य पृष्ठे' इत्यादेर्भाव्यसमर्पकत्वमिति प्रघट्टकार्थः।

२. रात्रिसत्रन्यायेनेत्यर्थः।

३. फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायः।

कारितावच्छेदको धर्मः। अत एव 'कुलदीक्षाविहीनानां नाधिकारो द्विजन्मनाम्' इति समयाचार-स्मृतिरुपपद्यते। इह **'तर्पयन्तः'** इति शतृप्रत्ययेन बहिर्यागविधौ वक्ष्यमाणे (मन्त्रे १२) 'निवेदयन् स्वात्मीकृत्य' इति च शतृल्यप्प्रत्ययाभ्यां देवतानिवेदनस्वात्मीकरणयोः समानकालत्वकथनाद् दिव्यपानविधावेव श्रुतेः स्वारस्यम्, न वीरपानविधौ। तेन,

'पानन्तु त्रिविधं प्रोक्तं दिव्यवीरपशुक्रमैः।
दिव्यं देव्यग्रतः पानं वीरमुद्रासने कृतम्॥'

इति स्मृतेर्मूलं श्रुत्यन्तरमन्वेष्यम्। **पुरुषार्थनिषेधास्तु रागप्राप्तैकविषयत्वात् क्रत्वर्थत्वेन विहितेषु न प्रवर्तन्त एव।**

'येन केनाप्युपायेन शिवे चित्तं निवेशयेत्।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्॥'

इत्यादिपुराणवचसामीदृशाशय एव स्वारस्यात्। स्पष्टानां तत्र वचसां क्रत्वर्थसर्ववर्णोद्देशेन विधायकानां बहुलमुपलम्भात्। तेषाच्चेदृशानेक-श्रुति-प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वेन बलाबलचिन्तानवकाशादिति दिक्॥७॥

भाषाव्याख्या

पूर्वोक्त मन्त्रों से वर्णित परदेवता की उपासना के विधान के लिए सातवी ऋक है— **इमां विज्ञाय सुधया मदन्ति।** पूर्वोक्त परदेवता का विधान विशेषपूर्वक अर्थात् यथावत् ज्ञान प्राप्त करके अपने शरीर से अभिन्न पीठ = श्रीचक्र अर्थात् चक्रस्थ सावरण देवता का अमृतभूत = मन्त्रसंस्कार से संस्कृत द्रव्य के द्वारा जो तर्पण आदि उपचारों से पूजन करते हैं और विषयवेदनत्यागपूर्वक आत्ममात्र का निर्विकल्प ज्ञान से संयुक्त हो जाते हैं (मदन्ति) वे स्वर्ग के ऊपर निवास करते हैं और त्रिपुरासम्बन्धि ज्योति में प्रवेश कर जाते है। परदेवता का ज्ञान यहाँ पर गुरुसमीप जाकर दीक्षादिपूर्वक उपासना का स्वीकार है। केवल ज्ञान को स्वीकार करने पर 'परिस्रुता तर्पयन्तः स्वपीठम्' से उपलक्षित सकल सावरण पूजन असङ्गत होने लगेगा। श्रीरामानन्दतीर्थ ने 'मदन्तीं' पाठ स्वीकार करके देवी का विशेषण माना है- सुधया = **अमृतलक्षणेन द्रवद्रव्येण मदन्तीं ललितां देवीं ज्ञात्वा ये स्वपीठं पूजयन्ति ते स्वर्गपृष्ठे वसन्ति त्रैपुरं प्रत्यगभिन्नं ज्योतिश्च विशन्ति।** अर्थात् संस्कार से परिपूत अमृतीभूत सुरारूप द्रवद्रव्य से मत्त श्रीललिता देवी की जो उपासना करते हैं वे स्वर्ग में निवास करते हैं और ब्रह्मरूपता को प्राप्त करते हैं। 'त्रैपुरधाम' का प्रत्यगभिन्न ज्योति परब्रह्म अर्थ है। तथा च, सायुज्यमुक्ति का निर्देश है। परम ज्योति के विषय में यह श्रुति है—

'अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु तावद् यदिदमस्मिन् पुरुषे ज्योतिः।'

परं ब्रह्म भगवान् ही सर्वोत्कृष्ट धाम हैं, यह उक्त श्रुति का अर्थ है जिसे गीता में भी सुस्पष्ट किया गया है—

'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्'।

सारी कामनाओं की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति श्रीत्रिपुरोपासना से प्राप्त होती है, इसे श्रीभास्करराय भी स्वीकार करते हैं—**सर्वान् कामान् मोक्षञ्चाप्नुवन्तीति भावः।** परब्रह्म के रूप में भगवती को माना गया है। जैसा कि देवीभागवत के वचनों को आचार्य ने प्रस्तुत किया है—

'एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।
सगुणा निर्गुणा चेति द्विविधोक्ता मनीषिभिः ।।
सगुणा रागिभिः प्रोक्ता निर्गुणा तु विरागिभिः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां स्वामिनी सा निराकुला ।।
ददाति वाञ्छितानर्थादर्चिता विधिपूर्वकम् ।।'

शक्ति और शक्तिमान् में तादात्म्य स्वीकार करने पर देवी को ब्रह्म कहा जाता है। किन्हीं अवसरों पर प्रत्यक्चैतन्य से विशिष्टा शक्ति विवक्षित होती है तो किन्हीं अवसरों पर शक्तिविशिष्ट प्रत्यगात्मरूप चैतन्य की विवक्षा होती है। श्रीभास्करराय ने इसी नीति का अनुसरण करके शक्ति के कार्य जगत् को श्रीललितासहस्रनाम की व्याख्या में सत्य माना है, न कि मायावादियों की तरह मिथ्या।

इसी बात को 'सर्वगता शक्तिः' पदों से द्योतित किया गया है। सगुण और निर्गुण के भेद से शक्ति के दो प्रकार होते हैं, यह कथन भी पूर्वोक्त तथ्य को ही ध्वनित करता है। उपनषिदों में सगुण और निर्गुण भेद ब्रह्म का ही प्रतिपादित है, न तु केवल माया शक्ति का। स्वर्गादि सुखों के लिए सगुणोपासना और कैवल्यार्थ विरागियों के लिए निर्गुण-उपासना का उपदेश है। शास्त्रों में विहित पदार्थों के यथावत् अनुष्ठान से आराधिता भगवती चतुर्वर्ग प्रदान करती है। क्यों? इसीलिए कि वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की स्वामिनी है। देवता में फलदातृत्व है, न कि जडात्मक कर्मों में, यह महर्षिवादरायण का मत देवीपुराण में सुव्यक्त हुआ है। अप्राप्तत्वात् मन्त्रवर्ण में भी विधित्वकल्पना का सिद्धान्त स्फोरित करते हैं— **श्रीविद्यादीक्षितो द्रव्यवता स्वपीठार्चितेन निर्विकल्पकवृत्तिद्वारा सर्वान् कामान् भावयेत्।**

श्रीविद्या की दीक्षा प्राप्त करके परिस्रुत् (द्रवद्रव्य) आदि द्रव्यों वाले श्रीचक्रोपासन से तन्मयता = देवीमयता को प्राप्त होकर स्वर्ग आदि सारे फलों को प्राप्त करें, इस तरह विशिष्टविधि अप्राप्तत्वात् स्वीकृत है। कहा भी गया है—

तद् गुणाश्च विधीयेरन्नविभागाद् विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः।

इसके अभिप्राय को मीमांसा के वार्तिककार कुछ इस तरह से प्रकट करते हैं—

'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः।।'

अन्य वचनों से कर्म का विधान न होने पर कर्म और उसके अङ्ग द्रव्य-देवता आदि अनेक का विधान होना चाहिये। अनेकविधान होने पर तो वाक्यभेद (दोष) होने लगेगा? इस आशङ्का का समाधान है— **अविभागाद् विधानार्थे। विशिष्टस्यैकत्वादित्यर्थः।** अनेक गुणों से विशिष्ट कर्म का विधान होने से वाक्यभेद नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट एक ही होता है। सर्वत्र विशिष्टविधि में मत्वर्थलक्षणा होती है, इस बात को आचार्य ने **'द्रव्यवता स्वपीठार्चनेन'** से ध्वनित किया है। विशिष्टविधित्व को स्वयमेव कहते हैं— **भावनाविशिष्टभावनान्तरविधिः पर्यवस्यति।** 'इमां विज्ञाय' में 'क्त्वा' प्रत्यय से गुरुसमीपगमनदीक्षादिपूर्वकोपासनाभावना को भी विधि- विशेषण के रूप में स्वीकार की गया है तथा 'तर्पयन्तः' से अर्चनभावना का विधान है। 'भावना' का अर्थ फलोत्पादन के अनुकूल पूजन- व्यापारविषयक प्रयत्न है। कर्म के यावत् प्रकारों का या यावत् प्रकारों से विशिष्ट कर्म का ज्ञान प्राप्त करके ही दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये, इत्यादि बातें जो कल्पसूत्रों में प्रतिपादित हैं उनके मूल में यह प्राकरणिक मन्त्र ही है, इस तथ्य को ध्वनित करते हैं— **सर्वथा 'मतिमान् दीक्षेत' इत्यादि।** प्राय: अधिकारिविशेषण के रूप में श्रुत पदार्थ फल माना जाता है। जैसे 'राजसूयेन यजेत स्वाराज्यकाम:' में राजसूययज्ञ का अधिकारी स्वाराज्य की कामना वाला पुरुष है और उसका विशेषण स्वाराज्यकामना या स्वाराज्य फल है। कामना का विषय स्वाराज्य इच्छाविषयत्वेन स्वाभाविकतया प्राप्त है अत: फलरूप है। जहाँ अधिकारी का विशेषेण अप्राप्त रहता है, वह विधीयमान होकर फलभावना (आर्थीभावना) में करण हो जाता है। इसी स्थिति को यहाँ प्रदर्शित करते हैं—**'विज्ञाय तर्पयन्तः' इत्यधिकारिविशेषणतया श्रुतमपि तर्पणं फलभावनाकरणेत्वेन सम्बध्यते 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इतिवत्।** 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते', इस वाक्य से कार्यरूप विध्यर्थ की प्रतीति नहीं हो रही है, क्योंकि कार्यता का प्रतिपादक लिङ् नहीं है। 'भजन्ते', यह सिद्धार्थबोधक लट् है। हिरण्य (स्वर्ण) का दान करने वाले मोक्ष (अमृतत्व) प्राप्त करते हैं। यहाँ 'हिरण्यदा:' अधिकारी का विशेषण है, अत: भावना में करण कैसे हो सकता है? 'भजन्ते' में जब 'लेट्' की कल्पना करके विधित्व स्वीकार करेंगे तो उक्त वाक्य का अर्थ होगा—'सुवर्णदानेन मोक्षं भावयेत्' अर्थात् सुवर्ण का दान करके मोक्ष प्राप्त किया जाय। अधिकारी का विशेषण होकर भी जैसे हिरण्यदान भावना में करण हो गया है वैसे ही यहाँ पर भी 'तर्पयन्त:' से बोधित तर्पण भावना में करण हो जायेगा—**परदेवतातर्पणेन त्रैपुरं धाम भावयेत्।** भगवती की आराधना से त्रिपुरादेवी के लोक को प्राप्त किया जाय। शास्त्र से मन्त्रों का अभिधायकत्व मात्र सिद्ध है, न कि अज्ञातज्ञापनरूप विधान, फिर कैसे विधित्व को स्वीकार कर सकते हैं, इस आशङ्का का समाधान करते हैं—**अप्राप्तार्थकत्वाद् विधिशक्ति-प्रतिबन्धाभावाच्च मन्त्रत्वेऽपि न विधिव्याघातः।** मन्त्र में भी यदि अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ विद्यमान है और प्राप्तिद्योतक पदों से विधिशक्ति प्रतिबन्धित नहीं

हो रही है तो विधित्व माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में विधित्वस्वीकार में कोई बाधा नहीं है। अयम्भाव:—जिन वाक्यों में प्राप्ति के द्योतक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ विधायकत्वशक्ति प्रतिबन्धित हो जाती है। मन्त्रों के साथ ब्राह्मणवाक्यों में भी ऐसा स्वीकार किया गया है। यत्-तत् शब्दों का प्रयोग होने पर और उत्तमपुरुष एवम् सम्बोधनविभक्ति का प्रयोग होने पर प्राय: विधिशक्ति प्रतिबन्धित होती है। जैसे 'देवाश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभि: सचते गोपति: सह', इस मन्त्र में गो की स्तुति है जहाँ प्राप्ति का द्योतक 'याभि:' पद है जिससे अज्ञातज्ञापनरूप विधि प्रतिबन्धित है। 'यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत्', इस ब्राह्मणवाक्य में भी वैसा ही 'यस्य' शब्द का प्रयोग है। इसी तरह 'अग्नीदग्नीन् विहर' में संबोधनविभक्ति का प्रयोग होने से और 'बर्हिर्देवसदनं दामि' में उत्तमपुरुष का प्रयोग होने से आख्यात को विधायक न मान कर केवल अभिधायक माना गया है। 'यत्' आदि शब्दों के होने पर भी किसी भी तरह से यदि पदार्थ की प्राप्ति सिद्ध नहीं होती तो वहाँ 'यत्' आदि शब्दों में स्वार्थमात्र की प्रसिद्धिद्योतकता को स्वीकार करके विधित्व भी स्वीकार किया जाता है। जैसे 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल:' में आग्नेय याग का विधान है। भाष्यकार यहाँ इसी तथ्य को अन्य उदाहरण से प्रकट करते हैं—**'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, प्रणीयादिन्नाथमानायतव्यान्, आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन' इत्यादि मन्त्राणामपि बहुशो विधित्वस्वीकारात्।** उक्त मन्त्रों में भी जैसे विधि स्वीकृत है वैसे यहाँ पर भी 'मदन्ति' पद से विधित्व स्वीकार होगा। दूसरा समाधान प्रस्तुत करते हैं—**वस्तुतो मदन्ति।** जैसे 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाऽच्युतो भवति' में 'भवति' पद में विधिवाचक लेट्लकार की कल्पना करके अग्निदेवता और अष्टकपालों में संस्कृत पुरोडाश द्रव्य वाले यज्ञ का विधान स्वीकृत है वैसे ही 'मदन्ति' में लेट्त्व की कल्पना करके 'मद' धातु के अर्थ का विधान होगा और उसका भावार्थाधिकरणन्याय से भावना में करणत्वेन सम्बन्ध होगा। प्रकृत मन्त्र में 'मद' धातु का अर्थ कहते हैं—**चिद्देव्यभिन्नात्ममात्रविषयकवृत्तिविशेषबोधकपदमदधात्वर्थस्यैव करणत्वम्।**

आत्मा चित्स्वरूप है और वही ब्रह्म है। चिद्रूपिणी देवी से अभिन्न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव आत्मा में ही पर्यवसित चित्त की वृत्ति 'मद' धातु का अर्थ है जिसे साहित्य की रसप्रक्रिया में तन्मयीभवन कहा गया है। 'धात्वर्थ: केवल: शुद्धो भाव इत्यभिधीयते' अर्थात् धातु का अर्थ ही भाव पदार्थ है। धात्वर्थ से ही फलजनक अपूर्व की उत्पत्ति होती है, ऐसा पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के भावार्थाधिकरण में कहा गया है। तथा च, यह पारमर्ष सूत्र है—**भावार्था: कर्मशब्दास्तेभ्य: क्रिया प्रतीयेत, एष ह्यर्थो विधीयते।** इसका अर्थ है- प्रत्यय अंश से भावना के प्रतिपादक और प्रकृति (धातु) अंश से यागादि कर्मों के बोधक जो आख्यात शब्द हैं, उन्हीं से अपूर्व की प्रतीति होती है। अथवा भावार्थ अर्थात् भावनाप्रयोजनक जो कर्मबोधक शब्द धातु हैं उन्हीं से अपूर्व की प्रतीति होती है। यही धात्वर्थ (कर्म) पदश्रुति से भावना में करणत्वरूप में विहित होता है— यागेनाऽपूर्वं कृत्वा स्वर्गादि फलं भावयेत्। मन्त्र में 'मदन्ति' से बोधित स्वात्ममात्रपर्यवसित वृत्तिविशेष अर्थ

ही अन्तर्याग कहा जाता है— **अन्तर्यागपदवाच्यतापि तस्यैव**। इसमें हेतु दिखाते हैं— **यजते वृत्तिविशेषवाचकत्वात्**। वृत्तिविशेष का वाचक 'यज' धातु है, अतः अन्तर्याग आत्मा में तल्लीनता है। इस तरह 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्', इस न्याय से 'सुधया परिस्रुता' से बोधित द्रव्यविशेष का मत्वर्थलक्षणा से धात्वर्थ से ही सम्बन्ध होगा। जैसे 'सोमेन यजते' में 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' बोध होता है वैसे ही 'पीयूषीकृतद्रवद्रव्यवता यागेन स्वर्गं (नाकस्य पृष्ठम्) त्रैपुरं लोकञ्च भावयेत्', यह बोध होगा। इसी तथ्य को प्रकट करते हैं—**परिस्रुतेति मत्वर्थलक्षणया धात्वर्थेनान्वेति**। सभी कारकों का भावना में ही अन्वय जब स्वीकृत है तो कैसे द्रव्यविशेष का धात्वर्थ से अन्वय होगा? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—**भावनान्वित-योरुभयोररुणैकहायनीन्यायेन वा पार्ष्ठिकोऽन्वयः**। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैक-हायन्या सोमं क्रीणाति', यहाँ पर सोमक्रयसाधनत्वेन विहित 'आरुण्य' गुण का आख्यातार्थ आर्थीभावना में करणत्वरूप से प्राथमिक अन्वय होने के बाद एकहायनी (ऐकवर्षिकी) गो के साथ सम्बन्ध होता है। इसी तरह यहाँ भी 'परिस्रुत्' द्रव्य का पार्ष्ठिक (बाद में होने वाला) धात्वर्थ याग से सम्बन्ध मत्वर्थलक्षणा स्वीकार करके होगा। मन्त्र का उत्तरार्ध **'नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति'** भाग भावना में भाव्य (फल) का बोधक रात्रिसत्रन्याय से है, इस चातुर्थिकन्याय को प्रकट करते हैं—**''प्रतितिष्ठन्ति इत्यस्येव 'नाकस्य पृष्ठे' इत्यादेर्भा-व्यसमर्पकत्वम्।''** जिस द्रव्य आदि का कर्म में अङ्गत्व सिद्ध है वहाँ उनकी फलश्रुति को स्तुति मात्र में अर्थवाद माना गया है—**द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्**। जिनका अन्यत्र अङ्गत्व सिद्ध नहीं है वहाँ अर्थवाद में निर्दिष्ट फल को ही कर्म का फल मान लिया जाता है। यही आर्थवादिकफलकल्पना रात्रिसत्रन्याय है—**फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतावनु-मानं स्यात्**। अर्थात् आत्रेय ऋषि के मत में जहाँ अर्थवाद नहीं है वहाँ स्वर्ग की कल्पना विश्वजिन्न्याय से होगी, यह सूत्रार्थ है। **'ज्योतिर्गौरायुरिति त्र्यहा भवन्ति'**, इस रात्रिसत्रविधि के शेष में **'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एतास्त्रिस्रो रात्रीरुपयन्ति'**, यह अर्थवाद पठित है जिसमें 'प्रतिष्ठा' फल का निर्देश है। यहाँ पर भी स्वर्गप्राप्ति और निःश्रेयस दोनों फल संयोगपृथक्त्वन्याय से होगा, इस अर्थ को ध्वनित करते हैं—**चकारेण फलसमुच्चयकथनात्**। इसी को सुस्पष्ट करते हैं—**'पूत एव तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति'**। यह वैश्वानरयाग का फल है जो पुत्र की उत्पत्ति के पश्चात् सूतक से निवृत्ति होने पर पिता के द्वारा किया जाता है। उक्त वाक्य के पूर्व का अंश यह है—**यस्मिञ्जाते एतामिष्टिं निर्वपेत् स....**। वैश्वानरयाग का विधिवाक्य यह है—**वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते**। वहाँ पर जैसे अनेक फलों के स्वामी का याग में अधिकार है वैसे ही यहाँ पर भी स्वर्गपृष्ठ और त्रैपुरधाम दोनों फलों के स्वामित्व को लेकर अधिकार है—**सम्बन्धिसंवलिताधिकारत्वम्**। फलसम्बन्धिनो यजमानस्यानेकफलेषु समिलितं फलस्वाम्यमित्यर्थः। इसी का तात्पर्य प्रकट करते हैं—**अनेकेषां पुरुषार्थानां व्यासज्यवृत्तिफलत्वमिति यावत्**। यहाँ पर पुरुषार्थत्व का अभिप्राय 'फलोद्देशेन विहितत्वम्', अर्थात् फल के लिए वेदों से ही ज्ञापित होने वाला धर्म नहीं है। अनेक फलों

में फलत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है, जैसे दो में द्वित्व। अग्नीषोम में देवतात्व व्यासज्यवृत्ति धर्म है। वह अग्नि और सोम में अलग-अलग नहीं रहता। अलग अलग रहने वाला धर्म प्रत्येकपर्याप्त कहा जाता है, जैसे गो में गोत्व जाति। प्रत्येक गो में गोत्व अलग अलग रहता है। श्रीभगवती की पूर्वोक्तप्रकारीय उपासना से यावत् फलों की प्राप्ति हो जाती है, प्रत्येक फल के लिए अलग-अलग प्रयोगों की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह अभिप्राय है। इसी को सुस्पष्ट करते हैं—**"न पुनः 'सर्वेभ्यः कामेभ्य' इतिवत् प्रत्येकपर्याप्तम्"**। पूर्वमीमांसा के चतुर्थाध्याय के तृतीय पाद के दसवें अधिकरण में 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इत्यादि सर्वकामवाक्यों को लेकर विचार किया गया है जहाँ यही सिद्धान्त प्रस्तुत है कि सारे फलों के लिए दर्शपूर्णमास आदि यागों का विधान है। अर्थात् इन यज्ञों के अनुष्ठान से मनोभिलषित सभी फलों को प्राप्त किया जा सकता है। पुनः ग्यारहवें अधिकरण में यह विचार किया गया है कि एक प्रयोग में ही सारे फलों (काम) की प्राप्ति होती है या प्रयोगभेद से? उद्दिश्यमान फल के साहित्य की विवक्षा होने पर विशिष्टोद्देशनिमित्तक वाक्यभेद होने लगेगा, अतः फलभेद से प्रयोगभेद आवश्यक है। कामपदवाच्य फल का विशेषण होने से 'सर्वत्व' की ग्रहैकत्व की तरह अविवक्षा है, इस बात को मयूखमालिकाकार शास्त्रदीपिका की व्याख्या में इस तरह सुस्पष्ट करते हैं—

"इह हि मुख्योऽपि सर्वशब्दो नोद्देश्यसमर्पकः सापेक्षत्वात्, किन्तु निरपेक्षत्वात् कामशब्द एव। ततश्च ग्रहत्ववत् सर्वत्वस्योद्देश्यप्रतीतिपर्यवसानार्थत्वाभावादुद्देश्यविशेषणत्वमेवेति ग्रहैकत्ववदविवक्षितत्वान्न साहित्येन फलत्वम्।"

'ग्रहं संमार्ष्टि' से सोमरस के पात्रों के शोधन का विधान है जहाँ 'ग्रहत्व' की विवक्षा है। वाक्यभेद की प्रसक्ति होने के कारण 'ग्रह' में विद्यमान एकत्व की विवक्षा नहीं है, अतः सारे ग्रहों (पात्र) का शोधन सिद्ध हो जाता है। 'सर्वेभ्यः कामेभ्यः' में 'काम' शब्द विशेष्य होने से निरक्षेप है और 'सर्व' पद विशेषण होने से विशेष्यसापेक्ष है। अतः उद्देश्य का बोधक फल का वाचक 'काम' पद ही होगा। जैसे ग्रहत्व का उद्देश्य की प्रतीति में पर्यवसान (समाप्ति) होता है वैसे 'सर्वत्व' का उद्देश्यप्रतीति में पर्यवसान नहीं होगा। इस तरह 'सर्वत्व' उद्देश्य 'काम' का विशेषण ही होगा। 'ग्रहं संमार्ष्टि' में जैसे ग्रहगत एकत्व की अविवक्षा मानी गयी है वैसे ही 'सर्व' शब्द से बोधित फलों के साहित्य की विवक्षा नहीं होगी।

फलतः एक-एक फल की कामना होने पर भिन्न-भिन्न प्रयोग होंगे। यहाँ पर स्वर्ग के ऊपर निवास और मुक्त के लिए प्राप्य पद, इन दोनों फलों की प्राप्ति एक ही प्रयोग से हो जायेगी, ऐसा आचार्य ने **'अनेकेषां पुरुषार्थानां व्यासज्यवृत्तिफलत्वमिति यावत्'** से द्योतित किया है। फल को ही मुख्यतः पुरुषार्थ माना जाता है—पुरुषैरर्थ्यते प्रार्थ्यत इति पुरुषार्थः। फल के साधनों में पुरुषार्थत्व साक्षात् न होकर फल द्वारा ही है। उक्त वाक्य का अर्थ यही है कि भगवती की पूर्वोक्तप्रकारीय उपासना से प्राप्त होने वाले फलों में साहित्य की विवक्षा है। ऐसा 'परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति' में 'च' शब्द से सिद्ध होता

है। मन्त्र में 'तर्पयन्तः स्वपीठम्' से कथित तर्पण उपासना का अङ्ग है। यह अङ्गत्व 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्', इस न्याय से है, इस अर्थ को प्रकट करते हैं—**तर्पणन्तु।** 'इमां विज्ञाय' से मन्त्रवर्ण यह प्रकट करता है कि त्रैपुरयाग में विद्वान् का ही अधिकार है, मूर्खों का नहीं। एवञ्च, अनेक मूर्खों के द्वारा वस्त्र बदल कर उपासना का प्रदर्शन दम्भ मात्र है। भगवान् जैमिनि ने भी यागादि धर्मों में अविद्वान् को अस्वीकार करके विद्वदधिकारिता को ही परिपुष्ट किया है—**'न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति'**। इसी तथ्य को आचार्य इङ्गित करते हैं—**'इमां विज्ञाय' इति विद्वत्ताधिकारितावच्छेदको धर्मः**। इसमें युक्ति प्रदर्शित करते हैं—**अत एव।**

'कुलदीक्षाविहीनानां नाधिकारो द्विजन्मनाम्'।

यह समयाचार का प्रतिपादन करने वाली स्मृति है जो कुलदीक्षा को प्राप्त न करने वाले द्विजों के अधिकार का निषेध कर रही है। इस स्मृति का मूल भी प्रकृत मन्त्र है, यह अभिप्राय है। दिव्यपानविधि में ही श्रुति की अनुकूलता को कहते हैं—**इह 'तर्पयन्त' इति।** मन्त्र में 'तर्पयन्तः' में जो वर्तमानकालार्थक 'शतृ' प्रयय का प्रयोग है और आगे बारहवें मन्त्र में 'निवेदयन् स्वात्मीकृत्य' जो दो 'शतृ' प्रत्ययों का प्रयोग है उससे देवता को हव्य का निवेदन और उसका आत्मसात्करण (प्रसाद के रूप में स्वीकार) एक काल में सिद्ध हो रहा है। फलतः दिव्यपान में ही श्रुति की अनुकूलता सिद्ध हो रही है, न कि वीरपान में। इस तरह—

'पानन्तु त्रिविधं प्रोक्तं दिव्यवीरपशुक्रमैः।
दिव्यं देव्यग्रतः पानं वीरमुद्वासने कृतम्'।।

इस स्मृति के मूल में किसी अन्य श्रुति का अन्वेषण करना चाहिये। इसमें 'परिस्रुत्' वस्तु के पान को तीन प्रकार का कहा गया है—दिव्यपान, वीरपान और पशुपान। देवी के समक्ष किया जाने वाला पान दिव्य पान है तथा उद्वासन हो जाने पर जो पान होता है वह वीरपान है। इन दोनों से भिन्न पान पशुपान है। आचार्य ने जो 'श्रुत्यन्तरमन्वेष्यम्' कहा है उससे यह सिद्ध होता है कि जब तक 'वीरपान' का प्रतिपादन करने वाली स्मृति की मूलभूत श्रुति की उपलब्धि नहीं होती तब तक वीरपान को अवैध ही मानना चाहिये। यही वार्तिककारीय मत से यावच्छ्रुतिदर्शन अननुष्ठान-लक्षण अप्रामाण्य स्मृति का है। अर्थात् मूलभूत श्रुति के विना वैसे अङ्गों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये जिनका किसी अन्य श्रुति से विरोध हो रहा हो। प्रतिषिद्ध वस्तु का भी यदि याग के लिए विधान है तो कोई दोष नहीं है, इस न्याय से दिव्य पान का समर्थन करते हैं—**पुरुषार्थनिषेधास्तु रागप्राप्तैकविषयत्वात् क्रत्वर्थत्वेन विहितेषु न प्रवर्तन्ते।** तिङर्थभावना में फल और साधन को पुरुषार्थ कहा गया है तथा करण (साधन) के उपकारक अङ्गों को इतिकर्तव्यता कहते हैं। भावना में इतिकर्तव्यता के रूप में जिन पदार्थों का अन्वय होता है वे क्रत्वर्थ कहे जाते हैं। 'यदर्था प्राप्तिस्तदर्थः प्रतिषेधः', यह न्याय है। अर्थात् प्राप्ति पुरुषार्थतया है तो निषेध भी पुरुषार्थ होता है। रागतः स्वतः प्राप्ति पुरुषार्थ होती है। अभक्ष्यभक्षण आदि

की प्राप्ति रागतः होने से पुरुषार्थ है तो उसके निषेध 'न कलञ्जं भक्षयेत्, न सुरां पिबेत्', इत्यादि भी पुरुषार्थ माने जाते हैं। 'न मलवद्वाससा संवदेत्' से रजस्वला स्त्री के साथ संभाषण का निषेध भी पुरुषार्थ है क्योंकि उसके साथ संभाषण की प्राप्ति रागतः होने से पुरुषार्थ है। प्राप्ति होने पर ही प्रतिषेध होता है, यह न्याय है। सुरापान का प्रतिषेध शास्त्रों में हैं- 'न सुरां पिबेत्'। इसी श्रुति का उपबृंहण भगवान् मनु इस तरह करते हैं—

'सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ।।
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ।।'

(मनुस्मृति ११/९३-९४)

ब्राह्मण एक वार भी सुरा पी ले तो शूद्र हो जाता है—

'यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाऽऽप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं स च गच्छति ।।' (मनु. ११/९७)

सुरापायी ब्राह्मण को कृमि, कीट, मलभोजी प्राणियों की योनि में जाना पड़ता है—

'कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ।।' (मनु. १२/५६)

ऐसे में 'परिस्रुत्' शब्द से बोधित सुरा का पान उपासक करेगा तो महापातक दोष लगेगा? इस आशङ्का का समाधान आचार्य ने उक्त वचन से किया है। सुरापान के जितने भी निषेध हैं वे पुरुषार्थ निषेध हैं। इस तरह के निषेध क्रत्वर्थ अर्थात् याग के अङ्ग के रूप में विहित सुरापान में प्रवृत्त नहीं होंगे। जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि', यह पुरुषार्थभूत सारे प्राणियों की हिंसा का निषेध क्रत्वर्थ के रूप मे विहित अग्नीषोमीय पशु की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता। मन्त्र में 'परिस्रुत्' का विशेषण सुधा है जिससे मन्त्रप्रयोग के द्वारा निर्मित पुष्पासव आदि का ही ग्रहण समझना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि बाजारू अवैध सुरा को लेकर मन्दिरों में प्रवेश करने वाले मर्यादा भङ्ग करते हैं।

'येन केनाऽप्युपायेन शिवे चित्तं निवेशयेत्'।

इत्यादि पुराणवाक्यों का स्वारस्य भी पूर्वोक्त आशय में ही है। मन्त्रों में देवता को अर्पित द्रव्य का आत्मसात्करण सारे वर्णों के लिए है। ऐसे विधिवचन तन्त्रों में अनेकत्र उपलब्ध हैं। अतः क्रत्वर्थ विधान होने से दिव्यपान में पुरुषार्थ निषेधों की प्रवृत्ति नहीं होगी और बलाबल के विचार की भी आवश्यकता नहीं है, इस वस्तु को ध्वनित करते हैं— **स्पष्टानां तत्र वचसाम्**। बलाबलविचार का अवकाश क्यों नहीं है? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—**तेषाञ्छेदृशानेक**। दिव्यपान के विषय में जितने भी तन्त्र में वचन आये हैं उनके मूल में अनेक श्रुतिवाक्य विद्यमान हैं, अतः बलाबल के विचार के लिए कोई अवकाश नहीं है।।७।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

एवं शक्त्यात्मकश्रीचक्रमधिष्ठानम्, तत्र स्थितौ कामेश्वरीकामेश्वरौ अधिष्ठातारौ च, तद्रहस्यनामानि च प्रतिपाद्य तद्वाचकौ सर्वश्रुतिसारभूतं कादिहादिमन्त्रावुद्धरति **'कामो योनिरि'**ति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम्—

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या ।।८।।

कामः ककारः, योनिः एकारः, कामकला ईकारः। वज्रपाणिर्लकारः। गुहा ह्रीङ्कारः। हसा हकार-सकारौ, विभक्तिलोपश्छान्दसः। मातरिश्वा ककारः। अभ्रं हकारः। इन्द्रो लकारः। पुनर्गुहा—पुनः शब्दः पूर्वोक्तपरामर्शी, गुहा ह्रीङ्कारः। स-क-लाः सकार-ककार-लकाराः। मायया च ह्रीङ्कारेण युक्तेति शेषः। चकारात् पूर्वोक्तैः कामादिशब्दवाच्यैः वर्णैरपि संहितेत्यर्थः। पुरूची पुरून् बहून् वर्णान्, अञ्चति गच्छति प्राप्नोतीति पुरूची, पञ्चदशाक्षरतां प्राप्तेत्यर्थः। तां प्राप्तां पञ्चदशाक्षरिकाम् अपरोक्षतया निर्दिशति—**एषेति**। एषा केत्याकाङ्क्षायाम् आह—**विश्वमातेति**। विश्वस्य शिवादिक्षित्यन्ततत्त्व-जातस्य माता जनयित्री। तथा चोक्तं पुराणे—

'सदाशिवानां भेदानामुत्पत्तिस्थानमीश्वरी'ति ।

यद्वा—'मान पूजायामि'त्यस्माद् धातो र्मातृशब्दो निष्पन्नः। 'नप्तृ-नेष्टत्वष्टृ-होतृ-पोतृ-भ्रातृ-जामातृ-मातृ-पितृ-दुहितृ' इत्यादिसूत्रेण निपातनात्। तथा च श्रीहयग्रीवः—

'अथ सा जगतां माता ललिता परमेश्वरी'ति ।

'मातृदेवो भवे'ति श्रुतिरेकजन्मनि जनन्या विदधाति। सपर्यामियमनन्तजन्मसु जनन्यास्ततो विशेषसपर्यां विदधाति। तदाह—हयग्रीवः—

'स्वस्वांशैः शिवयोश्चैवमादिपित्रोरकुर्वते'ति।

श्रीक्रोधभट्टारकस्तु—नेयं श्रुतिः विशेषजननीपरा, शब्दार्थवैरूप्यापत्तेः। नापि मातृत्वं जातिः, गोत्वादिना साङ्कर्यात्। किन्तु श्रीपरैव। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिश्रुतेः। **आदिविद्येति**। आदिविद्या प्रथमविद्या। ओङ्काराख्या ब्रह्मविद्येति यावत्। तस्या एव सर्ववेदार्थप्रमाणत्वात्। तथा च श्रुतिः—

"यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ।।"

'ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यमित्येतदक्षरं परं ब्रह्मे'ति। यद्वा—अकारोकारमकारात्मकत्वादोङ्कारस्य। अं अकारः, आदिः प्रथमः यस्याः ओङ्काररूपब्रह्मविद्यायाः सा आदिविद्येत्यर्थः। अथवा आदिः सर्वकारणभूत—

ब्रह्मस्वरूपतया वेत्तीति आदिविद्या ओङ्कार एवेति ।

अत ओङ्काररूपा ब्रह्मविद्या पृथग् विभिन्ना पञ्चदशवर्णात्मिकेत्यर्थः ।।८।।

श्रीभास्करारायप्रणीतभाष्यम्—

एवं पररूपोपास्तिं विधाय सूक्ष्मरूपोपास्तिविधित्सयाऽष्टमीमृचमाह—काम इति।

इह पञ्चदशाक्षरीमन्त्र उद्ध्रियते। स च स्त्रीदैवत्यत्वाच्चिद्रूपत्वाच्च विद्यापदेनोच्यते। क्वचित्तादृश्यपि वेदमाता गायत्री कण्ठरवेण पठ्यते। अस्यास्तु प्रत्यक्षरं तद्वाचकपदमन्तरेण कतिपयानां निर्देशादतिरहस्यत्वं मन्त्रस्य, तद्द्वारा तदधिकारिककर्मणाञ्च तथात्वं ध्वनितम्। किं बहुना? गायत्र्यप्यादिविद्योद्धारिकैवेति त्रिपुरातापिन्यां स्पष्टं प्रदृश्यते। भागवत-प्रथमश्लोकोऽप्येवमेवोपबृंहयति-सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्याञ्च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्' इति। अतिरहस्यत्वादेव नाथचरणैकावगमनीयोऽयं मन्त्रः। मातरिश्वा कामश्च चतुर्मुख-वाचकमक्षरम्, कमलायोनी चतुर्थैकादशस्वरौ। इन्द्रवज्रपाणी तृतीयमन्तस्थाक्षरम्, गुहामाये-भुवनेश्वरीवीजम्, अभ्रं-तस्या एवाद्यमक्षरं हकारः' शेषपञ्चकं स्वरूपम्। एषा आदिविद्या पुरूची-पुरातनी विश्वमाता-जगज्जनयित्री, विद्याक्षरैर्जगदुत्पत्ते-र्योगिनीहृदये सम्प्रदायार्थप्रकरणे सविस्तरं वर्णनात्। मन्त्रार्थस्तु-दत्तात्रेयागस्त्यादि-भिर्बहुभिस्तन्त्रभेदेन बहुधोक्तः। स चास्माभिर्वरिवस्यारहस्ये यथामति सङ्गृह्य दर्शित इति तत एवावगन्तव्यः ।।८।।

भाषाव्याख्या

इस आठवीं ऋक् से सारी श्रुतियों में साररूपतया अवस्थित कादि पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का उद्धार है। 'कामः' शब्द से 'क' का, 'योनिः' शब्द से 'ए' का, 'कामकला' या 'कमला' पद से 'ई' का, 'वज्रपाणिः' शब्द से 'ल' का और 'गुहा' शब्द से ह्रीङ्कार का ग्रहण है—'क ए ई ल ह्रीम्'। 'हसा' में विभक्तिलोप वैदिक है। यहाँ हकार और सकार को लिया गया है। 'मातरिश्वा' शब्द से ककार का, 'अभ्रम्' शब्द से हकार का, 'इन्द्रः' पद से लकार का ग्रहण है। पुनर्गुहा से पूर्वोक्त ह्रीङ्कार को लिया गया है—'ह स क ह ल ह्रीम्'। 'सकला'

शब्द से सकार, ककार और लकार का ग्रहण है। ये तीनों वर्ण माया (मायया) से युक्त होकर 'सकल ह्रीम्' के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। 'च' से कामारि शब्दों से प्रतिपाद्य पूर्वोक्त वर्णों का ग्रहण करके पञ्चदशाक्षरी विद्या का निष्पादन होता है। अत एव 'पुरूची' शब्द से उसका प्रतिपादन है—पुरून् अनेकान् वर्णान् अञ्चति प्राप्नोतीति पुरूची = पन्द्रह अक्षरों को प्राप्त होने वाली यह आदिविद्या विश्व की माता है—**एषा विश्वमाताऽऽदिविद्या।** 'विश्व' शब्द से शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का ग्रहण है जिनकी माता = जननी यह आदि विद्या श्रीविद्या है। पुराण में यह कहा गया है।

'सदाशिवानां भेदानामुत्पत्तिस्थानमीश्वरी।'

हयग्रीव का वचन भी है—

'अथ सा जगतां माता ललिता परमेश्वरी।'

आदिविद्या से ओङ्कारनामक ब्रह्मविद्या का ग्रहण श्रीरामानन्दतीर्थ ने किया है। शेष व्युत्पत्ति उनके भाष्य में द्रष्टव्य है।

श्रीभास्कररायजी पञ्चदशाक्षरी मन्त्र को ही स्त्री देवता वाला और स्त्रीलिङ्गक चित्स्वरूप होने के कारण 'विद्या' पद से स्वीकार करते हैं—**स च स्त्रीदैवत्यत्वाच्चिद्रूपत्वाच्च विद्यापदेनोच्यते।** कहीं वैसी ही वेदमाता गायत्री कण्ठध्वनि से पढ़ी गयी है। 'तादृशी' से चिद्रूपा विद्या का ग्रहण है। वेदमाता गायत्री भी आदिविद्या हैं, यह अभिप्राय प्रतीत हो रहा है। **'गायत्र्यपि आदिविद्योद्धारिकैवेति त्रिपुरातापिन्यां स्पष्टं प्रतीयते'**, इस उत्तर ग्रन्थ से उक्त अभिप्राय निर्धारित हो रहा है। गायत्री भी आदिविद्या का उद्धार करती है। गायत्री के प्रत्येक अक्षर में उसके वाचक पद का यद्यपि अभाव है तथापि कुछ अक्षरों का निर्देश होने से मन्त्र रहस्यमय हो जाता है। मन्त्र के रहस्यमय होने से उसके अधिकार में आये कर्म भी रहस्यात्मक हो जाते हैं, इस तथ्य को कहते हैं—**तद्द्वारा तदधिकारिककर्मणाञ्च तथात्वं ध्वनितम्।** भागवत का प्रथम श्लोक भी आदिविद्या को ही परिपुष्ट करता है, यह तथ्य भी प्रकट करते हैं—**भागवत।** कैसे आदिविद्या का उद्धारक भागवत का श्लोक है, इस जिज्ञासा के शमन के लिए अर्थ की योजना प्रकट करते हैं—**सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्याञ्च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।**

जो आदिविद्या मेरी बुद्धि को निःश्रेयसोन्मुख कर सकती है उसका हम ध्यान करते हैं। भागवत के प्रथम श्लोक से परम सत्य के निदिध्यासन का प्रतिपादन है—**सत्यं परं धीमहि।** वह परम सत्य सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही है, ऐसा शेष पादों से ध्वनित है—जिससे जगत् का जन्म-स्थिति-भङ्ग होता है, जो सर्वज्ञ है, स्वयम्प्रकाश है, ब्रह्मा को जो सृष्टिकाल में वेद प्रदान करता है, जिसके विषय में बड़े-बड़े विद्वान् मोहित होते रहते हैं अर्थात् पूर्णतः जिसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते, जिसमें सारा जगत् अध्यस्त है, (यत्र त्रिसर्गो मृषा) और जो अपने स्वयंज्योति से अविद्यान्धकार को ध्वस्त कर देता है, इत्यादि रूप से परब्रह्म का प्रतिपादन भागवत के प्रथम श्लोक, गायत्रीमन्त्र और प्रकृत पञ्चदशाक्षरी मन्त्र से किया गया है। श्रीरामानन्दतीर्थ ने भी पर्यन्त में यही द्योतित किया है—

"सर्वकारणभूतब्रह्मस्वरूपतया वेत्तीति आदिविद्या ओङ्कार एवेति। सा ओङ्काररूपा ब्रह्मविद्या पृथग् विभिन्ना पञ्चदशवर्णात्मिकेत्यर्थः।"

मन्त्र की रहस्यात्मकता को कहते हैं—**अतिरहस्यत्वादेव नाथचरणैकावगमनीयो मन्त्रः।** श्रीगुरुप्रसाद से विशेषतः मन्त्र के तात्पर्य को समझा जाय। आगे मन्त्रोद्धार जो श्रीभास्करराय ने किया है उसे पहले ही कह दिया गया है। श्रीरामानन्दतीर्थ ने 'कामकला' पद को शाखा भेद से स्वीकार करके—काम की कला भगवती को ही लक्षणा से ईकार के रूप में स्वीकार किया है। श्रीभास्करराय ने 'कमला' पद स्वीकार करके चतुर्थ वर्ण ईकार को माना है—**कमलायोनी चतुर्थैकादशस्वरौ।** पुरूची अर्थात् जगज्जननी पुरातनी हैं। पञ्चदशाक्षरी मन्त्र की व्याख्या दत्तात्रेय, अगस्त्य आदि अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार से की है। वरिवस्यारहस्य में श्रीभास्करराय ने भी किया है। धर्मसम्राट् स्वामी करपात्रीजी ने भी किया है जिसका प्रकाशन पूज्यपाद श्रीसीतारामकविराजजी ने श्रीविद्यारत्नाकर में किया है। जिज्ञासुओं को वहीं से विज्ञजनों के माध्यम से समझ लेना चाहिये॥८॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्यं कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते॥९॥

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

द्वितीयामाह **'षष्ठमि'**त्यादिना—

षष्ठं पूर्वोक्तकादिविद्यायाः षष्ठाक्षरं हकारः, सप्तमं सकारः, अथ अनन्तरम्, षष्ठसप्तमयोरिति शेषः। वह्निसारथिम्, वायुवीजं ककारः। अस्याः उक्तकादिविद्याया मूलत्रिकम् आद्याक्षरत्रयम् आदेशयन्तः अकार-एकार-ईकारस्थानापन्नं सत् योजयन्त इति भावः। कथं प्रतिपाद्यम्? 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'अन्यदेव तद्विदितादथो आविदितादधि', नेह नानाऽस्ति किञ्चन', 'एकमेवाऽद्वितीयम्', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमश्रोत्रमवर्णम-चक्षुरश्रोत्रं तदपाणि-पादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्', 'अथात आदेशो नेति नेति', 'अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहच्छायमतमो-ऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धम-चक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणम-मुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतिशतैः विधिमुखेनाऽतन्निरसनेन चेति शेषः॥ **कविम्**- सर्वज्ञं क्रान्तदर्शिनम्, 'स वेत्ति वेद्यम्, न च तस्यास्ति वेत्ता' इति श्रुतेः। 'कविं पुराणमनुशासितारमि'ति स्मृतेश्च। **कल्पकम्**—अभिमतार्थानामिति शेषः। **कामम्**—धर्मादिपुरुषार्थसिद्धिभिः काम्यत इति कामः, तम्। **ईशम्**-

स्वशक्तिभिः सर्वान् लोकान् कर्तुमीशत इति ईशः। 'यः सर्वानीशत ईशनाभिः जननीभिः परमशक्तिभिरि'ति श्रुतेः। यद्वा काममीशमिति पदद्वयमेकं नाम कामेश्वर इति, तं कामेश्वरम्। तुष्टुवांसः—स्तुवन्तः, स्तवनम् उपासन-ध्यान-मनना॒ऽवबोधन-भजनादीनामुपलक्षणम्। तथा च श्रुतयः—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत'।

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ।।'

'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' **'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'** इत्यादयः। एवं स्तुवन्तः।

अमृतत्वम्—न म्रियत इति अमृतं ब्रह्म। तथा च श्रुतिः—'सत्यात्म-प्राणारामं मन आनन्दम्, शान्तिसमृद्धममृतम्' इति। तस्य भावः तत्त्वम् अमृतत्वं ब्रह्मात्मत्वमित्यर्थः। भजन्ते—प्राप्नुवन्ति। मन्त्रगतवर्णानां कामादीनि पदानि लक्षकानि, क्वचित् लक्षितलक्षकानीति ध्येयम्। कामः शिवः, **'तस्मादीश्वरकाम उपासीत'** इति श्रुतेः। तेन तत्प्रकृतिभूतः ककारो लक्ष्यते। तथा च मन्त्रनिघण्टुः—

'को ब्रह्मा कामो वैकुण्ठो क्रोधीशो विधिरुच्यते ।
महाकालीन्दुमान् बाहुः कमलाकर ईश्वरः ।।' इति।

योनिः—एकारः, 'त्रिकोणशक्तिरे(का)कारेण महाभागेन (भगाकारेण) प्रसूते, तस्मादेकार एव गृह्यते' इति श्रुतेः। 'एकारो भग-योनिश्चे'ति निघण्टुश्च।

कामकला—काम्यते अभिलष्यते, स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिः महद्भिः योगिभिरिति कामः। **'हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः। आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः'**, 'समूहतेजः यत् ते कल्याणतमं तद् ते पश्यामि' इत्येवं श्रुत्युक्तप्रकारेणेति शेषः। कला विमर्शशक्तिः अग्नीषोमरूपिणी कामाभिन्नकला 'कामकला' कामेश्वराऽविनाभूता बिन्दूत्रयसमष्टिरूपा 'कामकले'-त्युच्यते। तेन तत्प्रकृतिभूत ईकारो लक्ष्यते। तथा च श्रीभगवत्पादाः—'हरार्धं ध्यायेद् योहरमहिषि ते मन्मथकलाम्' इति। श्रीपुण्यानन्दश्च—

'सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसङ्कुचत्प्रसरम् ।
वागर्थसृष्टिहेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम् ।।

बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दुः ।।' इति।

'वज्रपाणि'रित्यनेन लकारो लक्ष्यते ।

'लकारो माध्वी मांसः सद्यस्त्रितयमासुरम् ।

ऐन्द्रं पार्थिवशाखाख्यं पिनाकीशीयकङ्कणम् ।।' इति निघण्टुः।

गुहा गूहते संवृणोति विमर्शशक्तिमिति गुहा माया आवरणशक्तिः। तेन तत्प्रकृतिभूतो ह्रीङ्कारो लक्ष्यते। 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ती'ति श्रुतिः। 'हसा' स्पष्टौ, 'सुपां सुलुगि'त्यादिना साधु। ककारस्य वायुवीजत्वं शास्त्रसिद्धम्। अभ्रम्—आकाशः। तेंन तत्प्रकृतिभूतो हकारो लक्ष्यते। इन्द्रो लकम् इत्युक्तम्। पुनर्गुहेति पुनःशब्दः पूर्वोक्तपरामर्शीत्युक्तम्। गुहाशब्दो व्याख्यातः। सकला स्पष्टम्। मायया चेति व्याख्यातम्। मायात्मकेन ह्रीङ्कारेण 'ह्रीङ्कारो हल्लेखाख्या भगवती'ति श्रुतेः।

अत्रेदमनुसन्धेयम्—'कामो योनिः कामकला बज्रपाणिर्गुहे'त्येतद्वर्ण-पञ्चकमाग्नेयं वाग्भवखण्डम्। 'हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः पुनर्गुहेत्येतद्वर्णषट्कं सौरं काम-राजखण्डम् 'कमला मायया चे'ति वर्णचतुष्टयं सौम्यं शक्तिखण्डम्। एवं कूटत्रयात्मिका श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरीति।

अत्रेदमतिरहस्यम्—'कामो योनिः कामकला वज्रपाणि'रिति वर्णचतुष्टयम् आग्नेयखण्डम्, 'हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्र' इति वर्णपञ्चकं सौरखण्डम्। उभयोः खण्डयोर्मध्यं रुद्रग्रन्थिस्थानीयं। गुहाख्यहल्लेखा-बीजम्। सकला इति वर्णत्रयेण सौम्यं खण्डं निरूपितम्। सौम्यसौरयोर्मध्ये 'विष्णुग्रन्थि'स्थानीयं गुहाख्यं 'भुवनेश्वरवीजम्'। सौम्यचन्द्रकला-कामकलाखण्डयोः ब्रह्मग्रन्थिस्थानीयं हल्लेखावीजम्। चन्द्रकलाखण्डं तु उत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति। अत एव—

'त्रिखण्डो मातृकामन्त्रः सोमसूर्यात्मक' इति।

अवरोहक्रमेणेति शेषः। 'सोमसूर्यानलात्मक' इत्येतावत्यत्र वक्तव्ये 'त्रिखण्ड' इत्युक्तिः ज्ञानेच्छाक्रियाशक्त्यात्मकम्, 'खण्डत्रयमि'ति जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थात्रयात्मकं विश्व-तैजस-प्राज्ञवृत्तित्रयात्मकं तमोरजः सत्त्वगुणात्मकमित्येवं प्रकारेणाऽवगन्तव्यम् इति।

तथाहि—त्रिपुरसुन्दरीमन्त्रस्य षोडशवर्णाः। ते च षोडशनित्यतया स्थिताः। अत्र षोडश्याः कलाया नित्यात्वव्यपदेशश्चन्द्रकलारूपसाम्यात्। सा च परा कला चिदेकरसा तस्यापूछाया विशुद्धिचक्रे षोडशारे कलात्मतया भ्राजतीति रहस्यम्। सा प्रधानम्। अस्या अङ्गभूताः पञ्चदश नित्या इति सिद्धम्।

तुरीयस्य कामकलाखण्डस्यैव श्रीविद्येति नाम। श्रीस्वरूपा विद्या श्रीविद्येति

रहस्यम्। रहस्योपनिषदि चैवं विद्या सम्यक् प्रतिपादिता। 'देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्'—केयं तनुः, किंरूपा, कियद्वर्णा, किंकरोति, किं ददाति, केन च सिध्यति, किं करवामेत्यादिना।

देव्यथर्वशिखोपनिषदि च श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी प्रतिपादिता। महोपनिषदि च सम्यक् पञ्चदशाक्षरी प्रतिपादिता। त्रिपुरातापिन्याम् 'अथैतस्मिन्नन्तरे भगवान् प्राजापत्यं वैष्णवं विलयकारणं रूपमाश्रित्य त्रिपुराभिधा भगवती'इत्यादिना विशेषेण श्रीविद्यायास्त्रिखण्डात्मकत्वं निरूपितम्।

ऋग्वेदे च **'चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्त'** इत्यत्राप्येषा श्रीविद्या समुद्योतते। ननु श्रीविद्यायाः कूटत्रयशिखरसमधिरूढगुहात्रये बिन्दुभूषित-मस्तकत्रय एव तुरीयस्वरः स्फुरति। तत् कथं 'चत्वार ईं बिभ्रती'त्युच्यते? वाग्भवाङ्गतुरीयस्वरो ह्यजहल्लक्षणया गृह्यते बहुतरसादृश्यादिति साम्प्रदायिकाः। कश्चिच्चन्द्रात्मकत्वान्नित्यारूपत्वाच्च षोडशावयवानामावश्यकतया श्रीविद्या श्रीविद्येति व्यवहाराद्यनुपपत्तेश्च वातीर्यगुहायां (?) निजसम्प्रदायैकगम्यं रमावीजमस्तीति प्राह। तत् तुच्छम्।

वह्न्यादिरूपतया पङ्क्त्यादिप्रतीकत्वप्रसङ्गात्। श्रियः प्रतिपादकतयैव श्रीविद्येति व्यवहारोपपत्तेश्च। एवमेव 'ललितासहस्रनामस्तोत्रे', 'श्रीविद्या कामसेविते'त्यत्र व्याख्यातम्। 'श्रीरिति कामकलोच्यते, सा चासौ विद्येति श्रीविद्या। प्रकृत्ति-विकृत्योरभेदादिति निगर्वाच्च। व्यष्टि-समष्टिभावेन चन्द्रात्मकताद्युपपत्तेश्च। यदुक्तमस्ति रमावीजमिति, तदपि 'कामो योनिरि'त्यादिश्रुतिविरुद्धम्। **न हि श्रुतिविरोधे सम्प्रदायः प्रामाण्यमवलम्बते।** रमावीजमस्ति चेत्, तदपि न तस्य सम्प्रदायैकगम्यत्वम्, किन्तु—

'कामराजाख्यमन्त्रान्ते श्रीवीजेन समन्विता ।
षोडशाक्षरविद्येयं श्रीविद्येति प्रकीर्तिता ।।'

इति श्रीहयग्रीववचनगम्यत्वात्। सत्येवं नेयं कामराजविद्या, किन्त्वन्यैव षोडशाक्षरविद्या। 'चत्वार ईमि'ति श्रुतिरपि एतस्या एवोद्धारिकेति सत्सम्प्रदायविदो वदन्ति। केचित् तु ''चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादिश्रुतिरपि श्रीविद्यामुद्धरती'त्याहुः। रससारसङ्ग्रहेऽपि हादिविद्योद्धार उक्तः। तत्र वचनानि कानिचिल्लिख्यन्ते।—

'विद्यां तु नवमीं सम्यक् प्रवक्ष्यामि समासतः ।
ललिताया रहस्यत्वात् मादनेत्यादितः क्रमात् ।।

मादनः प्राणरूपस्तु विकासः शिव उच्यते ।
सदारस्त्वपरो ज्ञेयो सङ्कोचः शक्तिरूपकः ।।

सङ्कोचः परमा शक्तिर्विकासः शिव उच्यते ।
सङ्कोचश्च विकासश्च 'हंस' इत्यक्षरद्वयम् ।।

तयोराधाररूपेण कर्तव्यं बिन्दुमालिनी ।
प्राणो बिन्दुरिति प्रोक्तः साह्यर्यादपानके ।।

अथो धरेन्द्रमाकाशं ज्वलनं तु तयोरधः ।
मायाबिन्दूर्ध्वगश्चैव वाग्भवोऽसौ प्रकीर्तितः ।।'

श्रीहंस-परमेश्वरेऽपि—

मा शक्तिस्तु समाख्याता, (ह)दनः स्वीकारकः शिवः ।
स हि मादन इत्युक्ते हकारः शिवसंज्ञकः ।।

तस्य शक्तिर्यथोर्ध्वत्वे सकारस्य विधीयते ।
शिवो हकार इत्युक्तो यकारः शक्तिरव्यया ।।

बिन्दुमालिनि कर्णस्य पर्यायं परमेश्वरम् ।
शक्रो व्योमानलार्णाय माया-बिन्द्वीश्वराय यः ।।

यथास्थिताश्च तत्त.....वाग्भवः स निराविलः ।
द्वावन्यौ कामशक्त्याख्यवर्णौ निष्कलकात्मकौ ।।'

इत्यादि द्रष्टव्यम्। इमे कादिहादिविद्ये ब्रह्माण्डोत्तरपुराणे ललितोपाख्याने 'सर्वमन्त्रा तन्त्र' इति श्रीहयग्रीवेणोक्ते। यथा—

'सर्वेभ्योऽपि पदार्थेभ्यः शाब्दं वस्तु महत्तरम् ।
सर्वेभ्योऽपि हि शब्देभ्यो वेदराशिर्महामुने! ।।

सर्वेभ्योऽहि वेदेभ्यो देवमन्त्रा महत्तराः ।
सर्वेभ्यो (वाथ) मन्त्रेभ्यो विष्णुमन्त्रा महत्तराः ।।

तेभ्योऽपि लक्ष्मीमन्त्रास्तु तेभ्यः सारस्वता वराः ।
तेभ्योऽपि गिरिजामन्त्रास्तेभ्यश्चाऽऽम्नायभेदजाः ।।

सर्वाम्नायमनुभ्योऽपि वाराहीमनवो वराः ।
तेभ्यः श्यामामनुवरा वरिष्ठा इल्वलान्तक! ।।

तेभ्योऽपि ललितामन्त्रा दशभेदविभेदिताः ।
तेषु द्वौ मनुराजौ तु वरिष्ठौ विन्ध्यमर्दन! ।।

लोपामुद्रा-कामराजाविति ख्यातिमुपागतौ ।
हादिस्तु लोपामुद्रा स्यात् कामराजस्तु कादिकः ।।

हंसादेव्यर्च्यतां यातः कामराजो महेश्वरः ।
स्मरादेव्यर्च्यतां याता देवी श्रीललिताम्बिका ।।

कादिहाद्योर्मन्त्रयोऽस्तु भेदो वर्णत्रयोद्भवः ।
तयोश्च कामराजोऽयं सिद्धिदो भक्तिशालिनाम् ।।

शिवेन शक्त्या कामेन क्षित्या चैव च मायया ।
हंसेन सगुणा चैव कामेन शशिमौलिना ।।

शक्रेण भुवनेशेन चन्द्रेण च मनोभुवा ।
क्षित्या हृल्लेखया चैव प्रोक्ता हंसादिमन्त्रराट् ।।

कामादिमन्त्रराजस्तु स्मरयोनिश्रियो मुने! ।
पञ्चत्रिकमहाविद्यां ललिताम्बाप्रवाचिकाम् ।
ये भजन्ति महाभागास्तेषां सर्वत्र सिद्धयः ।।' इति।

श्रीभगवत्पादैश्च हादिकादिविद्ये प्रकथिते। तथाहि—

'शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः ।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटितो
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि! नामावयवताम् ।।

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
र्निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः ।
भजन्ति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षवलयाः
शिवाग्नौ जुह्वन्तः सुरभिघृतधाराहुतिशतैः ।।' इति।

श्रीक्रोधभट्टारकोऽपि—

'इत्थं त्रीण्यपि मूल-वाग्भवमहाश्रीकामराजस्फुर-
च्छक्त्याख्यानि चतुःश्रुतिप्रकटितान्युत्कृष्टकूटानि ते ।
भूतर्तुश्रुतिसङ्ख्यवर्णविदितान्यारक्तकान्ते शिवे!
यो जानाति स एव सर्वजगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकृत् ।।'

कामकलाविलासे च—परमार्थभूतप्रकृतमहाबिन्दोरेव सकाशात् जगदुत्प-त्त्यादिकं प्रथमसृष्टपञ्चभूतनिष्ठं गुणवर्णनद्वारा अक्षरसङ्ख्याविशेषविशिष्ट-

महामन्त्रात्मकदेवतास्वरूपपञ्चदेवतास्वरूपपञ्चदेवतादिवद् विद्यायामपि विश्वात्मकत्वं तदुत्तीर्णत्वं च स्पष्टमुक्तम्। यथा वा—

'स्फुटितादरुणाद् बिन्दोर्नादब्रह्माङ्कुरो रवो व्यक्तः ।
तस्माद् गगनसमीरणदहनोदकभूमिवर्णसम्भूतिः ।।

अथाविशदादपि बिन्दोर्गगनानिलवह्निवारिभूमिजनिः ।
एतत्पञ्चकविकृतिर्जगदिदमण्वाद्यमजाण्डपर्यन्तम् ।।

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्चेति भूतसूक्ष्माणि ।
व्यापकमाद्यं व्याप्यं तूत्तरमेवं क्रमेण पञ्चदश ।।

पञ्चदशाक्षररूपा नित्या सैषा हि भौतिकाभिमता ।
नित्याः शब्दादिगुणप्रभेदाभिन्नास्तथाऽनया व्याप्ताः ।।

नित्यास्तिथ्याकारास्तिथयः शिवशक्तिसमरसाकाराः ।
दिवसनिशामय्यस्ताः श्रीवर्णास्तेऽपि तद्वयोरूपाः ।।

अज्-व्यञ्जन-बिन्दुत्रयसमष्टिभेदैर्विभाविताकारा ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा तत्वातीता च केवला विद्या ।।

विद्याऽपि तादृगात्मा सूक्ष्मा सा त्रिपुरसुन्दरी देवी ।
विद्यावेद्यात्मकयोरत्यन्ताभेदमामनन्त्यर्याः ।।'

अयमर्थः—स्फुटितादरुणाद् बिन्दो'रिति। स्फुटितात् उच्छूनात्। बिन्दोः पूर्वोक्तलक्षणात्। 'नादब्रह्माङ्कुरः'। नादस्सर्वशब्दोत्पत्तिहेतुर्वर्णः। स एव ब्रह्म। तद्ब्रह्माङ्कुरः उत्पादकं यस्य सः। तथा चोक्तम्—

'एको नादात्मको वर्णः सर्वनादविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनादृत इतीरितः ।।'

उपनिषच्च—'ध्याता रुद्रः प्राणं मनसि सह करणैः नादान्ते परमात्मनि प्रतिष्ठाप्य प्रध्यायीतेशानमि'ति। दीपकानन्दाश्चओमिति, बिन्दुरिति, नाद इति एवम्भूतनादब्रह्माङ्कुरो रवः शब्दः पश्यन्त्यादिरूपः व्यक्त आविर्भूतः। तस्माच्छब्दाद् गगन-समीरण-दहनोदकभूमीनां पञ्चभूतानां वर्णानाम् आदिक्षान्ताक्षराणां च सम्भूतिरुत्पत्तिराम्नाता। अयमर्थः—तस्माद् बिन्दुनादादेव सर्वप्रपञ्चनिष्पत्तिराम्नायते। तस्माच्छब्दात्मकं परं ब्रह्मेति। ननु आत्मन आकाशः, तत्सकाशात् जगदुत्पत्तिः श्रूयते। तत् कथं बिन्दुनादात्मक-शब्दब्रह्मण एवेति? उच्यते। सर्वत्र वेदान्तेषु बिन्दुनादात्मकविद्याक्षरादेव परा-पश्यन्त्यादिशब्दप्रपञ्च-

विभावदर्शनात्। 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।' 'यदक्षरं भूतकृतं विश्वे देवा उपासते।' 'तदक्षरं वेदयते, यस्तु सौम्य', 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोक्षर परमस्वराट्', 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्',

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।' इति।

उपनिषदन्तरेऽपि—'दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विभाति' 'कामराजबीजान्तर्गतककार-लकार-सहितं बिन्दुत्रयसमष्टिभूत-कामराजकला-क्षरस्य स्वरूपं विभातीति ज्योतिर्मयत्वात्। त्रिखण्डान्तेऽपि तत्परं ब्रह्म विभातीति परमप्रकृताक्षरब्रह्मणः ज्योतिर्मयत्वमुपदिश्य तत्स्वरूपं निगमयति। मिश्रबिन्दोः सर्वानन्दमयबिन्दोर्विश्रमादक्षरात्मकमेव ब्रह्मेति ब्रह्मोपनिषदा-दावाचष्टे। इममेवार्थमभिप्रेत्य लघुभट्टारका अपि 'यन्नित्ये तव कामराजमपरमि'त्यादिना निष्कलस्य कामकलाक्षरस्य सर्ववेदमूलत्वेन सर्वप्रकारेण सर्वपुरुषोपास्यत्वं मोक्षप्रदत्वं चाब्रुवन्। तद्व्याख्याकर्तृभिरपि कृष्णानन्दवर्यैः 'यदीम् शृणोत्यलकम् शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामि'त्यादि श्रुतिजालमुपन्यस्य श्रीकामकलाक्षरस्वरूपवैभव एव उपन्यस्तः। प्राञ्चो गुरवश्च—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दमक्षरसंहितम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।'

इत्यक्षरब्रह्मण एव सकाशात् जगदुत्पत्तिं ब्रुवन्ति। तथा शब्दानां जननीत्वमत्र भुवने 'वाग्वादिनी'त्युच्यत इति। एवं स्मृतिरपि—

'शब्दब्रह्ममयी स्वच्छा देवी त्रिपुरसुन्दरी' इति ।

'एवं शब्दस्य निष्पत्तिः शब्दव्याप्तं चराचरम्' इत्यादि ।

तथा च—'आत्मन आकाश' इत्यात्मशब्दस्याऽक्षरापरात्मपरत्व-मित्यात्मविदः। एवं शोणबिन्दोः सर्वात्मकत्वसर्वसृष्टित्वमुक्त्वा तदभेदाच्छुभ्र-बिन्दोरपि तत्स्वरूपमतिदिशति। अथ 'विशदादि'ति। विशदात् सर्वप्रकाश-बिन्दोः पूर्वोक्तात्। गगनादिपञ्चभूतात्मकाऽनन्तब्रह्माण्डाविर्भावतिरोभावौ भवत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।'

'यस्मिन् भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्च व्यक्ततां ययुः ।
पुनश्चाऽव्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ।।' इति।

एवं रक्तशुक्लबिन्दुमयप्रकाशविमर्शात्मकब्रह्मणा सर्वं सृज्यत इति सिद्धम्।

'स्वेच्छाविलसितानन्तजगद्रश्मिवितानवत् ।
नौमि संविन्महापीठं शिवशक्तिपदाश्रयम् ।।' इति।

शब्दस्पर्शाविति। शब्द आकाशगुणः, स्पर्शः वायुगुणः, रूपं तेजोगुणः, रसोऽम्बुगुणः, गन्धः पृथिवीगुणः, एते गुणा आकाशमारभ्य पृथिवीपर्यन्तमुत्तरोत्तरमैकैकगुणाधिक्येन पञ्चदश गुणाः सम्पद्यन्ते। एतेषां गुणानां पञ्चदशभावेन श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी जाता। तत्स्वरूपिणी चेयमाविर्भूतेत्याह- **'पञ्चदशाक्षररूपे'**ति। **'भौतिकाभिमता'** भूतसम्बद्ध-त्वेनाभिमता इष्टा। अत एव पञ्चदशाक्षररूपा। स्वस्मादाविर्भूतगुणानां पञ्चदशत्वम्। तद्रूपा तत्स्वरूपिणी। नित्या कूटस्था, तरङ्गबुद्बुदफेनाम्बुधिरिव सकलतत्त्वाविर्भावभूमिरित्यर्थः। तथा च बृहदारण्यके— **'इदं महद्भूत-मनन्तपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'** इति। मन्त्रोपनिषदि च 'यस्मिन् भावाः प्रलीयन्त' इति। शिवानन्दश्च—

'शिवादिक्षितिपर्यन्तं षट्त्रिंशत्तत्वसंश्रयाः ।
यस्योर्मिबुद्बुदाभासास्तं वन्दे चिन्महोदधिम् ।।' इति।

कूटस्थाया एव षोडश्याः पञ्चदशावयवात्मकपञ्चदशतिथ्यधिष्ठातृपञ्चदशदेवतामयपञ्चदशाक्षरीरूपतामाह—**'नित्यास्तिथ्याकारा'** इति। नित्याः कामेश्वरीप्रभृतिचित्रान्ताः, तिथ्याकाराः तिथ्यभिमानिन्यो देवताः। तिथयश्च प्रतिपदादिपूर्णिमान्ताः। शिवशक्तिसमरसाकाराः प्रकाशविमर्श-सम्पुटाकाराः। अत एव दिवसनिशात्मका दिवारात्रिरूपाः, प्रकाश-विमर्शयोर्दिवा-रात्रिमयत्वात्। तथा चोक्तं चिद्विलासे—

'सा निशा सकललोकमोहिनी वासरस्य खलु सर्वबोधकः।' इति।

तास्तिथयः श्रीवर्णाः। तेऽपि ते पूर्वोक्तरूपेण पञ्चदशरूपाः। श्रीवर्णाः श्रीविद्यान्तर्गतवर्णगणा अपि तत्तिथिरूपास्तादृशप्रकाशविमर्शशक्तिरूपा इत्यर्थः। अयमत्र विवेकः—इयमेव प्रकाशविमर्शमयी परा शक्तिः पञ्चभूतात्मिका उत्तरोत्तरगुणवृद्धिद्वारा पञ्चदशसङ्ख्याकमन्त्राक्षरतिथ्य-भिमानिनी देवतास्वरूपिणी भूते'ति। तथा च आगमाः—

'एकैकगुणवृद्ध्या तु तिथिसङ्ख्यात्वमागताः ।
विमर्शरूपिणी नित्या षोडशी या प्रकीर्तिता ।।

गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी ।
सुन्दर्यादिमहत्पूर्वा चित्रान्तं च समन्ततः ।।
आगमादेव बोद्धव्यमिति सङ्केतमात्रतः ।
प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णिमास्यान्तिकं प्रिये! ।।
एकैकां पूजयेद् यस्तु स सौभाग्यमवाप्नुयात् ।।' इति।

सुभगोदयवासनायामपि—

'खं वायुर्ज्योतिरब्भूमिशब्दादिगुणभेदतः ।
दशपञ्चतया व्याप्ता व्यापिकाः पूजयाम्यहम् ।।' इति।

अज्व्यञ्जनबिन्दुत्रयेति। अचः स्वराः। हलो व्यञ्जनानि। बिन्दुत्रयमनुस्वारत्रयम्। एषां समष्टिः समुदायभावः। भेदोऽवयवभावः। तैर्विभाविताकारा उद्भावितस्वरूपा। अत एव षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा शिवादि क्षित्यन्ततत्त्वविग्रहा। तेऽपि च पूर्वोक्तरूपेण पञ्चदशरूपाः। तत्वातीता च तत्त्वसङ्घातसमुदायस्थानत्वात् तदुत्तीर्णा च। अत एव केवला स्वव्यतिरिक्त-वस्त्वभावादेव एकाकिनी, एवम्भूता विद्या श्रीमत्पञ्चदशाक्षरीत्यर्थः।

अयमत्र विद्याया अवयवविभागः—तत्र वाग्भवखण्डे पञ्च स्वराः, सप्त व्यज्जनानि, संहत्य द्वादश वर्णाः। कामराजाख्ये द्वितीयखण्डे षट् स्वराः अष्ट व्यञ्जनानि सम्भूय चतुर्दश वर्णाः। शक्त्याख्ये तृतीयखण्डे चत्वारः स्वराः, षड् व्यञ्जनानि, संहत्य दश वर्णाः। सर्वेऽपि सम्भूय षट्त्रिंशदक्षराणि अवयवरूपाणि। समुदायरूपा विद्या सर्वतत्त्वातिक्रान्ता।

ननु तर्हि कादिविद्याया अपि उभयात्मकत्वाभावे तस्यामुपादेया बुद्धिर्न स्यात्, कुतः? देवतावैजात्यात्। तत् कथं हादेरेवोभयात्मकत्वं प्रतिपाद्यत इति। अत्रोच्यते—कादेरपि विद्याया उभयात्मकत्वमस्त्येव। इयानेवाऽनयोर्विद्ययोर्भेदः—हादौ प्रथमखण्डे पञ्च स्वराः, सप्त व्यञ्जनानि; कादौ प्रथमखण्डे पञ्च व्यञ्जनानि, सप्त स्वराः। आहत्य विद्याद्वयेऽपि प्रथमखण्डे द्वादशवर्णत्वं समानम्। तस्मादुभयात्मकत्वमुभयोर्विद्ययोरस्त्येव। तथा च छान्दोग्योपनिषदि—'यद्रूपं कं तदेव खं, यदेव खं तदेव क'मिति कादिहाद्योरत्यन्ताभेदेन उभयात्मकत्वं प्रतिपादितम्। तदुभयविद्य-योरुपासनाप्रकारस्तु गुरुमुखादेवाऽवगन्तव्यः। देवताद्या अपि मन्त्रवदुभयात्म-कत्वमुपदिश्य मन्त्रदेवतयोरैक्यमाह-विद्याऽपि तादृगात्मेति। विद्या चिदानन्द-स्वरूपिणी, तादृगात्मा विश्वात्मिका तदुत्तीर्णा च। सूक्ष्मा परिच्छेत्तुमशक्या। सा सर्ववेदान्तेषु प्रसिद्धा।

त्रिपुरसुन्दरी—त्रिपुरा च सुन्दरी च त्रिधावस्थितसमस्तवस्तुपूरणात् सर्वयोगिभिरुपास्यत्वेन स्पृहणीयत्वं च त्रिपुराशब्दनिर्वचनञ्च पूर्वमेव प्रपञ्चितम्। देवी स्वच्छन्दप्रकाशरूपविश्वसर्जनादिक्रीडारूपा परा विद्यावेद्यात्मकयोः पञ्चदशाक्षरा-त्रिपुरसुन्दर्योः अत्यन्ताभेदं सार्वकालिकैक्यमामनन्ति। प्रतिपादयन्ति आर्याः परमेश्वर-प्रमुखाः परमयोगिन इत्यर्थः। तथा च चिदम्बररहस्ये—

'अहं पञ्चाक्षरः साक्षात् त्वं च पञ्चदशाक्षरी।' इति।

चतुःशत्यां च—

'यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता ।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स सर्वोऽपि महेश्वरः ।।

व्याप्ता पञ्चदशार्णैषा विद्या भूतगुणात्मिका ।
पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः ।।

स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रबोधिनी ।
तत्त्वातीतस्वरूपा च विद्यैषा भाष्यते परा ।।' इति।

षट्त्रिंशत् तत्त्वानि—शिव-शक्ति-सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्या-माया-कला-विद्या-राग-काल-नियति-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाऽऽकाश-वाय्वग्नि-सलिल-भूमयः। तत्र शिवतत्त्वं नाम जगतः स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमशिवस्य प्रथमः स्पन्दः। एष वेच्छाशक्तितत्त्वम्, अप्रतिहतेच्छत्वात्। तदेवाङ्कुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्ताद्यास्वच्छाद्यास्थितं रूपमीश्वरतत्त्वम्। अहन्तेदन्तयोरैक्य-प्रतिपत्तिशुद्धविद्यास्वांशभूतेषु भावेषु भेदप्रथा माया। यदा तु परमेश्वरः पारमैश्वर्याद् मायाशक्त्या स्वरूपं ग्राहयित्वा सङ्कुचितार्थग्राहकतामश्नुते तदा पुरुषसंज्ञकः। अयमेव मायामोहितः कर्मबद्धः संसारी। जगदात्मना परिणतात् जगतश्चाभिन्नमपि आत्मानं भिन्नं जानतः पुरुषस्यास्य मोहः। परमेश्वरस्य न भवेत्, इन्द्रजालमिवैन्द्र-जालिकस्य योगिनः स्वेच्छासम्पादितभ्रमस्य भ्रान्तिः। चित्स्वरूपी मुक्तः परमशिव एव। अस्यैव सर्वकर्तृत्व-सर्वत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः सङ्कुचिता अपि सङ्कोचाग्रहणेन कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भवन्ति। कला नामास्य पुरुषस्य किञ्चित्कर्तृकहेतुः, अविद्या किञ्चिज्ज्ञत्वकारणम्, रागो विषयेषु अभिषङ्गः। कालो हि भावाऽभावानां भासना भावना भावनात्मिका। क्रमच्छेदभूता नियतिः ममेदं कर्त्तव्यं न ममेति नियमहेतुः। एतत्पञ्चदशकस्य स्वरूपावारक्षमत्वात् कञ्चुकमिति चोच्यते। अहङ्कारादिपृथिव्यन्तानामु-पादानकारणं प्रकृतिः। सैषा सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था। अहङ्कारो ममेदमित्यभिमानसाधनम्, बुद्धिः निश्चय-

साधनम्। सङ्कल्पविकल्पसाधनं मनः। एतत्त्रयमन्तःकरणम्। शब्दस्पर्शरूपर-सगन्धात्मविषयाणां क्रमेण ग्रहसाधनानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि। वचनादानगमनविसर्गानन्दरूपक्रियासाधनानि क्रमेण वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सामान्यात्मकाः पञ्च तन्मात्राणि आकाशमवकाशप्रदम्। वायुस्सन्ततं चालनम्। वह्निर्दाहकः पावकश्च। सलिलमाप्यायकं स्रावणं च। भूमिर्धारिका। एतानि पञ्च महाभूतानि। एते षट्त्रिंशत् तत्त्वरूपाः। तत्त्वातीता सा श्रीविद्येति सिद्धम्।

सुभगोदयमते तत्त्वातीता चन्द्रकलाविद्या, अकथात्मिका अकारादिस्वराः षोडश। कादितान्ताः षोडश। थादिसान्ताः षोडश। एवं षोडशधा विभज्यमानत्वात् चन्द्रकलात्वम्। चन्द्रकलासु तथा दृष्टत्वात्, 'अकथादित्रिपीठेशीमि'ति श्रुतेश्च। कामकला नाम अकारोकारमकारतया त्रिधा विभक्ता मातृका। कादिभान्ता-श्चतुर्विंशतिवर्णाः सूर्यकला। अकारादि—षोडशस्वराश्चद्रकला मकारादिक्ष-कारान्तादर्शकला अग्नेः। एवं त्रिखण्डा मातृकला 'कामकले'त्युच्यते। तथा चोक्तम्—

> 'षोडशेन्दोः कला भानोर्द्विद्वादश दशाऽनले ।
> सा पञ्चाशत् कला ज्ञेया मातृका चक्ररूपिणी'ति ।।

एताः पञ्चाशत् कलाः पञ्चाशत् वर्णात्मिका पञ्चदशाक्षरीमन्त्रेऽन्तर्भूताः। यथा आदिम-ककारेण अन्तिमो मकारः प्रत्याहृतस्तन्मध्यवर्तिनां वर्णानां ग्राहकः। अयमेव लकार एकारवर्णपूर्ववर्तिना ककारेण प्रत्याहृतः पञ्चाशद्वर्णग्राहकः। ननु अनेनैव प्रत्याहारग्रहणेन पञ्चाशद्वर्णात्मक-मातृकासङ्ग्रहणे किमर्थं ककारलकारयोः प्रत्याहारग्रहणप्रयासः? उच्यते, ककारादिलकारान्तानां कलाशब्दवाच्यत्वं गौणम्। व्यञ्जनानां स्वरान् प्रत्यङ्गत्वात्। कलानां स्वराणां प्रधानत्वमिति गुणप्रधानभावदर्शनार्थं प्रत्याहारद्वयाश्रयणं कृतं सनकादिभिरिति ध्येयम्। चत्वारोऽनुस्वारा बिन्दुलक्षकाः, तेन बिन्दुना तदुपरि प्रतीयमानो नादो गृहीतः। एवं नादबिन्दुकलात्मकं श्रीचक्रं त्रिखण्डमिति ध्येयम्।

सादाख्या कला श्रीविद्याऽपरपर्याया नादबिन्दुकलातीता। एताः षोडश नित्या स्वान्तर्भूताः। तथाहि—अकारादयः षोडश स्वराः। ककारादयस्तान्ताः षोडश। थकारादयः सान्ताः षोडश। एवं षोडशत्रिकं षोडशनित्यास्वन्तर्भूतम्। हकार आकाशबीजं बैन्दवाकाशे निलीनम्। ककार अन्तःस्थास्वन्तर्भूतोऽपि ककारेण प्रत्याहारार्थं पुनर्गृहीतः। क्षकारस्तु ककारसमुदायरूपत्वात्। ककारादयः

सकारान्ता द्विषोडशा स्वरसहिता नित्यास्वन्तर्भूताः। **अकारेण प्रत्याहृतः क्षकारः 'अक्षमाले'ति गीयते।** अतः क्षकारेण सर्वमातृका सङ्गृहीता भवति। अत एव अन्तिमखण्डे ककार-लकारयोर्योगे कला—शब्दनिष्पत्तिः। एवं मन्त्रेण सर्वमातृका गृहीता भवति। **अतश्च षोडशनित्यानां मन्त्रगतषोडशवर्णात्मकत्वं षोडशवर्णानां पञ्चाशद्वर्णात्मकत्वं पञ्चाशद्वर्णानां पञ्चाशत्कलात्मकत्वमिति सिद्धम्।** कलात्मिका मातृका, अक्षरमालात्मिका मातृका उभयमपि यथायोगं चक्रेऽन्तर्भूतम्। तथाहि-अन्तःस्थाश्चत्वारः, ऊष्माणश्चत्वारः। एवमष्टौ वर्णा अष्टकोणात्मकाः। कादयो मावसानाः वर्गपञ्चमान् विहाय दशारयुग्मेऽन्तर्भूताः। वर्गपञ्चमास्तु अनुस्वाररूपेण बिन्दावन्तर्भूताः। चतुर्दशारे चतुर्दश स्वराः अन्तर्भूताः। अनुस्वार-विसर्गयोर्बिन्दावन्तर्भाव इति चन्द्रयन्त्रयोरैक्यं सुभगोदयमतानुसारेण कथितम्। पूर्णोदयमतानुसारेण तु सोम-सूर्याऽनलात्मकतया चक्रस्य त्रिखण्डत्वम्। एवं मन्त्रव्यापि त्रिखण्डत्वं प्रसिद्धम्। ऐन्दव्यः कलाः षोडश इन्दुखण्डेऽन्तर्भूताः। स चायं खण्ड इन्द्वात्मकयन्त्रखण्डेऽन्तर्भूतः। एवं भानोश्चतुर्विंशतिकला भानुखण्डेऽन्तर्भूताः। स च खण्डो भान्वात्मक-यन्त्रखण्डान्तर्भूतः। एवमग्नेर्या दशकला आग्नेयखण्डे अन्तर्भूताः। स च खण्डः यन्त्रे आग्नेयखण्डे अन्तर्भवतीति **कला-यन्त्र-मन्त्राणामैक्यमनु-सन्धेयम्।** षोडशवर्णात्मकत्वं मूलविद्यायास्तदङ्गत्वं च नित्यानां प्रतिपादितम्। शुभागमपञ्चके तत्र वसिष्ठसंहितायामप्येवं निरूपितम्। तच्च प्रागेव प्रदर्शितम्।

''प्रतिपन्नाम विज्ञेया चन्द्रस्य प्रथमा कला ।
द्वितीयाद्या द्वितीयाद्याः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।।'इति।

अयमर्थः—चन्द्रस्य प्रथमा या कला सा प्रतिपत्तिथिनामधेया, सैव कलात्मिका (शुक्लपक्षे) सूर्यमण्डलान्निर्गता। कृष्णपक्षे सूर्यमण्डले प्रविष्टा। एवं शुक्लपक्षे सूर्यमण्डलान्निर्गता द्वितीया कला द्वितीया तिथिः। कृष्णपक्षे तु सूर्यमण्डलं प्रविष्टा कला द्वितीया तिथिः। एवं सर्वत्रोन्नेयम्। ततश्च पञ्चदशकला-व्यवधानं सूर्यचन्द्रयोर्यत्र सा पौर्णमासी, पञ्चदश्यां कलायां सूर्यचन्द्रयोः अत्यन्तसंयोगः यत्र सामावास्येति ज्ञेयम्।

अतः कौलमते कलानां चन्द्रकलात्मिकानां षोडशानां नित्यानां प्रतिदिनमेकस्या एवानुष्ठानम्। सर्वासां समयमते। षोडश्याः कलायास्तु पञ्चदशस्वपि तिथिष्वनुष्ठानं सिद्धम्। पञ्चदशानां नित्यानां तत्रैवान्तर्भावात्। अतः षोडशनित्यानां स्वरूपमुक्तम्। यथा—

''दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः। दर्शा नाम अमावास्यानन्तरभाविनी

प्रतिपत्कला। तस्यामीषद्दर्शनाद् दर्शा, आद्या यासां ताः। पूर्णिमा अन्तिमा यासां ताः। दर्शा, दृष्टा, 'दर्शसा, दृष्टरूपा, विश्वरूपा, सुदर्शना आप्यायना, अप्यायमाना, आप्या, सूनृतेरा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती पूर्णा, पौर्णमासी' इत्येतानि नामधेयानि श्रुतिचोदितानि सङ्गृहीतानि 'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ता' इत्यनेन। एतासां स्वरूपं पुरस्तान्निवेदयिष्यते। दर्शादीनां पञ्चदशानां कलानां यथाक्रमं 'त्रिपुरसुन्दरीप्रभृतयः पञ्चदश नित्या अधिदेवताः। षोडश्याश्चिद्रूपायाः कलायाः सादाख्यतत्त्वरूपत्वात् अधिदेवतान्तरं नास्ति। स्वयमेव सर्वस्याधिदेवतेति ध्येयम्। एतासामभिमानिनी देवता कामदेव एक एव। अधिष्ठानदेवता कामेश्वर्येकैव। अतश्च मूलविद्यागतपञ्चदशार्णानां दर्शादयः कला नित्याः कलाश्च, विग्रहान्तर-मित्यनुसन्धेयम्। अत एव दर्शादिकलानां त्रिखण्डत्वं सिद्धम्। 'दर्शा दृष्टा दर्शिता विश्वरूपा सुदर्शना' एष आग्नेयः खण्डः। 'आप्यायना आप्यायमाना आप्याया सूनृतेदा' एव सौरखण्डः। आपूर्यमाणा पूरयन्ती पूर्णा पौर्णमासी' एव चन्द्रखण्डः। तुरीयो गुरुमुखात् ज्ञेयः। एतासां कलानां नित्यात्वेन ऐक्यं सम्पाद्य प्रतिपदादौ उपास्यम् तत्प्रकारः पूर्वं प्रदर्शितः। 'दर्शा' कला शिवतत्वात्मिका। 'दृष्टा' कला शक्तितत्त्वात्मिका। 'दर्शज्ञा' कला मायातीतस्वरूपात्मिका। 'विश्वरूपा' कला शुद्ध-विद्यातत्त्वात्मिका। 'सुदर्शना' कला जलतत्त्वात्मिका। एवं पञ्चतत्त्वात्मकम् आग्नेयखण्डम् अग्निस्याधिदेवता। कामदेवस्तु सर्वत्राऽधिदेवता। कामेश्वरी सर्वत्राधिष्ठात्रीत्युक्तम्। आप्यायना कला तेजस्तत्वात्मिका। आप्यायमाना कला वायुतत्वात्मिका। आप्यायाकला मनस्तत्वात्मिका। सूनृता कला पृथ्वीतत्वात्मिका। इरा कला आकाशतत्वात्मिका आपूर्यमाणा कला विद्यातत्त्वात्मिका। एष सौरखण्डो द्वितीयः तत्र सूर्योऽधिदेवता। कामदेवस्तु सर्वत्राधिदेवता। कामेश्वरी सर्वत्राधिष्ठात्री-त्युक्तम्। आपूर्यमाणायाः कलायाश्चन्द्रखण्डान्तःस्थिताया अपि सौरखण्डेऽन्तर्भावः। इराकला-प्रभेदत्वात् इराऽऽपूर्यमाणयोरैक्यमिति अनुसन्धेयम्। आपूर्यमाणा कला माहेश्वरतत्त्वात्मिका। पूरयन्ती कला परातत्त्वत्मिका। पूर्णा कला आत्मतत्त्वात्मिका। पौर्णमासीकला सदाशिवतत्त्वात्मिका। एष सौम्य खण्डः। सोमोऽस्याधिदेवता। कामदेवः सर्वत्राधिदेवता, कामेश्वरी सर्वत्राधिष्ठात्रीत्युक्तम्। नित्यकला सादाख्यतत्त्वात्मिका।

एतास्तु विशुद्धिचक्रे षोडशारे प्रागादिक्रमेण षोडशदिक्षु परिभ्रमन्ति। तास्तु आज्ञाचक्रोपरिस्थितचन्द्रमण्डलस्य षोडश कला इति सुभगोदये यत् प्रपञ्चितं तत् पञ्चदशकलानामेव षोडशारे परिभ्रमणम्। षोडश्याः कलायाः सहस्रकमल एवावस्थानम्। तत्रावस्थिताया नित्यायाः कलायाः प्रभापटलं

षोडशारे स्फुरतीत्येवं परमित्यनुसन्धेयम्। एवं पञ्चदशनित्यासमुदायात्मकस्य मन्त्रस्य पञ्चदशतिथिष्वनुष्ठानं विहितम्। पृथङ्नित्यानुष्ठानं तु प्रतिदिनं पृथक् नियतम्।

एतच्चातिरहस्यम्। इममेवार्थं श्रुतिराह। तथा च तैत्तिरीयशाखायां काठके श्रूयते। 'इयं वा व सरघे'त्यनुवाकः। तत्र षोडशनित्यात्मकदिवसपरिज्ञाने फलं प्रतिपादितम्। ज्ञानमात्रफलप्रतिपादकत्वात् अनार-भ्याधीतम्। अश्वमेध-काण्डानन्तरं 'संज्ञानं विज्ञानमि'ति तिथिप्रतिपादक-वाक्यानां प्रकरणविच्छेद एव। तस्याऽनुवाकस्य ब्राह्मणम्—इयं वा व सरघे'ति। एवमुभयं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वाक्यमनारभ्याधीतम्। ज्ञानैकफलं वाक्यजातम्।

'इयं वा व सरघा'। अस्यार्थः—इयं चन्द्रकला सादाख्या, सरघा सरघावत् सरघा। मधुस्यन्दिनी अमृतस्यन्दिनीति। श्रीचक्रात्मकचक्रस्य सरघात्व-निरूपणम्। 'तस्या अग्निरेव सारघं मधु'। तस्याः सरघाया अग्निरेव अग्निस्थानमेव बैन्दवं त्रिकोणं सारघं सरघोद्भूतं मधु। तस्यैव सुधासिन्धुरूपत्वात्। सारघस्य मधुन उपचयापचयप्रकारमाह—**'या एता पूर्वपक्षाऽपरपक्षयो रात्रयः ता मधुकृतः।'** ता रात्रयो मधु कुर्वन्तीति मधुकृतः। रात्रिष्वेव मधुनः सङ्ग्रह इति लोकप्रसिद्धिः। रात्रावेव चन्द्रकलारूपायाः श्रीविद्याया अनुष्ठानम्, न च दिवस इत्युपदेशः। पूर्वपक्षरात्रयो दर्शादिपूर्णिमान्ताः पूर्वं निरूपिताः।

कृष्णपक्षरात्रिनामधेयानि—'सुता, सुन्वती, प्रसुता, सूयमाना अभिषूयमाणा, पीती, प्रपा, सम्पातृप्तिस्तर्पयन्ती, कान्ता, काम्या, कामजाताऽऽयुष्मती, कामदुघा एताः कृष्णपक्षरात्रयः। एतासां कृष्ण-पक्षरात्रीणाम् आधारचक्र एवाऽमावास्यात्मकतयावस्थानात्। समयिनां तत्र व्यवहाराभावात्, शुक्लपक्षरात्रिष्वेव चन्द्रकलासञ्चारात्, तत्रैव कुण्डलिनीप्रबोधात्, स्वरूपमात्रोद्देश एव कृतः। **शुक्लपक्षरात्रीणामेव कलात्वम्**। तत्स्वरूपं पूर्वमेव निरूपितम्। **अत एव कुण्डलिनीप्रबोधो रात्रावेव न दिवा**। दिवसानां मधुनः स्रावकत्वादित्याह—'यान्यदानि (यान्यदिनानि) ते मधुवृषाः'। मधुवर्षन्तीति मधुवृषाः। अत एव योगिनः दिवा कुण्डलिनीं न प्रबोधयन्ति। शुक्लकृष्णपक्षयोर्दिवसानां नामानि नोक्तानि। अप्रस्तुतत्वात्। तथापि वेदे फलश्रवणात् उद्देशमात्रेण कथ्यन्ते।

शुक्लपक्षदिवसनामानि—'संज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, जानदभिजानत्, सङ्कल्पमानं, प्रकल्पमानम्, उपकल्पमानम्, उपक्लृप्तं, क्लृप्तम्, श्रेयोऽवसयि आयत्सम्भूतं भूतमि'ति शुक्लपक्षदिननामानि। कृष्णपक्षदिननामानि तु 'प्रस्तुतं

विष्टुतं संस्तुतं कल्याणं विश्वरूपम्, शुक्रममृतं तेजस्वि तेजःसमिद्धम्, अरुणं भानुमत् मरीचिमत् अभितपत् तपस्वत्।' एतेषामुभयेषां शुक्लकृष्णपक्षाऽहोरात्राणां नामधेयानि यो वेद तस्य फलमाह—'स यो ह वा एता मधुकृतश्च मधुवृषां च वेदा, इत्यादिना अस्य वेत्तुः एताः अग्नौ बैन्दवस्थाने मधु सुधासिन्धुं कुर्वन्ति। अस्य इष्टापूर्ति न धयन्ती न रिक्तीकुर्वन्तीति'। व्यतिरेके अनिष्टमाह—"अथ यो न वेद न हास्यैता अग्नौ मधु कुर्वन्ति, धयन्त्यस्येष्टापूर्तम्। व्याख्यातप्रायमेतत्। अयमर्थः—चन्द्रकलानुष्ठानं नाम मातृकामन्त्रयोः ऐक्यम्, मन्त्रचक्रयोः ऐक्यम्, चक्रनित्ययोः ऐक्यम्, नित्याप्रतिपदादिकलयोः ऐक्यम् इति समयिमततत्त्वम्। एतदनुष्ठाने शुक्लपक्षकृष्णपक्षविवेकः दिवसरात्रिविवेकश्चोपयुज्यते। दर्शादिपूर्णिमान्तास्वेव कलासु चतुष्टयैक्यानुसन्धानम्, नाऽमावास्यायाम्। **कृष्णपक्षशब्द अमावास्यापर इत्युक्तं प्रागेव।** अतश्चामावास्यायामिव शुक्लपक्षदिवसेष्वपि नानुष्ठानमिति ध्येयम्। एवं **परिशेषवृत्त्या अमावास्यायामुपासनानिषेधः, न तु सर्वस्मिन् कृष्णपक्षे।** अतश्च रात्रिषु अमावास्याव्यतिरिक्तासु उपासना, न सर्वेषु दिवसेष्विति गुरुपरम्परातो ज्ञेयम्। 'यो ह वा अहोरात्राणां नामधेयानि वेद, नाहोरात्रेष्वार्तिमर्च्छति। संज्ञानं विज्ञानं दर्शा दृष्टे'ति। एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि। प्रस्तुतं विष्टुतं सुता सुन्वतीति। एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि।' नाहोरात्रेष्वार्तिमर्च्छति, य एवं वेदेति वाक्यजातं पूर्ववदेव व्याकृतम्। इतः परं यद् वक्ष्यमाणं मूहुर्ताऽर्धमासघटिकादीनां कालानां नामधेयजातमत्रैवान्तर्भूतमिति, एतद्व्याख्यानेनैव व्याख्यातमित्यनुसन्धेयम्।

अत एव संज्ञानानुवाक 'इयं वाव सरघे'त्यनुवाकश्च व्याकृत एवेत्यवगन्तव्यम्। यस्तु सावित्रप्रकाशके 'प्रजापतिर्देवानसृजते'त्यनुवाके 'स यदाहे'त्यारभ्य 'जनको ह वैदेह' इत्यन्तेन तिथ्यात्मकत्वं सवितुः प्रतिपादितम्, तत् तु **सादाख्यतत्त्वात्मिकायाश्चन्द्रकलाविद्याया श्रीविद्यापरनामधेयायाः पञ्चदशतिथ्यात्मिकायाः प्रसादसमासादितसामर्थ्यं सवितुः, नान्यथेति** प्रतिपादयितुं गौण्या वृत्त्याऽऽह श्रुतिः। अत एव 'एष एव तदि'ति गौणकृत्याश्रयणं प्रकटितम्। एतद्ग्रन्थकलापानन्तरं वाक्यं 'जनको ह वैदेहः अहोरात्रैः' इत्याम्नातम्। **जनकः उत्पादकः श्रीविद्याया ऋषिः।** विदेह एव वैदेहो मन्मथः अहोरात्रैरहोरात्रात्मकैः पञ्चदशाक्षरीमन्त्रवर्णैः दर्शादि-पूर्णिमान्तकलात्मकैः समाजगाम मन्त्रम् आहृतवानित्यर्थः। यस्तु मन्त्रमाहरति स ऋषिरित्युच्यते। अत एवाऽरुणोपनिषदि—

'पुत्रो निऋत्या वैदेहः।' निऋत्या लक्ष्म्याः पुत्रः, अथवा अनिऋत्याः लक्ष्म्याः पुत्रः वैदेहः मन्मथः। **'अचेता यश्चेतनः'**, अनङ्गत्वादेव चेतोरहितः, चेतनश्च सर्वभूतान्तर्यामित्वात्। **'स तं मणिमविन्दत्'** सोऽनङ्गः प्रसिद्धं मणिं विद्यारूपम् अविन्दत् लब्धवान् अपश्यदित्यर्थः। असौ अनङ्गोन्धोऽप्यपश्यत्। 'अन्धो मणिमविन्दति'ति वाक्यशेषो बलाल्लभ्यते। अत एव परचित्कलाया विद्यायाः त्रिपुरसुन्दर्याः मन्मथः ऋषिरभूत्। **'सोऽनङ्गुलिरावयत्।'** सोऽनङ्गत्वादेव अनङ्गुलिरावयत्। सोऽनङ्गत्वादेव अनङ्गुलिरावयत् असीव्यत्। सीवनानन्तर-कृत्यमाह—**'सोऽग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्।'** सोऽनङ्ग-त्वादेवाऽग्रीवः मणिसम्पादनफल-प्रत्यामोचनम् अकरोत्, तद्धृतवानित्यर्थः। विद्यारत्ने मणिस्वारोपस्य फलं धारणमेव भवतीत्याह- 'सोऽजिह्वोऽसश्चत।' सोऽनङ्गः, अनङ्गत्वादेवाजिह्वः, असश्चत अचूचुषत्, आस्वादितवानित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—अनङ्गः पूर्वं विद्यारत्नं पञ्चदश- वर्णात्मकं षोडशनित्यात्मकं षोडशकलात्मकं नानावेदेषु नानास्मृतिषु नानापुराणेषु विप्रकीर्णं दृष्टवान्। तदनन्तरं विप्रकीर्णमिमं मन्त्रं दृष्ट्वा सीवनं कृतवान्। पञ्चाशद् वर्णान् त्रिधा विभज्य, खण्डत्रयं कृत्वा, त्रिपुरसुन्दर्यादिषोडशनित्यास्तत्रान्तर्भाव्य, प्रतिपदादितिथीन् षोडश तत्रान्तर्भाव्य, पञ्चाशद्वर्णात्मकं त्रिखण्डं कृत्वा, तत्र सोमसूर्यानलात्मकतया ब्रह्मविष्णु-महेश्वरात्मकतया सत्त्वरजस्तमस्तत्त्वव्यवस्थिततया सृष्टिस्थितिप्रलय-हेतुभूततया निश्चित्य, श्रीविद्यात्मके चतुर्थे खण्डे पञ्चदशकलानामन्तर्भावं निश्चित्य, भुवनेश्वरीप्रभृतीनां योगिनीविद्यानां नवानां त्रिकस्य एकैकह्रीङ्कारेणा-ऽन्तर्भावमङ्गीकृत्य, सर्वावस्थात्मकं सर्ववेदात्मकं सर्वदेवात्मकं सर्वशब्दात्मकं सर्वशक्त्यात्मकं त्रिगुणात्मकं त्रिखण्डं त्रिगुणातीतं सादाख्यापरपर्यायं षड्विंशशिव-शक्तिसम्पुटात्मकं निश्चित्य, वर्णपञ्चदशकेन मूलविद्यमासेव्य, तदनन्तरं स्यूतं मन्त्रराजं ग्रीवायां धृतवान्। चिरकालध्यानयोगेन पूजितवान्। तदनन्तरं चन्द्रकलामृतास्वादनं कृतवान् इति स मन्मथः ऋषिरस्य मन्त्रस्येत्यर्थः। **'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्।'** एतमृषिं मन्मथं विदित्वा नगरं न प्रविशेत् नगरं श्रीचक्रात्मकं नगरं न पूजयेत्। बाह्यपूजां न कुर्यादिति निषेधविधिः। बाह्यपूजायामेव ऋषिच्छन्दःप्रभृतिज्ञानपूर्वकत्वम्। आन्तरपूजायां तादात्म्यानुसन्धानात्मिकायां ऋष्यादिज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूरत एव। **अतः वस्तुसिद्धर्ष्यादिपर्युदासेन श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकैर्न कर्तव्यमिति नियम्यते।** तेषामान्तरपूजाप्रकारः उत्तरत्र वक्ष्यते।। **'यदि प्रविशेत्।'** असंशये संशयोक्तिः। यदि वेदाः प्रमाणमितिवत्, प्रविशेदेवेत्यर्थः। 'मिथौ चरित्वा प्रविशेत्। 'चर' गतिप्रेक्षणयोः'। प्रविशेत्

आन्तरपूजां कुर्यादित्यर्थः। यद्वा- मिथौ मिथुनीभूतौ शिवौ उभयोर्मेलनमवगत्य प्रविशेदनुसन्दधीतेति। पूर्वव्याख्यानेऽपि ऐक्यानुसन्धाने सहायान्तरं न कर्तव्यम्। **एकान्त एव विद्या फलतीत्युपदेशः।** तत् कथम्? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन द्रढयति— **'तत् सम्भवस्य व्रतम्'।** सम्भवो मन्मथः। चित्तजातत्वात् तस्य व्रतस्य माहात्म्यम्, सहायान्तरं तिरस्कृत्य एकाकिनैव रहस्ये स्त्रीपुरुषसंयोजनरूपम्। अतो मन्मथोपदिष्टमन्त्रानुष्ठानकृतां तथैव तदनुष्ठानमिति गोप्येयं विधेति तात्पर्यम्। द्वितीयव्याख्याने मन्मथो मिथुनमवगत्य तस्मिन् मिथुने प्रविशति। एवं शिवशक्तिसम्पुटमवगत्य साधकेन प्रवेष्टव्यमिति श्रुतेरर्थः। अतश्च **'पुत्रो निर्ऋत्या वैदेहः' 'जनको ह वैदेह'** इति श्रुतिद्वयस्य वैदेहयोरुभयोः एकप्रत्यभिज्ञाविषयत्वात्। 'स यदाहे'त्यादिवाक्यकदम्बकं प्रतिपदादितिथिरूप-चन्द्रकलात्मिकायाः श्रीविद्यायाः प्रतिपादनद्वारा सवितुस्तत्प्रसादजन्यं माहात्म्यं नान्यथेत्येवंपरमिति सर्वमनवद्यम्।

इत्थं प्रकटितायामपि श्रीविद्यायाम् 'अभिगमाध्ययनमननुभावितं चार्थतः खरस्य चन्दनभारवत् केवलं भवती'ति निरुक्तकारादि-वचनेनार्थज्ञानहीनस्य निष्फलत्वश्रवणात् 'य एतेन दविष्ठा यजते य उ चैनदेवं वेदे'त्यनुष्ठानज्ञानयोः समफलत्वज्ञापनश्रुतिदर्शनाच्च सर्वथा मन्त्रार्थ-ज्ञानमवश्यंभावि।

मन्त्रो नाम अनुष्ठेयार्थप्रकाशकं मननसाधनम्। मननं च अनुभूतार्थविषयः स्मृतिः। अनुष्ठेयार्थश्च प्रकाशकं च तदुभयम् अनवगतार्थमन्त्रस्य पुरुषस्य न सम्भवति। एवं मन्त्रार्थेऽवगन्तव्ये मन्त्राक्षराणामिति गहनार्थत्वादव्याख्यातानि तानि चेत्, वाक्यार्थमन्यथा योजयन्ति इति मन्त्रे च व्याख्यानसापेक्षे सति **सकलविद्यानिधेः हयग्रीवरूपिणो भगवतो महाविष्णोः लब्धविद्येनापरिच्छिन्न-चिच्छक्ति-कलासमावेशतरङ्गितहृदयेनागस्त्यमुनिना विरचितः टीकार्थो निरूप्यते।** 'कन् दीप्तावि'त्यस्माद् धातोः कन्यन्ते प्रकाश्यन्ते अनेन शब्दार्थजालानी'ति वा, कनयतीति वा। कनतेः क्विप्। उणादयो बहुलमिति बहुलग्रहणात् उः। स्वरादित्वात् अव्ययत्वम्। नलोपः। 'इक् स्मरणे' इत्यस्मात् इङ् अध्ययने इत्यस्माद् वा औणादिको विच् प्रत्ययः। सार्वधातुकार्थधातुकयोरिति गुणः। 'वेरपृक्तस्ये'ति प्रत्ययस्य 'व'लोपः। 'निपात एकाजनाङ्' इति निपातत्वात् प्रकृतिभावः। 'ईयते स्मर्यते अधीयते वा सर्ववेदशास्त्रादिकला अनेनेति। क च तत् ए च क ए। पुनः पुनः प्रकाशमानबुद्धिरित्यर्थः। ई इयते व्याप्नोतीति ई। ईङ् व्याप्तावित्यस्मात् क्विपि निपातत्वात् प्रकृतिभावः। पुनः पुनः प्रकाशमानबुद्धिव्यापनमिति यावत्। लहरीत्यत्र परोक्षतया लह्रीत्युक्तम्। 'परोक्षप्रिया

इव हि देवा' इति श्रुतेः। **पुनः पुनः प्रकाशमानबुद्धिव्यापनलहरी।** 'क ए ई ल ह्रीँ'—मियत इति म माङ्माने शब्दे च (क्विप्), परोक्षश्रुत्या लुप्ताकारत्वेन वा गृह्यते। 'मितेरपीतेर्वे'ति श्रुतेः। 'क ए ई' लह्रीँ' तद्युक्ता परानपेक्षं यथा तथा स्वयमेवावबोधितानीत्यर्थः। 'क ए ई ल ह्रीँ'—अनेन धर्माख्यपुरुषार्थसाधन-ब्रह्मचर्यसमृद्धिनिर्मितिरुक्ता। तस्मादेव 'वाग्भव' मित्युच्यते। वाक्प्रवृत्तिजाल-निमित्तत्वात्। अनेन ब्राह्मणैरुपास्यमान-गायत्रीमन्त्रसार उक्तः। इष्टदेवताप्रशंसनात्म-कत्वेन वाग्जालप्रवर्तकत्वात् ऋग्वेदात्मकत्वम्। हन्यन्ते ऐहिकामुष्मिकतापत्रयाणि इति 'ह'। 'हन हिंसागत्योरि'त्यस्मात् क्विप्। अन्तलोप औणादिकः। अनेन धन-कनक-वाहन-भूम्यादिसम्पत्प्रचय इति। स अवसादनार्थात् सुनोतेः स्यतेर्वा 'अन्' प्रत्यये कृते बाहुल्येन लुप्तान्त्यवर्णत्वेन गृहीतः। अनेन सकलराज-परिच्छदजालमुक्तम्। काम्यन्ते स्रक्चन्दनवनितादिमदनविषयभोगा इति 'कमु कान्तौ' इत्यस्मात् पूर्ववत् प्रक्रिया। अनेन सकलैहिकामुष्मिकभोग उक्तः। ह च स च क च 'ह स काः'। 'हीयते' प्राप्यते इति 'ह'। 'ओहाङ्गता' वित्यस्माद् धातोः 'आतोऽनुपसर्गे कः'। हसकानां हः 'हसकहः'। उपद्रवनिवृत्त्यर्थं सञ्चयकामभोगावाप्तिरिति यावत्। तस्य 'लहरी' आधिक्यम्। 'ईयते' प्रकाश्यते अनेन दिगन्तेषु कीर्तिजालमिति 'ई दीप्ता'वित्यस्माद् क्विप्। बाहुल्यादन्त्यलोपः। 'हसकहलह्रीं च ई च' अनयोः सवर्णदीर्घः, ह स क ह ल ह्रयः, तासां निर्माणं 'ह स क ह ल ह्रीँ'। अनेन अर्थकामरूपपुरुषार्थनिर्मितिरुक्ता। तस्मादेव कामराजत्वम्। अनेन क्षत्रियवर्णोपास्यमानत्रिष्टुप्छन्दःसारत्वमुक्तम्। स्वकीयाभीष्टसाधककर्मजात-विधायकत्वाद् यजुर्वेदस्य अर्थकामयोः क्रियासाध्यत्वात् यजुर्वेदात्मकत्वम्। सकलकलाभिः अवयवैः शिवादितत्त्वैर्वा सहिता सकला, अथवा सकलम्। कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिः वा सहिता सकला। अथवा सम्यक् कलयतीति सकला। 'हृञ् हरणे' इत्यस्माद् धातोः 'हरति सर्वम् अन्तकाले' इति व्युत्पत्त्या च 'इ' प्रत्ययः। बाहुल्याद् गुणाभावेन यणादेशः। 'ह्रीः' संहर्तृ- शक्तिः, 'ईयते प्रकाश्यते सर्वजगदनया' इति सृष्टिशक्तिः। 'इदि परमैश्वर्ये' इत्यस्माद् धातोः क्विप् व्यञ्जनलोपश्च। सर्वेषां नियन्तृत्वेन वर्तत इति इः। ह्रीश्च ई च ईश्च, 'अकः सवर्णे' दीर्घः। समानरूपत्वादेकशेषः। ह्रीं संहृति-सृष्टि-स्थितिशक्तिः। अथवा विहरति सकलप्रपञ्चरूपेणेति ह्रीः। विहरणाद्धरतेरिन् प्रत्ययः। हरिरूपेण विहाररूपेण इन्दति परमानन्दयितृत्वेन वर्तत इति ह्रीः। अथवा ह इति क्विबन्तः लुप्तसकारः शब्दः। प्रपञ्चसंहृतिवाचक ई प्रकाशः आत्मैक्यगमनं यणादेशः। ह्री सकलप्रपञ्चदेहेन्द्रियादिकं द्रवीकृत्य अनिर्वचनीयप्रकाश-

रूपात्मैक्यगमकमित्यर्थः। अथवा—हृत्पुण्डरीकमध्यसुषिरान्तरदहराकाशे वर्तमानमहाप्रकाशान्तर्गतातिसूक्ष्मातिप्रकाशात्मस्थानोर्ध्वगतदीपशिखा। **'तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्'** इत्युपक्रम्य **'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः'** इति नारायणोपनिषदुक्तप्रकारेत्यर्थः। सकला च सा ह्रीश्च 'सकलह्री'। 'इषु इच्छायाम्' इत्यस्माद् धातोः इष्यते अत्यन्ताभीष्टत्वेन सर्वैः ईशविष्ण्वादिस्तम्भ-पर्यन्तचेतनवर्गैः काङ्क्ष्यत इति ई। 'इत्युषिभ्यां क्विप् व्यञ्जनलोपश्च। निरतिशयानन्दनैरन्तर्यम्। 'ई हिमवतो हिमपादेषूत्तरेष्वि'ति श्रुतेः। तस्य प्रमितिर्लुप्ताकारो मकारो गृह्यते। 'मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वम् अपीतिश्च भवती'ति श्रुतेः। म् इति नादानुकारी शब्दः अव्ययम्। प्रमितिर्नाम यथार्थानुभवः। अनेन परब्रह्मणश्चिंच्छक्तिरुच्यते। नादस्य शुद्धचैतन्यस्य स्थूलरूपत्वात् शुद्धचैतन्यात्मकचिच्छक्तिः उन्मनीनादादिभ्योऽतीतत्वात् अवाङ्मनसगोचरा मिनोति वा नादः सर्वात्मनि तादात्म्येन। ई निरतिशयसत्या-नन्दानुभवप्रकाशकनादात्मकचिच्छक्तिरित्यर्थः। तत्र खलु प्रपञ्चो मीयते सृज्यते च। एषा ऋगनुष्टुप् छन्दः, सकलह्रीरूपं 'ह्रीं सकल ह्रीं च तत् ईश्च ह्रीं। सकलं च तत् ह्रीं च सकलह्रीं। सकलहृदयाकाशवर्तिदीपशिखान्तर्गततत्त्वा-धिष्ठातृनिरतिशयसत्यानन्दानुभवप्रकाशनादात्मकचिच्छक्तिः। अनेन मोक्ष-साधननादलययोगानन्दानुभव उक्तः। तस्मादेव शक्तिखण्ड इत्युच्यते, चित्तवृत्तिनिरोधप्रधानत्वात्। वैश्यजात्युपास्यमानजगतीच्छन्दःसार उक्तः। सामवेदस्य गानप्रधानत्वेन नादविलीनचित्तत्वात्। अत्र नादलययोग्यस्य उपरि वर्णितत्वाच्च अस्य मन्त्रस्यैवमर्थः। 'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं' सम्यक् कलयतीति क एई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं इत्थं पञ्चदश्या अर्थः। उत्तरोत्तरप्रकाशबुद्धिव्यापनातिशयवाग्वृद्ध्यनिष्टनिवारणभोगभाग्यादिवृद्ध्यतिशय-कीर्तिजयजनकदहरान्तर्गतदीपशिखान्तर्गतसर्वतत्वाधिष्ठातृनिरतिशयानन्द-संविदनुभवप्रकाशकनादातीता चिच्छक्तिरिति। सामवेदस्य हकारस्तोत्राक्षरप्राचुर्येण निधनस्तोमप्रधानत्वेन च अस्य मन्त्रस्य सामवेदात्मकत्वम्। हकारप्राचुर्यात्।

'सामवेदो वै ब्राह्मणानां प्रसूतिरि'ति श्रुत्या ब्राह्मणानामेवावश्यक-त्वेनोपासितव्यत्वम्। पुराणागमादिष्वपि अङ्गीकृतत्वादितरवर्णानामपि उपास्य-त्वम्। अतश्चतुर्वर्णानामपि साधारण्यं नान्येषाम्। एतन्मन्त्रार्थमननशीलानां सर्वातिशयाभीष्टपरम्पराः सिद्ध्यन्ति। इदमेव तत्तवम्—'गन्धद्वारां', 'चित्रावसो', आवहन्ती'त्यादिभिः मन्त्रैः श्रुतयः संस्तुवन्ति। अतश्चतुर्णां वेदानामपि सारभूतं ब्रह्मक्षत्रवैश्यशूद्राणामेवोपास्यत्वम्। त्रिवेदमयत्वात् 'त्रीणि पदा निहिता गुहासु,

यस्तद् वेद सवितु:पितासदि'ति श्रुते:। तिसृषु स्थानेषु त्रयाणां क्रमाद् वेदक्रमेण मूलहृन्मूर्धगतत्वम्। वेदानां तत्तत्स्थानेषु बलवत्तरतया उच्चार्यमाणत्वात् मालिन्यान्तर्विद्यमानत्वात् उष्णिक्त्वम्। हृल्लेखाया विद्यमानत्वात् पङ्क्तित्वम्। अत एवोक्तम् अन्यखण्डस्य स्वतन्त्रतयोक्तत्वात् अतिच्छन्दस्त्वं त्रैकवर्णम्। 'मया सोऽन्नमत्ति, यो विपश्यति, यं प्राणिति, य ईं शृणोति' इत्युक्तम्। 'यदीं शृणोत्यलकं शृणोति, यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधा' इति कृत्स्नस्य मन्त्रस्य पञ्चदशवर्णात्मकत्वात् 'आपञ्चदशे'ति काण्डानुक्रमणी-वचनाच्च गायत्रीमयत्वम्। स्वतन्त्रतयोपास्यमानमालिनीवीजात्मकमन्त्रस्य बिन्दु-नादवर्णद्वयात्मकमन्त्रस्यात्र विद्यमानत्वाद् 'द्व्यक्षरं देव्युष्णिगि'तिवचनात् उष्णिक्छन्दोमयत्वम्। मनो: खण्डत्रयात्मकत्वादनुष्टुब्छन्दोमयत्वम्। अन्त्यस्य खण्डस्य प्राधान्येनोक्तत्वात् तस्याष्टवर्णात्मकत्वेनाऽतिच्छन्दोमयत्वम्। तत्रापि द्वितीयमायावीजरहिते सप्तवर्णात्मकमनोर्विद्यमानत्वात् जगतीच्छन्दोमयत्वम्। पञ्चवर्णात्मकस्य शक्तिबीजस्य विद्यमानत्वात् पङ्क्तिच्छन्दोमयत्वम्। महामाया-व्यतिरेकेण चतुर्वर्णात्मकत्वात् बृहतीमयत्वम्। एवं सर्वच्छन्दोमयीयं विद्या मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्रूपखण्डत्रयात्मिका। एतां विद्यामेव उत्तर-नारायणानुवाक: सकलप्रपञ्चसारात्मकब्रह्मतेजोऽभिवृद्धिमयत्वेन अभिष्टौति। अत एव शैव-वैष्णव-गाणपतसौरमन्त्रेष्वपि संयोज्योपास्यते। अत एव सकलपुरुषार्थावाप्तिपूर्वकात्मज्ञान-प्रकाशत्वेन जीवब्रह्मसमरसीभावमोक्षसाधनानीति।।९।।

श्रीभास्करारायप्रणीतभाष्यम्—

कामराजोपासितां विद्यामुपदिश्य लोपामुद्रोपासितां विद्यामुदेष्टुं नवमीमृचमाह—षष्ठमिति।

अस्या एव विद्याया मूलत्रिकं प्राथमिकमक्षरत्रयम् उन्मूल्येति शेष:। तत्स्थानेऽपि षष्ठादिवर्णत्रयमेव निवेशयन्तो जापका विद्याद्वयान्यतरेण संशुद्धसत्त्वोपाधिकं परशिवं तुष्टुवांसस्तुवन्तो जपन्त: अमृतत्वं भजन्ते विद्याजपेन मोक्षं भावयेदित्यर्थ:। ईशं विशिनष्टि—काममिति। 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेक्षत्यधिकरणे निर्णीतम्। कल्पकं जगत्कल्पनाधिष्ठानं जन्माद्यधिकरणोक्तम्। कविम् वेदप्रणेतारम्। कथ्यम् वेदवेद्यम्। शास्त्रयोन्यधिकरणे वर्णकद्वयेनोक्तं परं ब्रह्मैवेति तु विशेषणसमर्पितोऽर्थ:। 'अजरा पुराणी' इत्यादिभिर्ब्रह्मलिङ्गैरिह पुंलिङ्गैर्वक्ष्यमाणकामकलाध्यानगतस्त्रीलिङ्गैश्च परदेवता-यास्त्रिविधं ध्यानं विहितं भवति। तथा चोपबृंहितं कुलार्णवे—

'पुंरूपां वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपां वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ।। ' इति ।

यद्यपि परोपास्तौ निष्कलं जपेत् पुंरूपं बहिर्यागे स्त्रीरूपमध्येयमिति व्यवस्था सुवचा तथापि स्त्रीपुंसयोः समप्राधान्यस्य वक्ष्यमाणतया सम्प्रदायाच्चैच्छिक एव विकल्पः । मनुचन्द्राद्युपासितविद्यानामन्यासामपि त्रिपुरातापिन्यामुद्धारदर्शनेऽपि प्रकृते द्वयोरेवोद्धारस्तास्वनयोराधिक्य-ध्वननार्थः । अत एव ज्ञानार्णवे द्वादशधा विद्या उद्धृत्य **'विद्याद्वयमिदं भद्रे देवानामपि दुर्लभम्'** इत्यादिनोपबृंहितम् । अनयोरपि मध्ये कादिविद्याया एव प्रथममुद्धारादाधिक्यध्वनिः । अत एव **'श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तत्र कादिर्यथा परा'** इति ब्राह्मण्डपुराण उपबृंहितम् । **वस्तुतस्सर्वासां विद्यानाम-भेदात्तारतम्योक्तिः प्रशंसामात्रमिति समर्थितं सेतुबन्धेऽस्माभिः** । अत एव श्रीमदाचार्यभगवत्पादैर्वैपरीत्येनैनयोरुद्धारः प्रदर्शितः सौन्दर्यलहर्याम् । तत्रापि प्रकृतश्रुत्यानुगुण्याय शिवशक्तिकामपदानाञ्चान्यथा व्याख्यानं कतिपयानां क्लिष्टत्वान्निरर्थकत्वाच्च नादर्तव्यम् । अत्रान्तर्यागस्येव प्रकरणित्वेन तदीय-द्रव्यानुवादेन गुणान्तरसमुच्चयस्य द्वादश्यामृचि विधास्यमानत्वेन प्रकरणानुवृत्तेर्वक्तव्यतया तन्मध्यपतितस्य जपस्य प्रकरणादन्तर्यागाङ्गत्वात् । 'अमृतं भजन्ते' इत्यपापश्लोकश्रवणवदर्थवादः[1] । मन्त्रत्वेऽपि [2]विधित्वस्येवार्थ-वादत्वस्यापि स्वीकारे बाधकाभावात् । 'तिस्रः पुरः' इत्यादेस्त्वन्तर्याग-विधिशेषत्वेऽपि नार्थवादत्वम्, विधिशेषत्वस्यार्थवादव्याप्यत्वे मानाभावात् । अर्थवादत्वेऽपि वा भूतार्थवादत्वेन स्वार्थे प्रामाण्याच्च । न च द्वादश्यामृचि स्थूलोपास्तिर्भिन्नैव बहिर्यागरूपा विधीयत इति वाच्यम्, तथापि पञ्चदश्यामृचि मदधात्वर्थविवरणेनोपसंहारदर्शनात् प्रकरणानुवृत्तेर्दुर्वारत्वात् । वस्तुत उपास्तित्रयस्य समप्राधान्यमेव, विधित्रयेऽपि फलश्रवणेनान्यतमस्य प्रकरणिकल्पने विनिगमना-विरहात् । [3]आग्नेयादिषट्कस्येव मिलितानामेव च फलजनकत्वम् ।

---

१. पर्णमय्यधिकरण (४.३.१) न्यायेनेत्यर्थः। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति', इत्यत्रापापश्लोकश्रवणस्यार्थवादत्वं यथा साधितं तद्वदिति भावः।

२. 'कपिञ्जलानालभेत' इत्यस्य मन्त्रत्वेऽपि यथा विधित्वं स्वीकृतं तथेत्यर्थः।

३. दर्शपूर्णमासयोः प्रतिपर्व त्रयस्त्रयो यागाः प्रधानभूता विहिताः- आग्नेयः उपांशुयाजः, अग्नीषोमीयपुरोडाश इति पौर्णमास्याम्, आग्नेयः ऐन्द्रं दधि ऐन्द्रं पय इत्यमावास्यायाम्। एतेषां षण्णां मिलितानां 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यधिकारवाक्येन फलजनकत्वमुच्यते यथा, तथोपास्तित्रयस्य मिलितस्य फलजनकत्वमित्यर्थः।

'अन्तर्यागबहिर्यागौ गृहस्थस्सर्वदाचरेत् ।
चक्रराजार्चनं विद्याजपो नाम्नाञ्च कीर्तनम् ।।
भक्तस्य कृत्यमेतावदन्यदभ्युदयं विदुः ।।'

इत्यादिवचनात् । अधिकारिविशेषेण तु केवलान्तर्यागजपयोः फलजनकत्वन्तु वचनात् [१]असोमयाजिनोऽग्नीषोमीयपुरोडाशसाहित्याभावेऽपि फलसिद्धिवदित्यादिकं न्यायविद्भिरूह्यम् ।।९।।

भाषाव्याख्या

इस तरह पररूपोपासना का विधान करके सूक्ष्मरूप से उपासना का विधान आठवी ऋक् से किया गया। एवम् कामराज से उपासित विद्या का उपदेश हो जाने पर लोपामुद्रा से उपासित विद्या के उपदेश के लिए नवमी ऋक् को उपस्थापित करते हैं—**षष्ठं सप्तममथ।**

श्रीरामानन्दतीर्थ ने 'मूलत्रिकमादेशयन्तः' पाठ स्वीकार किया है तथा श्रीभास्करराय ने 'मूलत्रिकमावेशयन्तः' पाठ माना है। शाखाभेद से स्वीकृत दोनों पाठों का एक ही अर्थ है। पूर्वोक्त विद्या के आदि में ककार होने से उसे कादिविद्या कहते हैं। इस विद्या के आदि में हकार होने से यह हादिविद्या कही जाती है। कादिविद्या के छठें, सातवें और इन दोनों वर्णों के बाद वायुबीज (वह्निसारथि) को पूर्वोक्त कादिविद्या के मूल (आदि) में विद्यमान तीन वर्णों के स्थान पर रख देने पर लोपामुद्रा से उपासित हादिविद्या की निष्पत्ति हो जाती है। पूर्वोक्त विद्या का छठा वर्ण हकार और सातवाँ सकार है। अर्थात् अस्याः कादिविद्याया मूलत्रिकस्थानापन्ना हकारसकारककारा भवन्ति। इस प्रकार से योजना करके उपासक श्रुतिप्रतिपाद्य (कथ्य), कवि अर्थात् सर्वज्ञ वेदप्रणेता, जगत्कल्पना के अधिष्ठान (कल्पक), जगत्सिसृक्षा से सम्पन्न ईश्वर (काम) की स्तुति करते हुए विद्याजप से मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह मन्त्र की अक्षरार्थयोजना है। श्रीभास्करराय ने मन्त्र में आये 'ईश' शब्द का अर्थ संशुद्धसत्त्वोपाधिक परशिव किया है। **सम्यग्रूपेण शुद्धं सत्त्वमेवोपाधिर्यस्य स परशिवः।** ईश के ही काम, कल्पक, कवि और कथ्य विशेषण हैं। इनका प्रतिपादन वैयासकि ब्रह्मसूत्र के विभिन्न अधिकरणों में किया गया है। 'काम' का प्रतिपादन **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** सूत्र से उक्त ईक्षत्यधिकरण में है। **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्रोक्त जन्माद्यधिकरण में 'कल्पक' का

---

१. 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया स सोमेनेष्ट्वाग्नीषोमीयो भवति' इति वाक्येनाऽसोमयाजिनोऽग्नीषोमीयपुरोडाशेऽधिकारो नास्ति। अनुष्ठितसोमयागस्यैव यजमानस्याऽग्नीषोमीयपुरोडाशेऽधिकारः। तत्र योऽसोमयाजी तत्कर्तृरुदर्शपूर्णमासयोरग्नीषोमीयपुराडाशाभावेऽपि कर्मणः फलसाधनत्वं स्वीक्रियते यथा, तथान्तर्यागजपयोः फलसाधनत्वमित्यर्थः।

प्रतिपादन है। 'कवि' और 'कथ्य' का प्रतिपादन **'शास्त्रयोनित्वात्'** सूत्रोक्त शास्त्रयोन्यधिकरण में दो वर्णकों में श्रीभगवत्पाद ने किया है। विशेषणों से बोधित अर्थ परब्रह्म परमात्मा ही हैं, इस बात को ध्वनित करते हैं—**परं ब्रह्मैव तु विशेषणसमर्पितोऽर्थः।** मन्त्रलिङ्गों से प्राप्त परदेवता के त्रिविध ध्यान को कहते हैं—**'अजरा पुराणी' इत्यादिभिर्ब्रह्मलिङ्गैः।** इसी उपनिषद् में आये 'अजरा पुराणी' आदि पद 'ब्रह्म' अर्थ के बोधन के सामर्थ्य से युक्त हैं अतः इन्हें ब्रह्मलिङ्गक पद कहा गया है। इसी नवम मन्त्र में काम, कवि आदि पद भी 'ब्रह्म' अर्थ के ही वाचक हैं जिनका पुंल्लिङ्ग से निर्देश है। कामकला के ध्यान में आये आगे के पद भी स्त्रीलिङ्ग में पर ब्रह्म को ही इङ्गित करते हैं। इससे परदेवता का ध्यान तीन प्रकार से विहित है, ऐसा निश्चित हो रहा है।

इसी श्रौत ध्यानविधियों का कुलार्णवतन्त्र में इस तरह उपबृंहण (स्पष्टीकरण) है—

'पुंरूपां वा स्मरेद् देवीं स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम्॥'

तात्पर्य प्रकट करते हैं—**यद्यपि परोपास्तौ।** यद्यपि परदेवता की उपासना में निष्कल पुंरूप में जप हो तथा बहिर्याग में स्त्रीरूप में ध्यान हो, यह नियम (व्यवस्था) कहा जा सकता है तथापि स्त्री और पुरुष की प्रधानता समान होने के कारण तथा सम्प्रदाय के अनुसार भी तीनों प्रकार के ध्यानों का स्वेच्छापूर्वक विकल्प ही उचित है। भगवान् श्रीनारायण पुरुषरूप में होकर भी मोहिनी के अवतार में स्त्रीरूप में प्रकट हुए हैं। दुर्गासप्तशती में नारायण की शक्ति का भी ताद्रूप्य प्रतिपादित है। फलतः परदेवता का ध्यान पुरुष, स्त्री और निष्कल अर्थात् निर्विशेषचिदादिरूप में भी किया जा सकता है। 'कामकला' की व्याख्या में श्रीरामानन्दतीर्थ जी ने कला का अर्थ विमर्शशक्ति किया है जो अग्नीषोमरूपा और काम से अभिन्न है। **काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिर्महद्भिर्योगिभिर्यः स कामः परं ब्रह्म।** अर्थात् अपनी आत्मा के रूप में योगी जिनकी कामना करें वे भगवान् श्रीनारायण ही काम हैं। वे जब अपनी विमर्श-शक्ति को स्वयम् में विलीन कर लेते हैं तो उपनिषदों में 'सच्चिदानन्दस्वरूप' से प्रतिपाद्य निष्कल कहे जाते हैं। इस रूप की भी उपासना श्रुतियों में कही गयी है। कादि और हादि विद्याओं का ही आठवीं और नवमी ऋक् में उल्लेख है। मनु, चन्द्र आदि से उपासित अन्य विद्यायें (मन्त्र) भी हैं। उन्मनी श्रीविद्या, वरुणोपासिता, धर्मराजोपासिता, वह्न्युपासिता, नागराजोपासिता, वायूपासिता, बुधोपासिता, ईशानोपासिता, रत्युपासिता, नारायणोपासिता, ब्रह्मोपासिता, जीवोपासिता, कुबेरोपासिता, अगस्त्योपासिता आदि अनेक विद्याओं को धर्मसम्राट् श्रीस्वामीकरपात्रीजी ने श्रीविद्यारत्नाकर ग्रन्थ में सङ्कलित किया। विज्ञ जन वहीं से समझ लेंगे। इस उपनिषद् में कादि और हादि का ही जो प्रतिपादन है वह अन्य विद्याओं की अपेक्षा से इन दोनों विद्याओं की प्रधानता को प्रकट कर रहा है। कादि और हादि विद्याओं में भी यहाँ पर कादि विद्या का ही प्रथमतः उद्धार होने से उसकी प्रधानता प्रकट होती है, इस तथ्य को भी आचार्य प्रकट करते हैं—**अनयोरपि मध्ये।** इस तथ्य को ब्रह्माण्डपुराण से

भी स्थूणानिखननन्याय से दृढ़ करते हैं—**अतएव 'श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तत्र कादिर्यथा परा' इति ब्रह्माण्डपुराणे उपबृंहितम्।** देवादि उपासकों से आराधित होने से सारी विद्याओं में यत्किञ्चित् भेद का दर्शन होने पर भी उनमें तारतम्य का दर्शन अनुचित है, इस वस्तु को हृदय में रखकर न्यायलब्ध रहस्य प्रकट करते हैं—**वस्तुतः सर्वासाम्।** यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो सारी विद्याओं में अभेद है तथापि मन्त्रों में जो तारतम्य दिखायी देता है वह केवल प्रशंसा के लिए अर्थवाद मात्र है जिसका प्रयोजन साधकों के रुचिसंवर्धन के लिए है। आचार्य ने स्वयम् इसका समर्थन योगिनीहृदय की अपनी सेतुबन्धनामक व्याख्या में किया है। इस अर्थ को पुष्ट करने के लिए उपोद्वलक हेतु प्रस्तुत करते हैं—**अतएव।** इसीलिए आद्य शङ्कराचार्य श्रीभगवत्पाद ने कादि और हादि विद्याओं का उद्धार सौन्दर्यलहरी ग्रन्थ में विपरीत क्रम से किया है। पहले कादिविद्या का उद्धार न करके हादिविद्या का उद्धार किया है, यह अभिप्राय है। दोनों विद्याओं का उद्धार इन दो श्लोकों से किया गया है—

'शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविःशीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटितो
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि! नामावयवताम् ।।

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
र्निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः ।
भजन्ति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षवलयाः
शिवाग्नौ जुहवन्तः सुरभिघृतधाराहुतिशतैः ।।'

यहाँ शिव, शक्ति, काम और क्षिति पदों से ह स क ल तथा रवि, शीतकिरण (चन्द्र), स्मर, हंस और शक्र पदों से ह स क ह ल तथा परा, मार और हरि पदों से स क ल वर्णों का ग्रहण है। इनके अन्त में हृल्लेखा (मायाबीज) जोड़ देने पर हादिविद्या का उद्धार हो जाता है। ये सभी वर्ण भगवती के अवयव हैं। इससे उनका मन्त्रात्मक शरीर निष्पन्न होता है। उक्त विद्या के आदि में क ए ई (स्मर, योनि, लक्ष्मी) जोड़ देने से कादि विद्या की निष्पत्ति हो जाती है। भोगरसिक भगवती के इस रूप का भी सेवन करते हैं। सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधरा व्याख्या का निराकरण करते हैं— **तत्रापि प्रकृतश्रुत्यानुगुण्याय।** पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों की अनुकूलता को देखते हुए 'शिव, शक्ति और काम' पदों का कुछ लोग जो अन्यथा व्याख्यान करते हैं वह क्लिष्ट कल्पना और निरर्थक है, इसलिए अनादरणीय है। लक्ष्मीधरा टीका में शिव, शक्ति और काम पदों से ककार, एकार और ईकार को कहा गया है जो विपरीत है। भाषानुवादकर्ता ने भी इस पर ध्यान नहीं दिया है। दूसरे श्लोक में भी स्मर, योनि और लक्ष्मी पदों का कामराज, भुवनेश्वरी बीज और श्रीबीज के रूप में व्याख्यान विपरीत है।

मन्त्रात्मक देवता का जप प्राकरणिक याग का अङ्ग है, इस अर्थ को न्यायतः प्रस्तुत करते हैं—**अत्रान्तर्यागस्यैव प्रकरणित्वेन तदीयद्रव्यानुवादेन गुणान्तरसमुच्चयस्य द्वादश्यामृचि विधास्यमानत्वेन प्रकरणानुवृत्तेर्वक्तव्यतया तन्मध्यपतितस्य जपस्य प्रकरण्यन्तर्यागाङ्गत्वात् 'अमृतं भजन्त' इत्यपाप-श्लोकश्रवणवदर्थवादः।** प्रकरणमस्त्यस्य स प्रकरणी अन्तर्यागः। इस उपनिषद् में अन्तर्याग का ही प्रकरण है अतः वही प्रकरणी कहा जायेगा। एवञ्च, याग का जो फल है वही वास्तविक फल माना जायेगा। ऐसे स्थलों पर अङ्गों का फलकथन उनकी स्तुति के लिए अर्थवाद (रुचि पैदा करने के लिए प्रशंसापरक वाक्य) के रूप में मान्य होता है। यहाँ पर 'तुष्टुवांसः' पद से प्रतिपादित होने वाला जप प्रकरणी अन्तर्याग का ही अङ्ग है, अतः 'अमृतं भजन्ते' से किया जाने वाला फलकथन अर्थवाद मात्र है। कैसे? वैसे ही जैसे—**यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति**' में जुहू (हवनपात्र) के लिए विहित पर्णता (पलाश-काष्ठ) का अपापश्लोक = श्रवणरूप फल का कथन अर्थवाद माना गया है। पापश्लोकअपकीर्ति। पर्णता क्रत्वर्थ है, अतः क्रतूपकाररूप फल से अतिरिक्त उसका फल नहीं होगा, यह अभिप्राय है। जहाँ श्रुति से अङ्गों के फलसम्बन्ध का भी विधान है वहाँ उनका पृथक् फल भी माना जाता है। जैसे **'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्'** में पशु फल के लिए विहित जल के प्रणयन का साधन गोदोहन (दोहनी) प्रकरणी दर्शपूर्णमास याग से अतिरिक्त फल की कामना होने पर विहित है। जप प्रकरणी अन्तर्याग का ही अङ्ग है, इसे सिद्ध करने के लिए हेतु के रूप में अवान्तर प्रकरण को **'अत्रान्तर्यागस्यैव प्रकरणित्वेन'** अंश से कहा है। अन्तर्याग ही प्रकरणी है, अतः अन्तर्यागीय द्रव्य का अनुवाद करके बारहवीं ऋक् में अन्य गुणों (अङ्गों) के समुच्चय का विधान होने से प्रकरण का विच्छेद नहीं होगा, फलतः अन्तर्यागीय दोनों गुणों के मध्य में विहित जप प्रकरणी अन्तर्याग का ही अङ्ग होगा। अत एव जप का फलकथन अर्थवाद होगा। मन्त्र में अर्थवादत्व की असंभावना का निराकरण करते हैं—**मन्त्रत्वेऽपि विधित्वस्येवार्थवादत्वस्यापि स्वीकारे बाधकाभावात्।** 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' में जैसे मन्त्रत्व के होने पर भी विधित्व स्वीकार किया गया है वैसे ही यहाँ मन्त्र में भी अर्थवादत्व मान लेने में कोई बाधा नहीं है। प्रथम मन्त्र में अर्थवाद का लक्षण (विधिशेषत्व) होने पर भी उसके अभाव को कहते हैं—**'तिस्रःपुरः' इत्यादिः।** प्रथम मन्त्र अन्तर्यागविधि का शेष (भाग) है, फिर भी उसमें अर्थवादत्व स्वीकार नहीं किया जायेगा। क्यों? **विधिशेषत्वस्यार्थवादव्याप्यत्वे मानाभावात्।** जहाँ जहाँ विधिशेषत्व रहे वहाँ वहाँ अर्थवादत्व भी रहे, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वेदान्तमत को स्वीकार करके मन्त्र के स्वार्थ में प्रामाण्य को कहते हैं—**अर्थवादत्वेऽपि वा।** अर्थवादत्व मान लेने पर भी भूतार्थवाद होने से मुख्य अर्थ में प्रामाण्य माना जायेगा। बारहवीं ऋक् में बहिर्याग के विधान की आशङ्का करते हैं— **न च द्वादश्यामृचि। 'परिस्रुतं झषमाद्यं पलञ्च'**, इस बारहवें मन्त्र में अन्तर्याग से भिन्न बहिर्यागरूप स्थूल उपासना का विधान है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। मद्य, मत्स्य, मांस आदि द्रव्यों से याग का विधान भासित होने से उक्त

आशङ्का को बल मिलता है। आशङ्का को यथार्थ मानकर अन्तर्यागीय प्रकरण से सम्बन्ध की दुर्वारता को समाधानार्थ प्रस्तुत करते हैं—**तथापि पञ्चदश्यामृचि**। बारहवें मन्त्र में बहिर्याग की प्रतीति होने पर भी वहाँ अन्तर्याग के प्रकरण का अनुवर्तन मानना ही पड़ेगा, क्योंकि पन्द्रहवें मन्त्र में 'मद' धातु के अर्थ को प्रस्तुत करके उपसंहार किया गया है। उपक्रम और उपसंहार के ऐक्य के कारण इस उपनिषद् में अन्तर्याग के प्रकरण का अनुमान होता है, यह अभिप्राय है। स्वाभिमत प्रकट करते हैं—**वस्तुत उपास्तित्रयस्य समप्राधान्यमेव**। तीनों उपासनाओं की तुल्य प्रधानता ही यथार्थ पक्ष है। इसमें हेतु कहते हैं—**विधित्रयेऽपि**। तीनों उपासनाओं की विधियों में फल का सम्बन्ध विद्यमान है, अतः तीनों में से किसी एक को प्रकरणी (प्रधान) मानने में कोई दृढतम युक्ति नहीं है। सदृष्टान्त निगमन करते हैं—**आग्नेयादिषट्कस्येव मिलितानामेव च फलजनकत्वम्**। वेद में अमावास्या और पूर्णिमा दोनों पर्वों में क्रमशः आग्नेय, ऐन्द्रदधि, ऐन्द्रपय और आग्नेय, उपांशुयाज, अग्नीषोमीय पुरोडाश, इन छः यागों को विधान है। अमावास्या और पूर्णिमा काल का संयोग होने से पूर्व त्रिक को अमावास्या याग और उत्तर त्रिक को पौणमासी याग कहते हैं। तीन-तीन के समुदायों के अनुवादक ये दो अलग-अलग वाक्य हैं—**य एवं विद्वानमावास्यां यजते, य एवं विद्वान् पूर्णमासीं यजते**। तीन, तीन यागों के साहित्य का विधान **'अमावास्यायाममावास्यया यजेत, पौर्णमास्यां पौणमास्या यजेत'**, इन दो वाक्यों से है। 'अमावास्या' का पर्याय 'दर्श' शब्द है तथा पौर्णमासी का ही एक भाग 'पूर्णमास' शब्द है। 'नामैकदेशे नामग्रहणम्', इस न्याय से पौर्णमासी का पर्याय 'पूर्णमास' शब्द निश्चित होता है। तथा च, दर्श और पूर्णमास शब्दों से तीन-तीन यागों को लेकर छः यागों का स्वर्ग फल के साथ सम्बन्ध का विधान **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामों यजेत'**, यह वाक्य करता है। एवञ्च, छः यागों का ही स्वर्ग फल के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है और प्रयाजादि की अङ्गता सिद्ध होती है। 'दर्श और पूर्णमास' शब्द अमावास्या और पौर्णमासी के पर्याय हैं, इसका निर्देश वेद भी करता है। तथा हि— अन्वारम्भणीया के वाक्यशेष में इस तरह कहा गया है—

''दर्शो वा एतयोःपूर्वः पूर्णमास उत्तरोऽथ यत् पूर्णमासं पूर्वमारभते तदयथापूर्वं क्रियते। तस्मात् पूर्वं पूर्णमासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत् सरस्वते द्वादशकपालममावास्या वै सरस्वती पूर्णमासः सरस्वान्।''

उक्त इस दृष्टान्त से तीनों उपासनायें मिलकर ही फल को उत्पन्न करती हैं। जैसा कि वचन है—

'अन्तर्यागबहिर्यागौ गृहस्थः सर्वदा चरेत्।
चक्रराजार्चनं विद्याजपो नाम्नाञ्च कीर्तनम्।।
भक्तस्य कृत्यमेतावदन्यदभ्युदयं विदुः।।'

गृहस्थ अन्तर्याग और बहिर्याग दोनों का सदा अनुष्ठान करें। चक्रराज की पूजा,

श्रीविद्या का जप और नामों (सहस्र) का कीर्तन, ये तीन ही भक्तों के कार्य हैं। केवल अन्तर्याग का अनुष्ठान और केवल विद्याजप का अनुष्ठान फल का जनक होने से पुरुषार्थ (धर्म) के रूप में भी पृथक् वचनों के बल से स्वीकृत हैं, इस तथ्य को प्रकट करते हैं—**अधिकारिविशेषेण**। विशिष्ट अधिकारियों को लेकर उक्त व्यवस्था मान्य है। इसमें दृष्टान्त के रूप में मीमांसा का न्याय प्रस्तुत करते हैं—**असोमयाजिनः**।

अयम्भावः—

'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया स सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति', इस वाक्य से यह कहा गया है कि ब्राह्मण अग्नि देवता से सम्बन्ध समान जनन के कारण रखता है, अतः सोमयाग करने के बाद अग्नीषोम होता है। सोमयाग के विना उसका अग्नीषोमीयपुरोडाश याग में अधिकार नहीं है। सोमयाग करने के बाद ही यजमान अग्नीषोमीयपुरोडाशयाग कर सकता है। एवञ्च, असोमयाजी यजमान दर्शपूर्णमासयाग में अग्नीषोमीय-पुरोडाशयाग न करने पर भी जैसे फल प्राप्त करता है वैसे ही अन्तर्याग और जप का पृथक् अनुष्ठान करने पर भी वचनविशेष के कारण साधक को फल प्राप्त होता है॥९॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

पुरं महःत्रिमुखं विश्वमातुर्नवरेखास्वरमध्यं तदैष्ट।
बृहत्तिथीर्दशपञ्चादिनित्या सषोडशी पुरमुख्यं बिभर्ति ॥१०॥

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

षोडशनित्यानां स्वरूपं कथयति 'पुरं महरित्यादिना—

पुरं स्थानम्। तत् कीदृग्भूतम्? महदव्यक्ताहङ्कारात्मककामेश्वरी-वज्रेश्वरी भगमालिंन्यात्मकमित्यर्थः। अत एव त्रिमुखं त्रिकोणरूपम्। कस्याः पुर इत्यत आह—**'विश्वमातुरि'**ति। विश्वस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य मातुः जनयित्र्याः। **'नमस्ते भगवति! मातरस्मान् पाहि सर्वत'** इति श्रुतेः। तथा च हयग्रीवः—**'अथ सा जगतां माता ललिता परमेश्वरी'**ति। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तच्छब्दो यच्छब्दमपेक्षत इति न्यायेन यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। विश्वमातुर्महः त्रिमुखं यत्पुरं कर्त्री अवेः आदित्यस्य अव् रक्षण इति धातोः औणादिक इङ् प्रत्ययः। सूर्यो नो दिवस्पातु पूर्वी रक्षत्वंहसः' इत्यादि श्रुतिभ्यः। 'त्वमवोदधेवेतुर्वशाशोति साक्षादाम्नायाच्च अविः सूर्यः। तथा च निघण्टुः 'अवयः शैलमेषार्का आज्ञाऽऽह्वनाऽध्वराहवाः' इति। रवेरादित्यस्य द्वादशात्मन इति भावः। तस्य द्वादशात्मत्वम् 'अष्टौ वसवः, एकादशरुद्राः, द्वादशादित्याः' इति, 'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिमि'ति बहुषु स्थलेषु श्रूयते। केन पुनः तत्सङ्ख्या लक्ष्यन्ते?

द्वादशरेखा ऋजुरूपा इति भावः। ऐष्ट ऐच्छत, अलभतेत्यर्थः। 'विश्वमातुर्यन्महत्त्रिमुखं पुरम् अवेः रेखा ऐष्टे'ति पद-योजना। द्वादशरेखाप्राप्तं प्रयोजनमाह—स्वरमध्यमिति। स्वरसंख्याकं मध्यं यस्य तत् स्वरमध्यम्। त्रिकोणचक्रं द्वादशरेखासहितं चेत् षोडशत्रिकोणं भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'द्वादश प्रथमंचक्रमेकं द्वादशारं निहितं जराये'ति। पुनः कीदृशम्? बृहत् स्वांशैः श्रीचक्रगरं बृहयतीति बृहत्। बृहतीं बृंहयति। पुनः कीदृशः? सषोडशीकं षोडशी महात्रिपुरसुन्दरी, तया सहितम्। एवम्भूतं तत् पूर्वोक्तं पुरं मध्यं त्रिकोणं कर्तृ। तिथिरित्यर्थः। विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। 'कति ता' इत्यत आह—दश पञ्चदशेत्यर्थः। दर्शादिपूर्णिमान्ताः आदिनित्याः।

अथवा स्वरमध्यं बृहत् तत् त्रिकोणचक्रं तिथिः। दशपञ्चादिनित्या सषोडशीकं पुरमध्यं च बिभर्तीत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे पुरमध्यशब्देन षोडशत्रिकोणमध्यात्मत्रिकोणमुच्यते। नित्याषोडशिकार्णवे त्रिकोणचक्रे षोडशशक्तिकोणाधार इत्यर्थः।

तद्यथा—

'श्रीचक्रमध्यत्र्यस्त्रान्तस्तिर्यग्रेखात्रयं लिखेत् ।
आरभ्य कोणे रेखान्ते तृतीयस्यां तथा पुनः ।।

त्रिकोणस्य हि रेखान्तं तस्या एव तु पार्श्वयोः ।
तुरीयांशावशिष्टं तु व्यत्यासाद्धि लिखेत् स्वयम् ।।

रेखाद्वयं तदन्तौ तु प्रथमास्त्रयोस्तु योजयेत् ।
मध्यमायास्तु रेखायाः कोणयोर्युगलं पुनः ।
त्रिकोणस्याऽऽद्यरेखायां मध्यभागेन योजयेत् ।
एवं विलिखितं चक्रं भवेत् षोडशकोष्ठकम् ।।' इति।

ललितोपाख्याने च—

'अथ नाथान्तरालस्योपरिष्टाद्धिष्ण्यमुत्तमम् ।
हस्तविंशतिमुन्नम्रं चतुर्नल्वप्रविस्तरम् ।।

नित्यान्तरमिति प्रोक्तं नित्याः पञ्चदशाश्च वै ।
अथ कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी ।।

नित्यक्लिन्नापि च तथा भेरुण्डा वह्निवासिनी ।
महावज्रेश्वरी दूती त्वरिता कुलसुन्दरी ।।

नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ।
ज्वालामालिनिका चित्रेत्यन्ताः पञ्चदशोदिताः ।।

एता देवीस्वरूपाः स्युर्महाबलपराक्रमाः ।
प्रथमा मुख्यतिथितां गता व्याप्तजगत्त्रयाः ।।

कालरूपा वर्तमानाः कालग्रासविचक्षणाः ।
ब्रह्मादीनामशेषाणां चिरकालमुपेयुषाम् ।।

तत्तत्कालशतायुष्यरूपा देवाज्ञया स्थिताः ।
नित्योद्यता निरातङ्का श्रीदेव्यङ्गस्य रक्षकाः ।।

सेव्यन्ते (जगतर्मूर्द्धे)ललितां स्वैक्यरूपिणीम् ।
तासां भवनतां प्राप्ता दीप्ताः पञ्चदशस्वराः ।।

विसृष्टिबिन्दुचक्रे तु षोडश्या भवनं मतम् ।।' इति।

एतासां षोडशनित्यानां ध्यानं शारदातिलके कथितं लिख्यतेऽत्र। यथा—

'प्रत्यूषोन्मीलदर्कप्रसृमरसुषमाधौरणीयावकाशां
पाशं चापं च पौण्ड्रं प्रसवशरसृणीः पाणिपद्मैर्वहन्तीम् ।
कस्तूरीक्लृप्तवक्षोरुहकलशलुठत्तारहाराभिरामां
कामेशाङ्काधिरूढां कलयति ललितामत्यखण्डस्वरूपाम् ।।१।।

सिन्दूरापाटलाङ्गीं चिकुरभरलसत्तारकाधीशरेखां
पाणौ पाशं च बाणं सृणिमपि च वरं पानपात्रं वरान्नम् ।
हस्ताम्भोजैर्दधानामरुणनिवसनामङ्कुरन्मन्दहासां
वन्दे कामेश्वरीं तां निखिलसुरनुतां नित्यमेकादशार्णाम् ।।२।।

फुल्लद्बन्धूकपुष्पद्युतिभरकिरणां पूर्णचन्द्राऽऽभवक्त्रां
कह्लाराऽम्भोजपाशाऽङ्कुशकुसुमशरेष्वासकाण्डान् वहन्तीम् ।
पाटीरालिप्तगात्रीं प्रसृमरकरुणां पल्लवाभाधरौष्ठीं
पञ्चत्रिंशच्छतार्णां भवभयशमनीं भावयामस्तृतीयाम् ।।३।।

शम्पासच्छायकायां शरदुडुपमुखीं चम्पकामोदिकेशां
बिभ्राणां हस्तपद्मैरभयमपि सृणिं पानपात्रं च पाशम् ।
आताम्राम्भोजपीठामतनुकुचभरद्वन्द्वताम्यद्वलग्नां
नित्यामेकादशार्णां निगमशतनुतामाश्रयामश्चतुर्थीम् ।।४।।

सन्तप्तस्वर्णगौरीं सरसिजनयनां चन्द्ररेखावतंसां
खड्गं खेटं कृपाणं सृणिमपि विशिखं पाशमग्निं गदां च ।
बिभ्राणां हस्तपद्मैः पृथुलकुचभरां भालमध्यार्पिताक्षीं
भेरुण्डां दाता (?) तां नवार्णां सकलमपि विषं नाशयन्तीं प्रपद्ये ।।५।।

दीवी (?) मापिञ्जराङ्गीं दिनपतिरजनीनाथवैश्वानराक्षीं
रक्ताब्जं हेमश्रृङ्गं रुचकमपि शरं खण्डशीतांशुबिम्बम् ।
कह्लारं पुण्ड्रचापं करसरसिरुहैर्बिभ्रतीं चारुवेषां
षष्ठीं तामाश्रयामः सकलजनमनस्तापहन्त्रीं नवार्णाम् ।।६।।

आरक्ताभां त्रिनेत्रामसितकचभरां बिभ्रतीं हस्तपद्मैः
कोदण्डं मातुलुङ्गं कनकमयसृणिं रत्नपाशं चतुर्भिः ।
तादृग्दोर्मूलकूलङ्कषकुचशिखरां ताम्रपद्माधिरूढां
सर्वालङ्कारदीप्तां कलयति सततं सप्तमीं द्वादशार्णाम् ।।७।।

कल्पान्तक्रूरसूर्यप्रतिभटकिरणां कम्बुकण्ठीं सुनासां
खेटं पाशं कुठारं चषकमपि सृणिं पुण्डरीकं गदां च ।
खड्गं हस्तैर्दधानां कठिनकुचभरां कञ्जसञ्जातनेत्रां
सप्तार्णामष्टमीं तां सकलरिपुजनध्वंसिनीं भावयामि ।।८।।

गुञ्जादामाभिरामस्तनकलशभरां कुन्तलोद्भासिबर्हां
तापिच्छच्छायकान्तामरुणकिसलयश्रेणिजित्क्लृप्तकेशाम् ।
पाशाऽभीतिं वराब्जाङ्कुशमपि दधतीं पक्वबिम्बाधरौष्ठीं
वन्दे तां द्वादशार्णां वनतरुकुसुमैर्भूषितामादिभिल्लीम् ।।९।।

व्याख्यां मुद्राक्षमालां चषकलुठमणीं कुण्डिकां केसरस्त्रक्-
पाथोजातं सुरक्तोत्पलवरसुमहालेखिनीं श्रृङ्खलां च ।
हस्तैर्नित्यं वहन्तीं हरिणधरकलागुम्फितश्यामकेशाम्
आरक्तां त्र्यक्षरान्तां कलयति दशमीमब्जदायादवक्त्राम् ।।१०।।

पाशाक्षस्त्रक्त्रिशूलप्रसवशरवराऽभीतिखेटासिवल्लीं
पुस्तं चर्म कपालं सृणिमपि दधतीं पूषबिम्बारुणाङ्गीम् ।
षड्वक्त्रां चन्द्रखण्डस्फुरितकचभरां चारुमाणिक्यभूषां
नित्यं नित्यामुपासे निटिततटलसल्लोचनां त्र्यक्षरान्ताम् ।।११।।'

एवं चन्द्रकलां षोडशनित्यास्वरूपां षोडशनित्यास्वरूपस्वरभवनगतां प्रतिपाद्य प्रकाशानन्दसारां बिन्दुत्रयसमष्टिभूतविद्याक्षरस्वरूपिणीं कामकलामहात्रिपुरसुन्दरीं मातृकां ध्यायन् सर्वसम्मोहजनको भवतीति कथयति—

'पद्मस्थां पञ्चवक्त्रां फलकसृणिवराभीतिकोदण्डपाशां
शक्तिं शार्ङ्गं पतङ्गं वरमपि दधतीं शोणचेलावृताङ्गीम् ।

शाणोल्लीढेन्द्रनीलोत्पलदलकलिकाश्लाघनीयाङ्गशोभां
देवीं सप्तद्विपञ्चाक्षरपरिपठितां द्वादशीं शीलयामः ।।१२।।
शङ्खं चक्रं कृपाणं सृणिमपि विशिखं खेटकं मातुलुङ्गं
कह्लारं चापकाण्डं करतलकमलैर्हेमपाशं वहन्तीम् ।
पञ्चास्यां पाटलाङ्गीं प्रसृमरकरुणापूरपूर्णां त्रिनेत्रां
एकार्णां तां जयाख्यां हिमकरविकसच्चूलिकामाश्रयामः ।।१३।।

भूषानिक्षिप्तहेमद्युतिसमकिरणां मुग्धचन्द्रावतंसां
बिभ्राणां दक्षिणेनाऽरुणलिकुचफलं पाणिपङ्केरुहेण ।
हस्तेनाऽदक्षिणेन प्रणतजनकुलेष्वर्थजातं किरन्तीं
वन्दे तामेकवर्णां बलरिपुविनुतां मङ्गलां सर्वपूर्वाम् ।।१४।।

ज्वालामालाकरालानलकिरणनिभां चापखेटाऽसिबाणान्
पाशं शूलं च खड्गं परिघवरसृणीन् वह्न्यभीतिं दधानाम् ।
षट्कक्षां त्र्यष्टषष्ट्यर्णकमनुविदितां चन्द्रखण्डावतंसां
ज्वालामालिन्यभिख्यां भजत भगवतीं भक्तरक्षाधुरीणाम् ।।१५।।

प्रत्यग्रस्मेररूपप्रसवरुचिसमां पद्मपत्रायताक्षीं
बिम्बौष्ठीं पीनवक्षोरुहतटरुचिरां पीतकौशेयचेलाम् ।
बिभ्राणां हेमपाशाऽभयवरदसृणीन् बिन्दुनादस्वरूपां
चित्रां चित्ते भजामः शिथिलितविमलामक्षरद्वन्द्ववेद्याम् ।।१६।।

एता नित्याः समस्ताः सकलजनसमाकर्षणे शोणवर्णाः
कालिन्दीकालमेघाञ्जनगिरिकिरणोद्वेषणोच्चाटनेषु ।
विद्यावाप्तौ च मोक्षे विदलितकुमुदेन्दूत्पलच्छायकायाः
काश्मीरस्वर्णवर्णद्युतिकपिशरुचः स्तम्भने चिन्तनीयाः ।।१७।।

वेतालव्याधिदावानलसलिलमरुद्घोरकान्तारमध्य-
क्रूरापस्मारचौरप्रचुरविषधरस्फोटसम्पीडनेषु ।
क्रुद्धे भूपालवर्गे कुवलयनयनाकर्षणे दुर्निमित्ते
नित्यानां देवतानां नियतमहरहः कीर्तयेत् स्तोत्रमेतत् ।।१८।।' इति।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

अथ स्थूलोपास्तिविधित्सया मूलदेवताया अन्तस्थमुणत्वेन चिन्तिताया बहिश्चक्रे स्थापनाय स्थूलविशेषं निर्देष्टुं दशमीमृचमाह—त्रिविष्टपमिति।

रेखापदोत्तरं षोडशस्य विसर्गस्वरस्य प्रश्लेषः । नवरेखासु नवयोनिघटितासु

'अः' इति स्वरस्थानीयो मध्योऽस्य तत्। यद्वा नवसङ्ख्या रेखा यस्य तन्नवरेखं संहारचक्रं तस्य अः स्वरोपलक्षितं स्थानं मध्यं यस्य तत्। अ इत्यकार एव स्वरो यस्मिंस्तद् अःस्वरमिति वा विग्रहः। तादृशं त्रिमुखं त्रिकोणं मध्यत्रिकोणमिति यावत्। तद् विश्वमातुस्त्रिपुरसुन्दर्याः त्रिविष्टपं निवासस्थानं पूजास्थानमिति यावत्। स्वर्गस्य देवतावासभूतत्वेन वाचकपदेनात्र स्थाननिर्देशः। तदी के इति स्तोतुर्वाक्यम्। 'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते सडकारो ळ कारः' इति प्रतिशाख्यविधितो डकारस्य ळ कारः सञ्जातः। इयमेवोपनिषदाथर्वणिकैरपि पठ्यते। तत्पक्षे न दुःस्पृष्टादेश इति व्यवस्था। अःस्वरस्य मध्यमत्वोक्त्यैवेतरेषां पञ्चदशस्वराणां रेखात्रये बिन्दुमभितः 'समं स्याद्' इति न्यायेन पञ्च पञ्चधा विभज्यावस्थानं ध्वनितम्। तत् त्रिकोणं बृहद् विभावितं सद्दशपञ्चतिथीः दशपञ्चतिथिदेवताकाः नित्याः कामेश्वर्या-दिचित्रान्ता बिभर्ति दक्षिणोद्ध्वोत्तररेखासु पञ्च पञ्चनित्याः पूजनीया इति भावः। तदुपबृहितं ज्ञानार्णवे—

'विभाव्य च महत्यस्त्रमग्रदक्षोत्तरक्रमात्।
रेखासु विलिखेत् पश्चात् पञ्च पञ्च क्रमेण च॥
अकाराद्यानुकारान्तान् दक्षिणायां विचिन्तयेत्।
ततश्च पूर्वरेखायां दीर्घसर्गादिपञ्चकम्॥
विलिख्योत्तररेखायां शक्त्यादि विलिखेत्ततः।
अनुस्वारान्तं मध्ये च विसर्गे षोडशीं यजेत्॥' इति।

चन्द्रस्य कला वृद्धिक्षयशालिन्यः पञ्चदश, ता एव हि तिथयः 'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु' इत्यादिना तन्त्रे निर्दिष्टाः। 'दर्शे दृष्टा दर्शता' (तै.ब्रा. ३.१०.१) इत्यादिना तैत्तिरीयैराम्नाताश्च। एतासां कारणभूता वृद्धिक्षयशून्या सदाख्या षोडशी कला। सा च पञ्चदशानां नित्यानां कादाणत्वारदिनित्योच्यते। सा पूर्ववर्णिता त्रिपुरसुन्दरी आदित्यरूपा सती पुरस्य श्रीचक्रस्य मध्यं विसर्गस्वरस्थानं बिभर्ति अध्यास्ते प्रकाशविमर्शरूपाकारहकारव्यञ्जकत्बात् षोडशस्वरस्य तदात्मकताया युक्तत्वादिति द्रष्टव्यम्॥१०॥

भाषाव्याख्या

स्थूलोपासना का विधान करने के लिए अन्तस्थ गुण के रूप में ध्यात होने वाली मूलदेवता की बहिश्चक्र में स्थापना करने के लिए स्थूलविशेष को निर्दिष्ट करने के लिए.

दसवीं ऋक् को प्रस्तुत करते हैं—**त्रिविष्टपं त्रिमुखम्।** विश्वमाता अर्थात् जगज्जननी पराम्बा का मध्यत्रिकोणरूप जो निवासस्थान अर्थात् पूजा का स्थान है वह विसर्ग स्वर (अः) मध्य वाली नौ रेखाओं में घटित (निर्मित) है। इसकी मैं स्तुति करता हूँ, यह स्तावक का वाक्य है।

वह त्रिमुख अर्थात् त्रिकोण अपने अंशों से श्रीचक्रनगर का बृंहण करने से बृहत् है। वह विशेषतः भावित होकर पन्द्रह तिथिदेवताओं को धारण करता है। अभिप्राय प्रकट करते हैं—**दक्षिणोर्ध्वोत्तररेखासु पञ्च पञ्च नित्याःपूजनीया इति भावः।** त्रिकोण के दक्षिण, ऊर्ध्व और उत्तर रेखाओं में पाँच-पाँच नित्या देवियों का पूजन करना चाहिये। इसका उपबृंहण ज्ञानार्णव में किया गया हैं—'अग्र, दक्षिण और उत्तर के क्रम से त्रिकोण की भावना करके रेखाओं में क्रमशः पाँच-पाँच वर्णों का विन्यास करना चाहिये। अकार से उकार तक पाँच वर्णों का दक्षिण रेखा में चिन्तन करना चाहिये। इसी तरह पूर्वरेखा में दीर्घ ऊकार से लेकर दीर्घ ॡकार का और उत्तर रेखा में ए, ऐ, ओ, औ और अनुस्वार का तथा मध्य में विद्यमान विसर्ग में षोडशी का यजन करना चाहिये।''

मन्त्र में विद्यमान 'रेखा' पद के बाद सोलहवें विसर्ग स्वर का प्रश्लेष करने पर **'नवरेखाःस्वरमध्यम्'** पद त्रिकोण का विशेषण हो जाता है। इसका विग्रह तीन प्रकार से आचार्य ने किया है—**नवरेखासु नवयोनिघटितासु 'अः' इति स्वरस्थानीयो मध्यो यस्य तत्।** अर्थात् नौ योनियों में रचित नौ रेखाओं में 'अः', यह विसर्ग स्वर के स्थान में विद्यमान जिस त्रिकोण का मध्य हो वह 'नवरेखाःस्वरमध्य' त्रिकोण है। **'नवसंख्या रेखा यस्य तन्नवरेखं संहारचक्रं तस्य अःस्वरोपलक्षितं स्थानं मध्यं यस्य तत्'**, यह दूसरा विग्रह है। अर्थात् नौ रेखाओं वाले संहारचक्र का मध्य 'अः' स्वर से उपलक्षित हो जिसका वह। **'अः इत्याकार एव स्वरो यस्मिंस्तत्'**, यह तीसरा विग्रह है। 'अः' आकार वाला स्वर जिसमें हो वह 'अःस्वर' कहा जायेगा। इस 'अः' स्वर को मध्यम के रूप में कहा गया है, अतः शेष 'अ' से लेकर अनुस्वारपर्यन्त पन्द्रह स्वरों का तीन रेखाओं में बिन्दु के चारों ओर पाँच-पाँच के रूप में विभाग करके उनकी स्थिति ध्वनित होती है। इसको पूर्व ही ज्ञानार्णवीय श्लोक के तात्पर्य में प्रस्तुत कर दिया गया है।

सप्रमाण वाक्यार्थ प्रस्तुत करते हैं—**चन्द्रस्य कला वृद्धिक्षयशालिन्यः पञ्चदश, ता एव तिथयः 'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु' इत्यादिना तन्त्रे निर्दिष्टाः।** वृद्धि और क्षय से युक्त पन्द्रह चन्द्रकलाओं का पन्द्रह तिथियों के रूप में तन्त्र में निर्देश है। तैत्तिरीयशाखा में भी 'दर्शे दृष्टा दर्शता' के रूप में इनका उपदेश है। इन तिथियों की कारणभूत सोलहवीं कला का नाम 'साद' है जिसमें वृद्धि और क्षय का अभाव है। यह षोडशी कला पन्द्रह नित्याओं का कारण है, अतः इसे 'आदिनित्या' कहा जाता है। वह पूर्वोक्त त्रिपुरसुन्दरी आदित्यस्वरूपिणी होकर श्रीचक्र के मध्य में विसर्गस्वरीय स्थान में रहती है। इसके औचित्य को प्रकट करते हैं—**प्रकाशविमर्शरूप।** प्रकाश अर्थात् परमशिव के विमर्शरूप 'हकार' का व्यञ्जक होने के कारण सोलहवाँ स्वर (विसर्ग) देवी का स्वरूप है।।१०।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

द्वा मण्डला द्वा स्तना बिम्बमेकं मुखं चाऽथ त्रीणि गुहा सदनानि ।
कामीं कलां काम्यरूपां चिकित्वा नरो जायते कामरूपश्च काम्यः ।।११।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

द्वा मण्डला द्वौ मण्डलौ, ईकारोभयपार्श्वस्थितौ शशिहुताशनरूपौ मण्डलरूपौ बिन्दू इत्यर्थः। तौ द्वा स्तना बिम्बा द्वे स्तनबिम्बे, व्यत्ययो बहुलमित्यादिना साधुः। एकम् ईकारोद्ध्र्वगतं सूर्यात्मकं बिन्दुमित्यर्थः। तन्मुखं वक्त्रम्। 'च' शब्दश्चिकित्वेति पदं समुच्चिनोति। अथ तदनन्तरम्। त्रीणि एवमुक्तानि सोमसूर्याग्निस्वरूपाणि मण्डलानि गुहा सदनानि...... पश्चात् कामी कामः शिवः, तस्य स्त्री कामीति, 'पुंयोगादाख्यायामि'ति ङीष्। तां कलां वर्णमयीं कामकलाऽक्षरशक्तिकामिति यावत्। काम इव ककाराकारमकारादिवर्णरूपाम्, कादिहान्ताश्चतुर्विंशतिवर्णाः सूर्यकलाः, अकारादिविसर्जनीयान्ताश्चन्द्रकलाः षोडशवर्णाः, मकारादिलकारान्ताः दशवर्णा अग्निकला, एवं रविचन्द्रवह्नि-रूपामित्यर्थः। तथा चोक्तम्—

'षोडशेन्दोः कला भानोर्द्विर्द्वादश दशानले ।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृका चक्ररूपिणी ।।' इति।

एवं कामरूपां चिकित्वा ज्ञात्वा, नरः मनुष्य उपासकः। जायते भाति। कथमित्यत आह-कामरूप इति, कन्दर्पसदृशाऽऽकार इति यावत्। अत एव काम्यः वनिताभिः स्पृहणीयश्च भवतीत्यर्थः। उपासको नरः ईकारोर्ध्वगतमेकं बिन्दुं श्रीदेव्या मुखं ज्ञात्वा, ईकारोभयपार्श्वस्थितबिन्दुद्वयं स्तनद्वयं विभाव्य, पश्चात् त्रिबिन्द्वात्मकं रेफं त्रिकोणकारं योनिं ज्ञात्वा, तत्र वक्त्र-कुचद्वययोनिषु प्रधानाङ्गेषु कामकलाबीजं सञ्चिन्त्य, देवीरूपतया आत्मनस्तादात्म्यं सम्पादयेत्। एवं कृतं चेत् सर्वासां नारीणां संक्षोभको भवतीत्यर्थः। यथोक्तं चतुःशत्याम् (२ वि. २०१-२०२)।

'बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रं तु तदधस्तात् कुचद्वयम् ।
तदधस्ताद्धकारार्धं चिन्तयेत् तदधोमुखम् ।।

तत्र कामकलारूपामरुणां चिन्तयेदिह ।
ततस्तेनैव रूपेण निजरूपं विचिन्तयेत् ।।' इति।

एवं मादनप्रयोगा अनेके सनत्कुमारसंहितायां सप्तशत्यामुक्ताः, ते तत एवावगन्तव्याः।

अत्रेदमतिरहस्यम्—'**यत्परः स महेश्वर**' इति श्रुत्युक्तरीत्या.......... निखिलवेदादिशब्दोत्पादकानुत्तराक्षराभिधेयः परमेश्वरः स्वात्मभूताऽखिलप्रपञ्चनिलयात्मकविमर्शशक्तिमनुप्रविश्य बिन्दुभावमयते। ततः सा विमर्शशक्तिरपि स्वान्तर्गतप्रकाशमयबिन्दुमनुप्रविशति। ततश्च बिन्दुरुच्छूनो भवति। तस्माद् बिन्दोर्नादात्मिका समस्ततत्त्वगर्भिणी तेजोमयी नीवाराग्रवत्सूक्ष्मरूपिणी निर्गत्य शृङ्गाररूपतामुद्वहति। एवं च **बिन्दुनादस्वरूपयोस्तयोः प्रकाशविमर्शयोः अहमिति शरीरं भवति। एवं बिन्दुनादस्वरूपयोस्तयोर्मध्ये एकः विमर्शः रक्तबिन्दुरूपं भजते, अपरः प्रकाशः शुक्लबिन्दुभावमेति। उभयोर्मेलने मिश्रबिन्दुरूपं सर्वतेजोमयं परमात्मस्वरूपं भवति।** तथा च रहस्याम्नायेऽयमर्थः सम्यङ् निरणायि—

'प्रसीद भगवन् शम्भो! ममात्मोपासनं प्रति ।
यो यो भवति सन्देहस्तं भवान् वक्तुमर्हति ।।

आत्मानुसन्धयाऽऽत्मानं परमात्मीकृतरूपिणः ।
भगवन्! यः परानन्दः स कथं स्याद् वद प्रभो ।।'

'इति पृष्ठवर्तीं देवीं प्रत्याह परमेश्वरः ।
सकलाधारभूतो यः समस्तस्योपरि स्थितः ।।

तस्मिन्नात्मनि सन्धाय स्वात्मानं परमं व्रजेत् ।
आवयोर्जगदात्मत्वात् तादात्म्यादावयोरपि ।
आवयोरपि तादात्म्यं कथं योगोऽपि सम्भवेत् ।।

आत्मोपासनमानन्दं सर्वेषां विद्धि जानताम् ।
तादात्म्यादावयोर्नित्यं जगत्प्राणावुभौ हि नौ ।।

ज्ञात्वैतान् सकलान् सम्यग् जानीयात् संविदं पराम् ।।'

इत्यादिप्रश्नपञ्चकोत्तरमाह शिवः—

''शिवकामात् परं तत्त्वं वर्ण्यतामिति चेच्छृणु ।
स चोदयः प्रिये! वक्तुं नालं वाग्विषयाऽतिगात् ।।''

इत्यादिना बिन्दुत्रयस्वरूपनिरूपणं कृतम्। तत् त्विदं प्रसङ्गादुक्तम्। अन्यत् सर्वं तत एवाऽवगन्तव्यम्। श्रुतिरपि—'**य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति**' इति। एतदेव बिन्दुत्रयस्वरूपं विवृणोति।

'बिन्दुरहङ्कारात्मे'ति। बिन्दुरुक्तस्वरूपः। अकारहकारौ आत्मा स्वरूपं यस्य। 'सवर्णात् कार' इति सूत्रेण 'हं' शब्दात् 'कार' प्रत्ययः। 'ह्रीङ्कार' इतिवत्। अत एव एतन्मिथुनसमरसाऽऽकार एतयोः अकारहकाराख्ययोः प्रकाशविमर्शयोर्मिथुनं द्वन्द्वम्। तस्य दिव्यदम्पतिरूपस्य मिथुनस्य समरसः परस्परानुप्रविश्यमान-मायानुकूल्यम्, तदेवाकारः स्वरूपं यस्य सः। एवंभूतो रविः। सितशोणबिन्दु-समरसीभूतो मिश्रबिन्दुरित्यर्थः। लोकेऽपि सूर्यस्य मिश्ररूपत्त्वम्, अग्नीषोमयोः प्रवेशनिर्गमश्रवणादेवं वर्णयति। यथा वा—'उद्यन्तं वा आदित्यमग्निरनुसमारोहति, अग्निं वाऽऽदित्यः सायं प्रविशति' इति श्रुतेः, 'अमा सह सूर्याचन्द्रमसौ यस्यां तिथौ तिष्ठतः' इत्यमाशब्दव्युत्पत्त्या चन्द्रसूर्ययोः प्रवेशनिर्गमने प्रसिद्धे। तस्माद् रविर्मिश्रबिन्दुरेखा, अत एव तस्योपास्यत्वमाह—'काम' इति। काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिः महद्भिर्योगिभिरिति कामः। तत्र हेतुः—'कमनीयतये'ति। कमनीयत्वं तु यथा छान्दोग्योपनिषदि—

'अथ य एषोऽन्तरादित्यो हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्ण' इति। ईशावास्येऽपि—**'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्'** इति।

तथा तत्रैव—'समूहतेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामी'ति च। महासुन्दरं कामेश्वरमभिधाय तादृशमहिमानं परामृशति। रहस्याम्नाये च—

'निरुत्तरं निराधारं संविदानन्दसागरम् ।
यदेतच्छाम्भवं दिव्यं निर्वाणाधारतां गतम् ।।' इति।

कला विमर्शशक्तिः। विमर्शो नाम विश्वाधारेण वा विश्वप्रकाशेन वा विश्वोपसंहारेण वा 'अकृत्रिमोऽहमि'ति स्फुरणम्। तद्रूपेति यावत्। दहनो वह्निः। इन्दुश्चन्द्रः। तावेव विग्रहौ आकारौ ययोः बिन्द्वोस्तौ दहनेन्दुबिन्दुदिग्रहौ बिन्दू। अयमर्थः—अग्नीषोमरूपिणी विमर्शशक्तिः, तदुभयकामेश्वराविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी बिन्दुत्रयसमष्टिरूपा कामकलेत्युच्यते। सैवोपास्येति सर्वागमैर्घुष्यते।

श्रीमद्भगवत्पादैरप्युक्तम्—

'मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्द्धं ध्यायेद् यो हरमहिषि! ते मन्मथकलाम् ।
स सद्यः सङ्क्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगीम् ।।'

अयमत्र निष्कर्षः—स्वान्तर्गतानन्ताक्षरराशिमयमहामन्त्रमयी पूर्णाहन्तामयी

प्रकाशानन्दसारा बिन्दुत्रयसमष्टिभूता दिव्याक्षररूपिणी कामकला महात्रिपुरसुन्दरी मातृका परयोगिभिर्महेश्वरैः अनिशमनुस्मर्तव्येति।

विज्ञानभैरवभट्टारकोऽपि—

'बिन्दुरूपस्य चक्रस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु ।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तशून्योच्चारात् भवेच्छिवा ।।' इति।

अमृतानन्दयोगिनश्च—

'बैन्दवे परमाकाशे सच्चिदानन्दलक्षणे ।
निष्प्रपञ्चे निराभासे निर्विकल्पे निरुद्यमे ।।

अनुत्तरचमत्कारपरामर्शपवित्रिते ।
निरुत्तरमहाशून्ये शून्याऽशून्यान्तवर्जिते ।।

स्त्रीपुन्नपुंसकाख्याभिः कल्पनाभिरकल्पिते ।
आदिमध्यान्तनिर्मुक्ते भावपञ्चकभासिते ।।

सर्वोपमानरहिते प्रकाशानुभवात्मके ।।' इति।

सहस्रनामस्तोत्रे च—'मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा' इति।

अयमर्थः—मूलमन्त्रः श्रीविद्याशब्दवाच्यः, 'कामकला श्रीविद्याकामसेविते' त्युक्तत्वात्। तदात्मिका तत्स्वरूपेत्यर्थः। कुत इत्याह मूलेति। मूलस्तु कामकला। द्वन्द्वं कामराजं हरार्धकलातृतीयं कूटमिति विवेकः। कामकलायाञ्च मुखपादादिकं सम्यक् प्रतिपादितम्। अत्र कामकला ऊर्ध्वबिन्दु श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याः केशाद्यवयवसहितं वक्त्रम् अधोबिन्दुद्वन्द्वम् बाहुचतुष्टयाद्यवयवसहितं स्तनद्वयम्, हरार्धकला पादद्वयाद्यवयवसहिता योनिः, समष्टिकामकलाभूतपरमाक्षरं तु सर्वावयवसम्पूर्णा परमसौन्दर्यवती कामेश्वराङ्कनिलया सर्वाभरणसम्पूर्णा श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाह्यकामकलेति निष्कर्षः। उक्तानि यन्त्र-मन्त्र-देवतास्वरूपाणि। इतः परं पुरश्चर्या वक्तव्येत्यत्र किञ्चिदुच्यते—

'सद्गुरोस्तु मनुं प्राप्य त्रिपञ्चार्णपरिष्कृताम् ।
सम्यक् संसाधयेद् विद्वान् वक्ष्यमाणप्रकारतः ।।

मुद्राविशेषतत्त्वज्ञो दीक्षाक्षपितकल्मषः ।
अर्चयेत् परमेशानीमभीष्टफलमाप्नुयात् ।।'

इति हयग्रीववचनात् गुरुशिष्यदीक्षालक्षणप्रकाशकानि कनिचिद्वचनानि लिख्यन्ते। श्रीहयग्रीवः—

'गुकारस्त्वन्धकारः स्याद् रुकारस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।।

यः प्रसन्नः क्षणार्धेन मोक्षलक्ष्मीं प्रयच्छति ।
दुर्लभं तं विजानीयाद् गुरुं संसारतारकम् ।।

शरीरमर्थं प्राणं च तस्मै श्रीगुरवे दिशेत् ।। इति।
महालक्ष्मीतन्त्रेण पुरश्चर्यायाम्-
तदधीनं चरेन्नित्यं तद्वाक्यं नैव लङ्घयेत् ।।'

'मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात् परशिवः स्वयम् ।
सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ ।।

सद्भक्तरक्षणायैव निराकारोऽपि साकृतिः ।
शिवः कृपानिधिर्लोके संसारीव हि चेष्टते ।।

अत्रिनेत्रः शिवः साक्षादचतुर्बाहुरच्युतः ।
अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरुः परिकीर्तितः ।।

श्रीगुरुं परतत्त्वाख्यं तिष्ठन्तं चक्षुरग्रतः ।
भाग्यहीना न पश्यन्ति सूर्यमन्धा इवोदितम् ।।' इति।

तत्रैव शिष्यलक्षणमपि भणितम्—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यस्य मे गुरुसन्ततिः ।
तस्य मे सर्वशिष्यस्य को न पूज्यो महीतले ।।

इति सर्वानुकूलो यः स शिष्यः परिकीर्तितः ।
शीलादिविमलानेकगुणसम्पन्नभावनः ।।

गुरुशासनवर्तित्वाच्छिष्य इत्यभिधीयते ।।
श्रुतिषु च गुरुशिष्यलक्षणमुक्तम्। एवम्-
'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम् ।
नाऽप्रशान्ताय दातव्यं न पुत्राय न शिष्याय पुनः ।।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।'

इत्यादिना। पूर्णानन्दयोगिभि'रादिगुरुः परमशिव' इति प्रतिपादितम्, यथा—

'आसीनः श्रीपीठे कृतयुगकाले गुरुः शिवो विद्याम् ।
तस्यै ददौ स्वशक्त्यै कामेश्वर्यै विमर्शरूपिण्यै ।।'

अयमर्थः—श्रीपीठे मध्यत्रिवल्यन्तर्गते ओड्याणपीठे, आसीनः नित्यसंनिहितः, गुरुः ज्ञानोपदेष्टा। तथा च शिवसूत्रम्—'गुरुरूपाय' इति। शिवः सर्वप्रवर्तकः परमात्माः कृतयुगकाले कृतयुगादौ। तस्यै सा शक्तिः सर्वभूतानां ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च वाणी लक्ष्मी भवानीति ताः, साम्प्रदायिकाः क्रमात् सर्वलोकप्रसूत्वेन सैव त्रिपुरा सर्वानन्दं ददाति चेति रहस्योपनिषदुक्तरीत्या निरवधिकानन्ददायिन्यै स्वशक्त्यै।

'परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुन्न किञ्चन ।
शक्तश्च परमेशानि! शक्त्या युक्तो भवेद् यदि ।।'

इत्यागमानुसन्धानैकस्वस्वरूपसक्ता सम्प्रदात्र्यै विमर्शरूपिण्यै इति।

गुरुः शिष्यं चिरकालं सुपरीक्ष्य विद्यामुपदिशेत्। परीक्षासूत्तीर्णं शिष्यं दीक्षया संस्कुर्यात्।

दीक्षालक्षणं च श्रुत्यादिषु दृश्यते। तथा मन्त्रोपदिषदि—

'ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम् ।
अतो दीक्षेति सा प्रोक्ता दीक्षाशब्दार्थवेदिभिः ।।' इति।

महालक्ष्मीतन्त्रे च—

'दीयते देवताभावस्तथा कल्मषकर्दमाः ।
क्षाम्यन्ते च यया पुंसां दीक्षामाचक्षते तु ताम् ।।' इति।

आगमेऽपि—

'दीक्षापूर्वं महेशानि! विद्यामुपदिशेद् गुरुः ।
दीक्षा च सायुज्यदायिनीति बुधा विदुः ।।'

'दीयते पराशिवैक्यभावना क्षीयते सकलपाशसञ्चय'

इंत्यभियुक्तोक्तेश्च दीक्षा अवश्यं कर्तव्या। सा च त्रिविधाआणवशाक्त-शाम्भवभेदात्।

'त्रिविधा सा भवेद् दीक्षा प्रथमा चाणवी परा ।
शाक्तेयी शाम्भवी चेति सद्योमुक्तिप्रदायिनी ।।'

इति वचनात्। तत्राऽऽणवीदीक्षा विशेषद्रव्यनिर्वर्त्यपरदेवतातर्पणध्याना-ऽऽसनहोमादिकर्मसाध्या।

'मन्त्रासनार्चनाध्यानहोमोपायादिभिः कृता ।
दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ।।'

इत्युक्ता। शाक्तेया तु यथोपनतशक्तिसिद्धार्थसाध्या। तथा चोक्तम्—

'सिद्धे शक्तिं समालोक्य तथा केवलया शिशौ ।
निरुपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्तिता ।।'

शाम्भवी तु विशिष्य तयोः अभिसन्धिं विना केवलदेशिकानुग्रहकृता दीक्षा। यथोक्तम्—

'अभिसन्धिं विनाऽऽचार्यशिष्ययोरुभयोरपि ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवतादात्म्यकारिणी ।।
सेयं हि शाम्भवी दीक्षा शिवावेशनकारिणी ।।' इति।

एवंविधदीक्षाभावे साधकस्य कुत्राप्यधिकारो नास्ति। तथा च श्रीमालिनी-विजयकारः—

'नाऽत्राधिकारिता दीक्षां विना योगोऽस्ति शाङ्करे ।
न च योगाधिकारित्वं त्रयाणामेकमेव वा ।।
अभिसन्धिरहिताचार्यकृपामात्राद् यथा भवेत् ।
अपि मन्त्राधिकारित्वमुक्तं च शिवदीक्षया ।।' इति।

शिष्यस्य वित्ताभावे आचार्यः शिष्ययोग्यतामवधार्य स्वधनेन वा कुर्यात्। स्वस्याप्यस्वभावे लघूपायेन वा कुर्यात्।

'स्वधनेन दरिद्रस्य कुर्याद् दीक्षां स्वयं गुरुः ।
अपि दूर्वाम्बुभिर्यद् वा दीक्षया मोक्षयेच्छिशुम् ।।'

इति वचनात् सर्वात्मना दीक्षितस्यैव ब्रह्मविद्यायामधिकारो नान्यस्येति स्थितिः। **अत्राऽऽणवीदीक्षायां शक्तिदीक्षायां च अधिकृताः कौलाः।** परदेवतातर्पणाऽऽसनहोमादिकर्मसाध्यत्वाद् दीक्षाद्वयस्य बाह्यपूजारतत्वाच्च तेषाम्। समयिनस्तु शाम्भवीदीक्षायामधिकृताः। तस्याः केवलदेशिकानुग्रहमात्रसाध्यत्वात्, अन्तराराधनपरत्वाच्च तेषाम्। यथोक्तं सनत्कुमारसंहितायाम्—

'बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः ।
सा क्षुद्रफलदातॄणां मोहिकाऽर्थैकसाधनात् ।।
बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च दिगम्बराः ।
कापालिकाश्चेतिहासाः वामकास्तन्त्रवादिनः ।।
अन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः ।
जीवन्मुक्ताश्च नरा एते त्रिषु लोकेषु सर्वदा (देवि?) ।।' इति।

कौला आधारचक्रपूजकाः। क्षपणकाः योषित्त्रिकोणपूजकाः। कापालिका दिगम्बराश्चोभयत्र निरताः। इतिहासाः भैरवयामलप्रामाण्यवादिनः। वामकाः तन्त्रवादिन इत्येके वर्णयन्ति वामेकेश्वरतन्त्रप्रामाण्यवादिनः। 'केवलचक्रपूजकास्ते वेदबाह्या' इत्यन्वयः। आन्तरपूजारताः ब्रह्मवादिनः शुभागमतत्त्ववेदिनः। 'चन्द्रकला-विद्याष्टकमि'ति महामाया-शम्बरादि-चतुःषष्टितन्त्रेष्वन्तर्गतं श्रीविद्याप्रतिपादकं तन्त्रमस्ति। चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधिः, कुलार्णवः, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्यम्, दूर्वासमतं चेति। अस्मिन् तन्त्राष्टकेऽत्रैवर्णिकानां शूद्रादीनामपि अधिकारोऽस्ति। तत्र ब्राह्मणादीनाधिकृत्य सव्यमार्गेण प्रादक्षिण्येन सर्वोऽप्यनुष्ठानकलापः प्रतिपादितः। शूद्रानधिकृत्य अपसव्यमार्गेण वामाचारो निरूपितः। अतश्चन्द्रकलाविद्याष्टकं कुलसमयानुसारित्वेन 'मिश्रक'-मित्युच्यते।

'मिश्रकं कुलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि!'

इति ईश्वरवचनात् मिश्रकं कौलमार्गप्रदर्शनपरत्वात् परित्याज्यमेव।

अत्रेदं रहस्यम्—शाक्तास्तावत् प्रथमतो द्विविधाः। कौलाः समयिनश्चेति। तत्र कौला द्विविधाः—पूर्वकौला उत्तरकौलाश्चेति। तत्रापि पूर्वकौलास्त्रिविधाः-यथा—मूलाधारनिष्ठाः स्वाधिष्ठाननिष्ठाः उभयनिष्ठाश्च। उत्तरकौलाश्चतुर्विधाः, मातङ्गीतन्त्रनिष्ठाः, वाराहीतन्त्रनिष्ठाः, कौलमुख्यतन्त्रनिष्ठा भैरवीतन्त्रनिष्ठाश्चेति। तदुक्तं सुभगोदये कौलभागपटले—

'मूलाधारे स्वाधिष्ठाने च भजन्ति केचनेशानीम् ।
अन्यतरस्मिंश्चान्ये तेनैव पूर्वाः कौलिनस्त्रिविधाः ।।

मातङ्गीवाराही-कोलमुखी-भैरवीमतस्थास्ते ।
आन्तरपूजारहिता उत्तरकौलाश्चतुर्विधा ज्ञेयाः ।।' इति।

आधारचक्रत्रिकोणे आधारबिन्दुस्तिष्ठतीति तावत् प्रसिद्धम्। अत्र कौलमते त्रिकोणमेव बिन्दुस्थानम्। स एव बिन्दुस्तत्राराध्यः। अत एव कौलास्त्रिकोणे नित्यं बिन्दुं समर्थयन्ति। तत् त्रिकोणं च द्विविधम्- श्रीचक्रान्तर्गतनवयोनिमध्यवर्तिनी योनिरेका, अन्या च सुन्दर्यास्तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिः। तत्र श्रीचक्रगतनवयोनि-मध्यगतयोनिं भूर्जपत्रहेमपीठादौ लिखितां पूर्वकौलाः पूजयन्ति। तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिमुत्तरकौलाः पूजयन्ति। उभयं योनिद्वयं बाह्यमेव, नान्तरम्। अत एषामाधारचक्रमेव पूज्यम्। तत्र स्थिता कुण्डलिनी शक्तिः कौलिनीत्युच्यते। सैवोपास्या त्रिकोणपूजकानामिति रहस्यम्। एषा कुण्डलिनी शक्तिर्बिन्दुरूपिणी निद्राणैव पूज्या। तस्याः सर्वदा निद्रास्वाभाव्यात्। सा पूजा तामिस्रा।

कुण्डलिनीप्रबोधो यदा स्यात् तत्क्षण एव मुक्तिः कौलानाम्। अत एव 'क्षणमुक्ताः कौला' इति व्यवहारः। अत्र कौलमते सुरामांसमधुमत्स्यादिद्रव्यैः समाराधनम्। वामाचारप्रवृत्त्या प्रत्यक्षत्रिकोणबिन्दुस्थानं मन्मथच्छत्रं सम्पूजयन्ति। अधोमुखं त्रिकोण-मधोमुखमेव चक्रं पूजयन्ति।

दिगम्बरक्षपणकादयस्तु स्त्रियमुत्तानां कृत्वा ऊर्ध्वत्रिकोणं पूजयन्ति इति रहस्यम्। यद्यप्यत्र बहु वक्तव्यमस्ति, तत्त्ववैदिकमार्गत्वात् स्मरणार्हमपि न भवति तथापि समयिमतमार्गप्रदर्शनोपयोगितया दिङ्मात्रमुक्तमित्यलमतिविस्तरेण।

समयिनो नाम समीचीनाः, अयः शुभावहो विधिः येषामस्तीति तथा। यद्वा- सम्यगयति सहस्रकमलं गच्छति इति समया कुण्डलिनी, सा येषामस्तीति समयिनो योगिनः। अथवा समया नाम शम्भुना पञ्चविधं साम्यं यातीति समया। शम्भोरपि देवाः पञ्चविधं साम्यमिति समयत्वम्। अत उभयोः समप्राधानेनैव साम्यं विज्ञेयम्। पञ्चविधसाम्यं तु अधिष्ठानसाम्यम् अनुष्ठानसाम्यम् अवस्थासाभ्यं रूपसाम्यं नामसाम्यं चेति साम्यपञ्चकम्। अतः समयपूजकाः समयिनः। ते चतुर्विधाः—

(१) स्वर्णादिरचितचक्रविग्रहेषु वैदिकविधानेनाऽर्चना रताः।

(२) अन्तर्बहिश्चार्चना रताः।

(३) अन्तरेवार्चनरताः।

(४) अर्चनाधीनाश्चेति।

तेषूत्तरं श्लाघ्यतमा ज्ञेयाः। तत्र ये असञ्जातयोगाः साधकास्ते चक्रविग्रहादौ देवीं वैदिकविधानेनाराधयन्ति। ये तु ईषज्जातयोगसिद्धयः, ते अन्तर्बहिश्च पूजयन्ति। ये तु सिद्धयोगाः, ते अन्तरेव देवीमर्चयन्ति। एते त्रयोऽपि इच्छागृहीत-शरीरां संस्कारसदृशाकारसहस्रदृशं देवीं यथायोगमर्चयन्ति। ये तु प्राप्तचित्तशुद्धिकाः निर्गुणब्रह्माऽभेदानुसन्धायिनः, ते पूज्यपूजकपृथक्ज्ञानव्यतिक्रमात् नैवाऽऽराधयन्ति। तेषां कदाचिद् भेदानुसन्धानेऽपि प्रत्यवायो नास्ति। तदीयव्यापारस्यैव तदानीं देवीपूजारूपत्वात्। तदुक्तमाचार्यपादैः—

'जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ।।'

इत्येवं समयिनश्चतुर्विधाः। तथाहि सुभगोदये—

'बहिरेव केचिदपरे बहिरन्तः केचनान्तरीशानम् ।
आराधयन्ति कतिचिन्नैवाम्बां समयिनस्तुरीया हि ।।' इति।

समयिनो योगीश्वरा जीवन्मुक्ताः संसारयात्रामनुवर्तमानाः सादाख्यतत्त्वमनुचिन्तयन्तः आत्मैकप्रवणा वर्तन्ते। समयिनां मते समयस्य सादात्म्यतत्त्वस्य सपर्यासहस्रकमल एव, न तु बाह्यपीठादौ। ये तु समयिनः योगीश्वराः विजने गृहान्तरे बद्धपद्मासीनाः वशिनो सादाख्यतत्त्व-ध्यानैकनिष्ठा वर्तन्ते तेषां चतुर्विधषड्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः सपर्या इत्यर्थादुक्तं भवति। अतो बाह्यपूजा तत्कलापश्च नास्ति समयिनामिति रहस्यम्। जीवन्मुक्तानामविद्यानिवृत्तावपि कुलालचक्र-भ्रमणन्यायेन देहबन्धः। यथोक्तं षष्ठीतन्त्रसप्तम्याम्—

'सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणत्वप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ।।'

एवमाणवशाक्तदीक्षाधिकृतानां कौलानां शाम्भवदीक्षाधिकृतानां च समयिनां यथाधिकारं बाह्याभ्यन्तरपूजे पुरश्चरणाङ्गत्वेन अवश्यं कर्तव्यम्। अकरणे प्रयोगादौ दोषदर्शनात्। तथा च महालक्ष्मीतन्त्रे—

'अविधाय पुरश्चर्यां यः कर्म कुरुते मुने ।
देवताशापमाप्नोति न च सिद्धिं स विन्दति ।।

पूजा त्रैकालिनी नित्यं जपतर्पणमेव च ।
होमो ब्राह्मणभुक्तिश्च पुरश्चरणमुच्यते ।।' इति।

अतः 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति; यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेनेति यज्ञस्यापि ब्रह्मविषयता श्रूयते। समयज्ञपूजा—

'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप ।'

इति भगवद्वचनाद् बाह्याभ्यन्तरपूजाद्वयात्मकयज्ञसंयुक्ता ।।

अत्रेदं तात्पर्यम्—गुरुणा दीक्षापूर्वं मन्त्रोपदेशः कर्तव्यः, शिष्येण च गुरूपदिष्टमन्त्रस्य पुरश्चर्या कर्तव्या। **पुरश्चर्या च त्रिकालपूजाजपोपेता। पूजा च द्रवद्रव्यविशेषतर्पणरूपा,** 'सन्तर्पणं तृप्तिमयं दैवतस्याऽमृते न तु' इत्युक्तत्वात्। द्रवद्रव्यं च हेतुभूतनिदानकारणं प्रथमादिशब्दाभिधेयं परमामृतरूपं मधु, तेनैव

परदेवतायागस्य साध्यत्वात्। सोमेना-ऽग्निष्टोमयागवत्। न च वाच्यम् 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' 'सोमेन यजेत', 'सोमग्रहान् गृह्णाति', 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति', 'मैत्रावरुणं गृह्णाति', इत्यादि विधिसद्भावयुक्तम् इतरेषां ज्योतिष्टोमादियागानां सोमादिसाध्यत्वम्। इह तु 'ब्राह्मणो न कलञ्जं भक्षयेत्', 'न सुरां पिबेत्', न मांसमश्नीयात्' इत्यादिभिर्निषेधैरिदं दर्शनमनुपपन्नम् इति। न वयं निषेधविधिमुल्लङ्घ्य स्वयमेव निदानादिना परदेवतातर्पणं कर्तुम् उचितमिति ब्रूमः। किन्तु इदमेव शाम्भवदर्शनम् औपनिषदसम्प्रदायादागतमिति निश्चित्यैवावोचाम्। तर्हि निषेधस्य का गतिः? इति चेत्, 'अदीक्षितस्याऽयं निषेधविधिरि'ति ब्रूमः। दीक्षितस्याऽनेनैव हेतुना दीक्षायागः कर्तव्य इति उपनिषदेवाहपरिस्रुतमि'त्यादिना॥११॥

श्रीभास्करारायप्रणीतभाष्यम्—

प्रसङ्गात् कामं कामकलाध्यानं बहिर्यागाश्रितमुपदेष्टुमेकादशीमृच-माहद्वामण्डलेति।

द्वौ मण्डलौ द्वौ स्तनौ एकं बिन्बं मुखं त्रीणि सदनानि भूगृहाणि गुहा हकारार्द्धरूपा। यद्यपि 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इति कोशेन बिम्बपदस्यापि मण्डलवाचकत्वेन चतुर्थ्यामृचि वर्णितानां त्रयाणां मण्डलानामेवैष विभागस्तत्रापि वह्निसूर्यमण्डलावेव स्तनौ बिम्बपदस्वारस्यात्, **पाठक्रमात्तदधस्तनमिन्दुबिम्बमेव मुखम्** अधःपदस्वारस्यात्, तदधस्तनमेव भूपुरं हकारार्द्धमिति स्पष्टं प्रतीयते। सन्ति व्यत्यस्तान्यपि कामकलारूपाणि बहुविधानि तन्त्रेषु तत्र तत्र निर्दिष्टानि, तथापि भगवत्पादैः 'मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो हकारार्धं ध्यायेत्' इत्युपबृंहणा**दार्थक्रमेण पाठक्रमबाधात्**। बिम्बपदं बिन्दुपरं सद् बिन्द्वादिमन्वस्रान्तचक्रगणपरम्। **'मण्डलत्रयरूपन्तु चक्रशक्त्यनलात्मकम्'** इति सुन्दरीश्लोके मण्डलपदस्य दशारादिचक्रपरत्वेनापि व्याख्यानदर्शनात्। बिन्द्वादिमण्डलानां षण्णामेकावयवत्वेन विभावनयैकमिति पदम्। द्वा मण्डलेति अष्टदलषोडशदलचक्रद्वयपरमिति योज्यम्। **इदमवयवत्रयकथनं सर्वावयवोपेत-लक्षणम्**। वस्तुतः शरीरेऽपि त्रय एवावयवाः शीर्षादिघण्टिकान्तः कण्ठादि-स्तनान्तः हृदयादिसीवन्यन्तश्च। केशपाणिपादन्तु तत्तच्छाखा इति। एवं सर्वचक्रात्मना परिणतां कामीं कामेश्वरात्मकमन्मथसम्बन्धिनीं कलां चित्कलां काम्यरूपां कमनीयस्वरूपां विदित्वा ज्ञात्वा। चिकित्वेति शाखान्तरे पाठः। नर उपासकः कामरूपो मन्मथसुन्दरस्सद्यस्सकलवनिताक्षोभकरो जायते।

अत्यल्पमिदमुच्यत इत्याह—काम्य इति विशेषणश्रवणात् त्रिभुवनान्तर्वर्तिसकलजनैरभिलषणीयरूपश्च भवति। तदुक्तं भगवत्पादैः—

'ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यति लघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्।।'

कामरूपत्वकाम्यत्वकामः कामकलां ध्यायेदिति गुण[1]—फलसम्बन्धविधिः। अत्र फलार्थतया ध्यानस्य स्वतः क्रियारूपस्याश्रयान्तरानपेक्षतया[2]श्येनक्रत्वादेः सौमिकाङ्गसंवलितत्वस्येव बहिर्यागाङ्गसंवलितत्वस्याप्यभावेन बहिर्यागाद् बहिरप्यनुष्ठानात् फलमिति तु भगवत्पादाशयः।

'बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रन्तु तदधःस्थं कुचद्वयम्।
तदधःस्थं सपरार्धन्तु चिन्तयेत्तदधोमुखम्।।' इति।

नित्याषोडशिकार्णवे। क्रतुप्रकरणस्थविधिनास्य ध्यानस्य क्रत्वर्थत्वमपि स्मर्यत इति चेत्, किं तावता? [3]अन्नाद्यकामनाफलकावेष्टेरिव फलार्थिना बहिःप्रयोगस्याप्यक्षतत्वात्। अत एव भगवत्स्मरणमुपक्रम्योक्तं भक्तिसूत्रे-'बहिरन्तस्तदुभयमवेष्टिवत्सर्वमि'ति ।।११।।

---

१. 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्र दध्नो गुणस्येन्द्रियफलसम्बन्धो विधीयते। तत्र दध्नस्सिद्धद्रव्यत्वेन फलसम्पादकत्वानुपपत्तेः क्रियारूपमाश्रयमपेक्षते। प्रकरण-बलेन प्रकृताग्निहोत्रहोम आश्रयत्वेन सम्बध्यते। तथा च प्रकृतहोमाश्रितेन दध्नेन्द्रियरूपं फलं भावयेदिति बोधः। प्रकृते तु सकललोकाभिलषणीयत्वरूपफलं प्रति कामकलाध्यानं विधीयते। विधेयस्य ध्यानस्य क्रियारूपत्वेनाश्रयापेक्षा नास्तीति कामकलाध्यानेन सकललोककाम्यत्वं भावयेदिति बोध इति भेदः।

२. विधेयस्य ध्यानस्य मास्त्वाश्रयापेक्षा, प्रकरणेन बहिर्यागाङ्गसम्बन्धसत्त्वात्तदपेक्षा वर्तत इति चेदाहश्येनक्रत्वादेरिति। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इति विहितः क्रतुः सोमयागः। स च ज्योतिष्टोमविकृतिः। ज्योतिष्टोमविकृतौ। ज्योतिष्टोमादङ्गा-न्यतिदिश्यन्ते। अतस्सौमिकाङ्गसापेक्षत्वं श्येनयागस्य वर्तते। तद्वदत्र बहिर्याग-कामकलाध्यानयोः सापेक्षतापि नास्ति। अतो ध्यानमिदं बहिर्यागाद् बहिः स्वातन्त्र्येण फलाय विधीयत इति भावः।

३. राजसूये 'दिशामवेष्टयोभवन्ति' इत्यादिना आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्र एकादश कपालः, वैश्वदेवश्चरुः, मैत्रावरुण्यमिक्षा, बार्हस्पत्यश्चरुरिति पञ्चहविष्का-ऽवेष्टिर्नामेष्टिः विहिता। राजसूयान्तर्गताया अपि 'एतया अन्नाद्यकामं याजयेत्' इति वाक्येन राजसूयाद् बहिः प्रोयोगोऽप्यवेष्टेर्विहितः। एतन्न्यायेन कामकला-ध्यानप्रयोगोऽपि बहिर्यागाद् बहिर्भवतीत्यर्थः।

भाषाव्याख्या

बहिर्याग के आश्रित कामकला के ध्यान का प्रसङ्गतः उपदेश करने के लिए ग्यारहवीं ऋक् को प्रस्तुत करते हैं—**द्वा मण्डलास्तना बिम्बमेकम्।**

मन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—**द्वौ मण्डलौ स्तनौ एकं बिम्बं मुखं त्रीणि सदनानि भूगृहाणि गुहा हकारार्धरूपा।** दो मण्डल = दो स्तन, एक बिम्ब = मुख और तीन भूगृह ही सदन के रूप में निर्दिष्ट हैं। वे गुहा = हकारार्ध हैं। ईकार के दोनों भागों में चन्द्र और अग्नि के रूप में मण्डलरूप दो बिन्दु हैं। एक सूर्यात्मक बिन्दु ईकार के ऊर्ध्व भाग में स्थित है। इस प्रकार से उक्त सोम, सूर्य और अग्नि रूप बिन्दु सदन हैं। इस पूर्वोक्त कामी = शिवपत्नी के रूप में विराजमान काम्य रूप वाली कला (विमर्शशक्ति) का ज्ञान प्राप्त करके अर्थात् ध्यान करके मनुष्य = उपासक मदन के सदृश आकार वाला (कामरूपः कामस्य रूपमिव रूपं यस्य सः) कमनीय अर्थात् नारियों के लिए स्पृहणीय हो जाता। इस तरह से मन्त्र का पिण्डितार्थ प्रतीत होता है।

काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिर्योगिभिरिति कामः शिवः। शिव के काम्यत्व में कमनीयता हेतु है। उस कमनीयता को छान्दोग्य में इस तरह प्रकट किया गया है—

'अथ एषो अन्तरादित्यो हिरणमयः पुरुषो हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।'

उस काम की कला को विमर्शशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। वह विमर्श क्या है? ऐसी अपेक्षा होने पर श्रीरामानन्दतीर्थजी ने कहा है—

विमर्शो नाम विश्वाधारेण वा विश्वप्रकाशनेन वा विश्वोपसंहारेण वा 'अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्।'

'षोडशेन्दोः कला भानोर्द्विर्द्वादश दशानले।
सा पञ्चाशत् कला ज्ञेया मातृका चक्ररूपिणी ।।'

इस वचन के अनुसार श्रीरामानन्दतीर्थ जी ने कामकला को पचास मातृकाओं के रूप में भी स्वीकार किया है। वह विमर्शरूपिणी कामकला चक्र के रूप में प्रतिष्ठित है जो बिन्दुत्रयसमष्टिरूप भी है। **'मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा'**, इस सहस्रनामस्तोत्रीय वचन से मूलभूत श्रीविद्यामन्त्र भी कामकला के रूप में बोधित हो रहा है। जैसा कि कहा गया है—

'कामकला श्रीविद्या कामसेविता।'

श्रीभास्करराय ने सेतुबन्ध में कारणबिन्दु को 'कामकला' कहा है। यह कामकलात्मक बिन्दु चक्रबिन्दु के प्रति कारण है। वह क्या है? ऐसी अपेक्षा होने पर उन्होंने ही कहा है—**निर्बिन्दुक ईकारश्चतुर्थः।** अर्थात् श्रीविद्यामन्त्र में विद्यमान 'ह्रीङ्कार' में स्थित ईकार तीन

हैं जिन्हें 'महामाया' कहा जाता है। प्रथम वाग्भवकूट में बिन्दुरहित चौथा ईकार ही कारण बिन्दु है जिसे कामकला कहा जाता है। **'ईस्त्रिमूर्तिर्महामाया'**, इसके अधिकार में स्थित **'शिवोत्तमः शिवा तुष्टिश्चतुर्थी बिन्दुमालिनी।'** यह कोश ही प्रमाण है।

हादिविद्या के पक्ष में तृतीय शक्तिकूट के प्रथम अक्षर 'ह' में स्थित 'अकार' को कारणबिन्दु के रूप में स्वीकार किया जाता है। अकार भी बिन्दु है, यह बात 'बिन्दुःशून्यमकारः', इस कोश से प्रमाणित होती है। बिन्दु कहा जाने वाला यह अकार अन्य अकारों से अलग है। जैसा कि श्रीभास्करराय ही कहते हैं—

'अत एवाकाराधिकारे कामेशीवासिनी वियत्' इति वियत् पदम्। कोशे बिन्दुपदेनाकारनिर्देशोऽकारान्तरव्यावर्तनाय। सर्वकारणरूपाकारस्यैव शून्याकारत्वात्।'

प्रकृत मन्त्र में श्रीभास्कररायजी कुछ अपेक्षित तथ्य प्रकट करते हैं— **यद्यपि 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इति कोशेन।** 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु', इस कोश से 'बिम्ब' पद भी मण्डल का ही वाचक सिद्ध हो रहा है, अतः चौथे मन्त्र में वर्णित तीन मण्डलों का यही विभाग है। इनमें 'बिम्ब' पद के बल से अग्नि और सूर्य मण्डल स्तन हैं। पाठक्रम के अनुरोध से उसके नीचे विद्यमान चक्रस्थ भूपुर ही हकारार्ध के रूप में प्रतीत हो रहा है। कामकला के अनेक रूपों का उल्लेख तन्त्रग्रन्थों में विपरीत क्रम से है। श्रीभगवत्पाद ने सौन्दर्यलहरी में आर्थ क्रम से पाठक्रम का बाध स्वीकार करके मुख, स्तनयुगल और योनि के रूप में वर्णन किया है—

'मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद् यो हरमहिषि! ते मन्मथकलाम्।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यति लघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्।।'

इसका भाव वही है जो प्रकृत मन्त्र का है। 'बिम्ब' पद का 'बिन्दु' अर्थ स्वीकार करके उसे बिन्दु से लेकर चतुर्दशकोण तक विद्यमान चक्रगण के बोधकत्व के रूप में इङ्गित करते हैं—**बिम्बपदं बिन्दुपरं सत्।** इस व्याख्यान में हेतु का निर्देश करते हैं— **'मण्डलत्रयरूपन्तु चक्रं शक्त्यन लात्मकम्' इति सुन्दरीश्लोके मण्डलपदस्य दशारादिचक्रपरत्वेनापि व्याख्यानदर्शनात्।** 'तीन मण्डल वाला चक्र पाँच शक्ति त्रिकोण और चार अग्नि त्रिकोण अर्थात् नवत्रिकोणात्मक है।' यद्यपि सुन्दरीश्लोक में 'मण्डल' पद की व्याख्या दशकोण आदि चक्र अर्थ में भी आचार्यों ने की है। श्रीचक्र में बिन्दु से लेकर चतुर्दशकोण पर्यन्त मण्डलों की संख्या छः है तथापि उन सभी की एक अवयव के रूप में भावना करने से मन्त्र में 'एकम्' एकवचनान्त पद का प्रयोग है। 'द्वा मण्डला' से अष्टदलपद्म और षोडशदलपद्म का प्रतिपादन है, इस बात को कहते हैं— **द्वा मण्डलेति।** तीन (मुख, स्तन और 'गुहा' पद से योनि) अवयवों का कथन सारे

अवयवों का उपलक्षण है अर्थात् तीन अवयवों के द्वारा सारे अवयवों का प्रतिपादन है, इस वस्तु को प्रकट करते हैं—**इदमवयवत्रयकथनम्।** शरीर में भी तीन अवयवों की व्यवस्था कहते हैं—**वस्तुतस्तु।** शरीर में भी तीन ही अवयव होते हैं—मस्तक से लेकर घण्टिकापर्यन्त पहला, कण्ठ से स्तनपर्यन्त दूसरा तथा हृदय से सीवनीपर्यन्त तीसरा। केश, चरण, हस्त आदि उन-उन अङ्गों की शाखायें हैं। एवञ्च, मन्त्र में पूर्वार्ध से कामकला को सर्व चक्र के रूप में परिणत माना गया है। पञ्चाशत् मातृका के रूप में और मुखादि अवयवों से उपलक्षित नारी के रूप में भी काम = कामेश्वर की कला विमर्शशक्ति का प्रतिपादन है जिसके ध्यान से पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है। प्रकृत मन्त्रवर्ण से विधि का उन्नयन करते हैं— **कामरूपत्वकाम्यत्वकामः।** काम के समान रूप और वनिताओं की अभिलषणीयता की कामना करने वाला कामकला का ध्यान करे, इस तरह से यह गुणफलसम्बन्ध का विधान है। 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में जैसे इन्द्रिय (पुष्टि) फल के साथ दधि गुण का सम्बन्ध होने पर सन्निधान में स्थित होम आश्रय के रूप में सम्बन्धित होता है, क्योंकि आश्रय के विना सिद्ध दधि आदि गुण स्वतः फल का निष्पादक नहीं होता। इसी तरह यहाँ भी कामरूपत्वादि फल के लिए विधीयमान कामकलाध्यान रूप गुण का कोई आश्रय होना चाहिये? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—**अत्र फलार्थतया विधेयस्य ध्यानस्य।** यहाँ कामरूपत्वादि फल के लिए विहित होने वाला ध्यान स्वतः क्रियारूप होने से फल का निष्पादक हो जायेगा, अतः अन्य किसी याग आदि आश्रय की यहाँ अपेक्षा नहीं है। अतः बहिर्याग से बाहर स्वतन्त्ररूप से कामकला का ध्यान फल का साधन होने से पुरुषार्थरूप धर्म माना जायेगा। इसमें उपोद्वलक हेतु है—**श्येनक्रत्वादेः सौमिकाङ्गसंवलितत्वस्येव बहिर्यागसंवलितत्वस्याप्यभावेन।**

हिंसा फल के लिए 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' वाक्य से विहित श्येनयाग अव्यक्त होने के कारण ज्योतिष्टोमनामक सोमयाग का विकार है, अतः उसमें सोमसम्बन्धी अङ्गों की अपेक्षा होती है। श्येनयाग सोमसम्बन्धी अङ्गों से संवलित (युक्त) रहता है। इस तरह यहाँ पर बहिर्याग और कामकलाध्यान की सापेक्षता नहीं है, अतः यह कामकलाध्यान बहिर्याग के बाहर स्वतन्त्ररूप से फल के लिए विहित है।

कामकलाध्यान के क्रत्वर्थत्व की आशङ्का करते हैं—

'बिन्दुं संकल्प्य वक्त्रन्तु तदधःस्थं कुचद्वयम् ।
तदधःस्थं सपरार्धन्तु चिन्तयेत् तदधोमुखम् ।।'

'यहाँ भी कामकला = चित्कला का ध्यान प्रतिपादित है। सौन्दर्यलहरी में हरार्ध या कहीं पर हकारार्ध पाठ है। **हरः हकारश्च शिवोऽर्धनारीश्वरस्तस्यार्धं योनिः।** दोनों का योनि अर्थ है। सपरार्ध का भी यही अर्थ है—**सकारात् परो हकारः शिवस्तस्यार्धमिति।** एवम् बिन्दु के स्थान पर मुख, मुख के नीचे स्तनयुगल और स्तनयुगल के नीचे योनि का ध्यान करना चाहिये।

नित्याषोडशिकार्णव के यागीय प्रकरण में विधान होने के कारण कामकला का ध्यान

क्रत्वर्थ = याग का अङ्ग सिद्ध हो रहा है। क्रत्वर्थ होने से इसका फलकथन पूर्वोक्त न्याय से प्रशंसापरक ही होगा। स्वतन्त्र कामरूपत्वादि फल नहीं होगा, यह आशङ्का का अभिप्राय है। स्वीकार करके पुरुषार्थत्व की भी स्थापना करते हैं—**किन्तावता**। अन्नाद्य आदि फलों की कामना होने पर 'अवेष्टि' के समान प्राकरणिक याग के बाहर भी स्वतन्त्र कामरूपत्वादि फल के लिए कामकलाध्यान का प्रयोग हो सकता है। इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है। अयम्भावः—

स्वाराज्य फल के लिए विहित राजसूय यज्ञ इष्टि, पशु और सोमयागों का समुदाय है। इस यज्ञ का अधिकारी क्षत्रिय है। इसके अङ्ग के रूप में 'अवेष्टि' नामक यज्ञों का विधान है—**दिशामवेष्टयो भवन्ति। आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्र एकादशकपालः, वैश्वदेवश्चरुः, मैत्रावरुण्या-मिक्षा, बार्हस्पत्यश्चरुः**। पाँच हवियों से विहित अवेष्टि राजसूय का अङ्ग है जो केवल क्षत्रिय के लिए विहित है। राजसूय के अवान्तरप्रकरण में इन वाक्यों का श्रवण है—'**यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेद् यदि राजन्य ऐन्द्रं यदि वैश्यो वैश्वदेवम्**'।

यदि ब्राह्मण यज्ञ करे तो पाँचों हवियों का वेदी पर आसादन (स्थापन) इस तरह से होगा कि पाँचवे स्थान में पठित बार्हस्पत्य चरु तृतीय स्थान में हो। फिर चार हवियों का क्रमशः आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप करके इन हवियों के संस्कार में उपयुक्त आज्य को जूहू पात्र में लेकर मध्य में आसादित बार्हस्पत्य हवि का आघारण करके अन्त में होम हो। इसी तरह अन्य में भी समझना चाहिये। यहाँ ब्राह्मण आदि कर्ता के बल से यह निश्चित होता है कि पाँच हवियों वाले इस 'अवेष्टि' नामक याग का एक प्रयोग 'अन्नाद्य' फल के लिए विहित है जिसका राजसूय से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्षत्रियकर्तृक होने से राजसूय में ब्राह्मण और वैश्य की प्राप्ति ही नहीं है। राजसूय में फलसम्बन्ध के कारण अलग-अलग पाँच प्रयोग हैं। इसी तरह कामकलाध्यान को भी बहिर्याग के बाहर भी विशेष फल के लिए समझना चाहिये। इसमें उपोद्वलक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं— **अत एव**। इसीलिए भगवान् के स्मरण का प्रारम्भ करके भक्तिसूत्र में कहा है—'**बहिरन्तस्तदुभयमवेष्टिवत् सर्वम्**'। अर्थात् श्रीभगवत्स्मरण अवेष्टि के समान ही आराधना के भीतर और बाहर स्वतन्त्ररूप से होना चाहिये। आराधना में वह इसका उपकारी होगा तथा बाहर विशेष फल के लिए पुरुषार्थ (धर्म) होगा॥११॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

परिस्रुतं झषमाद्यं पलञ्च भक्तानि योनीस्सुपरिष्कृतानि ।
निवेदयन् देवतायै महत्यै स्वात्मीकृत्य सुकृती सिद्धिमेति ।।१२।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

परिस्रुतं द्रवद्रव्यं मधु। झषं मत्स्यम्। आद्यम् अत्तुं योग्यम्। किं तत्?

पलम् आमिषम्। चकारः समुच्चयवाचकः। भक्तानि अन्नानि। योनिः त्रिकोणम्। तेन तद्वती सुन्दरी लक्ष्यते। एते द्रवद्रव्यविशेषाः सुपरिष्कृताः यथार्हं सुसंस्कृताः, योनिं सुपरिष्कृतामित्यर्थः। पदद्वयस्य विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। चकारो ह्यनुक्तमुख्यानि समुच्चिनोति। निवेदयन् निवेदनं कुर्वन्। कस्यै? देवतायै द्योतनस्वभावायै, 'तेजः परस्यां देवतायामि'ति श्रुतेः। महत्यै पूज्यायै। 'मह पूजायामि'ति धातुः। तथा चाऽगस्त्यः—'सर्वपूज्या त्वया प्रोक्ता त्रिपुरा परदेवते'ति। स्वात्मीकृते स्वात्मसात्कृते। सुकृते पूजारूपे धर्मविशेषे।

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माऽग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।'

इति बुद्धौ सत्यां सिद्धिमेति पुरश्चरणसिद्धिं प्राप्नोति। अत्र 'परिस्रुतं द्रवद्रव्यमि'ति निघण्ट्वादिप्रसिद्धिः। अत एव वाजपेयादिप्रसिद्धक्रतुष्वपि परमेश्वर्या मन्त्रनायिकायाः विहितत्वादेव निषिद्धस्यापि द्रव्यस्य स्वीकारो दरीदृश्यते। यथोक्तं ललितोपाख्याने—

'परितुष्टास्मि मद्याब्धे त्वया साह्यमनुत्तमम् ।
देवकार्यमिदं किञ्चित् त्वया निर्विघ्नितं कृतम् ।।

इतः परं मत्प्रसादाद् वाजपेयादिके मखे ।
सोमपानवदत्यन्तमुपयोज्यो भविष्यसि ।।

यागेषु मन्त्रपूतं त्वां पास्यन्त्यखिलदेवताः ।
यागेन मन्त्रपूतेन पीतेन भवता जनाः ।।

सिद्धिमृद्धिं धनं स्वर्गमपवर्गं च गच्छतु ।
महेश्वरी महादेवः बलभद्रश्च भार्गवः ।।

दत्तात्रेयो विधिर्विष्णुस्त्वां पास्यन्ति महाजनाः ।' इति।

परशिवोऽपि—

'कुण्डिकम्बुकपालानि मधुपूर्णानि बिभ्रतीम् ।
त्रीणि पश्यति लोकोऽयं तव मायाविमूढधीः ।।'

पूजासङ्केतके प्रधानादिवरिवस्यां निवर्तयेत् ।

इत्याह। यथा वा—

'महापद्मवनान्तःस्थे करणानन्दविग्रहे ।
मदङ्कोपाश्रयां देवीमिच्छाकामफलप्रदाम् ।

भवतीं त्वन्मयैरेव नैवेद्यादिभिरर्चयेत् ।'

इत्यादिनोक्ता। अन्ते नैवद्यद्रव्यं स्पष्टमाचष्टे। यथा वा—

'अलिना पिशितैर्गन्धैर्धूपैराराध्यदेवताम् ।
चक्रपूजां विधायेत्थं कुलदीपं निवेदयेत् ।
कौलिकाचारसंयुक्तैर् वीरैस्तु सह पूजयेत् ।।'

अन्यत्र रहस्यागमेऽपि स एव परमेश्वरो मकारादिपदार्थपञ्चकस्य देवतायोगविनियोगमाह—

'मादिपञ्चकमीशानि! देवताप्रीतिकारकमि'ति।

ननु शिव एव सर्वतन्त्रप्रवर्तक' इत्युक्तम्। तथा च महामायाशाम्भवाद्यनेकतन्त्रानुष्ठानप्रसङ्गः, तदुक्तत्वाविशेषात् इति चेत्, न, तेनैव तत्तदधिकारिभेदेनाऽनुष्ठेयानीमानि तन्त्राणीति व्यवस्था कृता। इदं शाम्भवं तन्त्रं मुमुक्षूणामेवोपास्यमिति प्रपञ्चितम्। यथा—

'नाना शास्त्राणि देवेशि! मयैव कथितानि वै ।
मूर्त्यन्तरं तु गत्वैव मोहनाय दुरात्मनाम् ।।'

इत्युक्त्वा—

'मथित्वा ज्ञानमन्थेन वेदागममहार्णवम् ।
सारज्ञेन मया देवि! कुलधर्मः समुद्धृतः ।।

मेरुसर्षपयोर्यद्वत् सूर्यखद्योतयोरिव ।
तथाऽन्यसमयस्याऽम्ब! कुलस्य महदन्तरम् ।।'

इत्यादिना कुलधर्मस्वरूपमभिधाय तन्निष्ठस्यैव मोक्षो, नान्यनिष्ठस्येत्यत्याह—**'एतत् ज्ञात्वा वरारोहे! सद्यः खेचरतां व्रजेत्'** इति। मुख्यद्रव्याभावे अनुकल्पेन वा अवश्यं कर्तव्यम्। तथा च लोपामुद्रासंहितायां पञ्चमोल्लासे देवीं प्रति शिववचनम्—

'सुरां निवेदयेद् भक्त्या मुख्याभावेऽनुकल्पतः ।
द्रव्याणां क्षीरमुख्याणामपस्ताम्रादिपात्रके ।।

अनुकल्प इति प्रोक्तः पदार्थैर्लवणादिभिः ।
अस्माकमनुकल्पोऽयं सम्मतोऽतीव वल्लभे ।।

अनुकल्पे कृते सम्यक् शास्त्रोक्तं च कृतं भवेत् ।
शिष्टाचारोऽनुकल्पेषु सौत्रामण्यां तथा खलु ।
मांसानुकल्पोऽपूपः स्यात् मत्स्यस्य तु कदल्यपि ।।

मैथुनं स्वकलत्रेषु तदभावे तु यत्नतः ।
एवं तन्त्रेषु शक्तीनामनुकल्पः समीरितः ।।

मद्यं मत्स्यं च मांसं च मुद्रां मैथुनमेव च ।
मकारपञ्चकं देवि! एतत् ज्ञात्वा समारभेत् ।।' इति।

महालक्ष्मीतन्त्रेऽपि दशरथं प्रति वसिष्ठवचनम्—

'मनुवंश्य महाराज! रहस्यं कथयामि ते ।
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।।

एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः ।
अस्याः सान्निध्यमात्रेण महात्रिपुरसुन्दरीम् ।।

अर्चय त्वमयोध्यायाममुष्या आधिदेवताम् ।
नैतस्याः सदृशी काचिद् देवता विद्यतेऽपरा ।।

नारिकेलीफलालीभिः पक्वैश्च कदलीफलैः ।।

मध्वाज्यशर्कराप्राज्यैः महापायसराशिभिः ।
सिद्धद्रव्यविशेषैश्च पूजयेत् त्रिपुराम्बिकाम् ।।

अभीष्टमचिरेणैव सम्प्रदास्यति सैव ते ।।' इति।

तत्रैव—

'सितामध्वाज्यकदलीफलपायसरूपकम् ।
पञ्चपर्वसु नैवेद्यं सर्वथैव निवेदयेत् ।।

यो नार्ऽचयति शक्तोऽपि स देवीशापमाप्नुयात् ।
अशक्तो भावनाद्रव्यैरर्चयेन्नित्यमम्बिकाम् ।।' इति।

एवं कौलपूजा प्रत्यपादि। समयिनां बाह्यपूजाभावेऽपि भावनाद्रव्यैरान्तरपूजा सम्यक् कर्तव्यैव। तथा चोक्तं कुलार्णवे पञ्चमविलासे—

'आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः ।
चिच्चन्द्रकुण्डली-शक्ति-सामरस्य-सुखोदयात् ।।

व्योमपङ्कजनिष्पन्द-सुधापानरतो भवेत् ।
मधुपानमिदं प्रोक्तमपरे मद्यपायिनः ।।

पुण्याऽपुण्यपशुं हुत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लये नयेच्चित्तं पलाशी स निगद्यते ।।

मनसा चेन्द्रियगणं सम्यगात्मनि योजयेत् ।
मद्याशी स भवेद् देवि! शेषाः स्युः प्राणिहिंसकाः ।।

अप्रबुद्धां पशोः शक्तिं प्रबुद्धां कौलिकस्य च ।
शक्तिं तां सेवयेद् यस्तु स भवेच्छक्तिसेवकः ।।

पराशक्त्याऽऽत्ममिथुनसंयोगानन्दनिर्भरः ।
योऽस्ति मैथुनं तत् स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः ।।

इत्यादि पञ्चमुद्राणां कथितं कुलनायिके! ।।' इति।

अतः समयिनां बाह्यपूजाया निषिद्धत्वात् अन्तरेव पूजा कर्त्तव्या। तदर्थं च बहिः पूजायामण्डप्रपञ्चवत् अन्तः पूजायां पिण्डप्रपञ्चो निरूपणीयः। तथाहि सुभगोदये कौलशिक्षापटले—

'बाह्यपूजारताः केचित् पाखण्डा वेदनिन्दकाः ।
कौलाः कापालिका मूलमागमैरविधानतः ।।

निषिद्धाचरणात् पातस्तेषामिति हि मे मतिः ।
तस्मात् पीठार्चनादीनि वैदिकानां न विद्यते ।।

अन्तःपूजारताः सन्तो वसिष्ठसनकादयः ।
वाञ्छितां सिद्धिमापन्नास्तस्मादधिकमान्तरम् ।।

अथ चेत् कर्षणादीनि प्रतिष्ठान्तानि चागमैः ।
अथार्वणैरथोक्तानि बाधितार्थानि तानि किम्? ।।

सम्यक् तानि तथोक्तानि स्वाधिकारानुगुण्यतः ।
मुमुक्षूणां न तत्रास्ति किंपूजायामधिक्रिया ।।

तस्मात् समयिनामन्तश्चक्रेष्वेवार्चनादिकम् ।
तच्चाधारविशुद्ध्यैवं सा च वायुनिरोधतः ।।'

तथा च आधारादिष्वपि पूजायां फलविशेषश्रवणाद् विशिष्याऽन्तः-प्रपञ्चो निरूपणीयो भवति। तथाहि समयिनां मते आधारादिषट्चक्रभजनमेव श्रीचक्रपूजनम्। उक्तं चैतद् वामकेश्वरतन्त्रे—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
नवचक्रैश्च संसिद्धिं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ।।

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ।।

बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् ।
चतुरस्त्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ।।

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम् ।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्त्रके ।।

शैवानामपि शाक्तीनां चक्राणां च परस्परम् ।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित् ।।

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात् ।।

मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् ।
अनाहतं विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ।।

तवाऽऽधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति! ।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपः शिवः स्मृतः ।।

अविनाभावसम्बन्धस्तस्माद् बिन्दुत्रिकोणयोः ।' इति।

तत्र आधारपद्मं चतुर्दलम्, स्वाधिष्ठानपद्मं षड्दलम्। इदं चक्रद्वयं वह्निमण्डलं रुद्रग्रन्थियुक्तं तमोलोक इति चोच्यते। अत्रोपासनायां तामसानि ऐहिकानि ऐश्वर्यादीनि भवन्ति। मणिपूरपद्मं दशदलम्, अनाहतपद्मं द्वादशदलम्। इदंद्वयं सूर्यमण्डलं विष्णुग्रन्थियुक्तं 'रजोलोक' इत्युच्यते। तत्रोपासनायां सार्ष्टिनामदेवीनगराद् बहिरुद्यानादिष्ववस्थानम् समानलोकतानामदेवीनगरान्तरवस्थानमिति विवेकः। विशुद्धिपद्मं षोडशदलम्, आज्ञाचक्रं द्विदलम्। इदंद्वयं सोममण्डलं ब्रह्मग्रन्थियुक्तं 'सत्यलोक' इति चोच्यते। अत्रोपासनायां सामीप्यसारूप्यमुक्ती भवतः। सामीप्यं नाम समीपेऽवस्थानम्। सारूप्यं नाम समानरूपत्वं समानभोग्यभोक्तृत्वमिति यावत्। ध्रुवमण्डलं पद्मं सहस्रदलम्। सर्वग्रन्थिसर्वतत्त्वसर्वगुणाद्यतीतं 'सर्वलोक' इति चोच्यते। तत्रोपासनायां सायुज्यमुक्तिर्भवति। सायुज्यं नाम तत्त्वस्वरूपापत्तिः। तदुक्तमानन्दकन्दे—

'आत्मा विशुद्धिपद्मे द्विषोडशारे च सत्त्वगुणयुक्ते ।
ब्रह्मग्रन्थिसमेते विख्याते सोममण्डलाभिख्ये ।।

अनाहते मणिपूरे पद्मे दशद्वादशच्छदे रजसाम् ।
विष्णुग्रन्थिसमेते विज्ञेये मण्डले भानोः ।।

स्वाधिष्ठानाधारे पद्मे तमसां सषट्चतुष्पत्रे ।
रुद्रग्रन्थिनिबद्धे त्वैहिकफलदेऽग्निमण्डले विदुषाम् ।।

तत्त्वगणमण्डलानामुपरि सरोजं सहस्त्रदलयुक्तम् ।
अमृतस्यन्दि सुधाकरलोकस्थं सूर्यकोटिसच्छायम् ।।
श्रीचक्राख्यं देव्या मन्दिरमिति तत्र विश्रुतं श्रुतिषु ।
इष्ट्वा तत्र महेशीमैक्यं देव्या हि याति मुनिलोकः ।।'

इति तेषां स्वरूपे निरूपितेऽपि तत्र भजनप्रकारो विविच्यते। शिवचक्रात्मक-बिन्दुयुक्तत्रिकोणात्मकमूलाधारे ताण्डवपरं भैरवं लास्यपरां समयां च, अष्टदलपद्मात्मकाऽष्टकोणस्वरूपस्वाधिष्ठानसंवर्तनानलात्मकं रुद्रं लोकानुग्राहिकां समयां च, षोडशदलपद्मात्मकद्विदशारस्वरूपयोर्मणिपूरानाहतयोः प्रावृट्काल-पयोदरुचिं पराभिधशिवं तडिद्रूपां परात्मिकामम्बां च, हंसाकारशिवचक्रभूपुर-त्रयात्मकचतुर्दशाररूपयोः विशुद्ध्याज्ञाचक्रयोः क्रमेण सदाशिवसदाशिवाख्यां च परचितायुतं परं शम्भुं च शुद्धेन्दुकोटितुलितम्, चन्द्रलोके सहस्रारे पद्मे सुधाप्लुतां सादाख्यां च परां शक्तिं परशिवाभिन्नां सर्वतत्त्वातीतां चिन्तयेत्।

ननु षोडशोपचारा एव पूजायां प्रसिद्धाः। तत् कथं देव्याश्चतुष्षष्ट्युपचारा इत्युच्यते? इति चेन्न, अन्यासां देवतानां तथा देव्यास्तु चतुर्गुणितानि तानि सन्तीत्यागमरहस्यम्। तथाहि—आवाहनाऽऽसन-प्रतिष्ठापन-सन्निधापन-सम्मुखीकरणपरिवारदनानुपार्थनाऽभिमुखीकरण-सफलीकरणाऽनुवरणसंयोजन-पाद्याऽऽर्घ्याऽऽचमनश्रमापनयनस्नानमण्डप-नयन-शेषगन्धमाल्यापनयनभूषणाव-रोपणशरीरोद्वर्तनदन्तधावनताम्बूलकरणवस्त्रान्तरपरिधापनाऽभ्यङ्गस्नानीय-घारणस्नापनशिरोवस्त्रबन्धनशरीरमलापकर्षणयक्षकर्दमानुलेपनकुङ्कुमविलेपन-जलकणिकापनोदनदिव्यवस्त्रान्तरपरिधापनपुनःसमानयनसिंहासनाधिरोपण-केश्यालीकरणकालागरुधूपनगर्भकग्रथनघम्मि(ल्ल)करणस्रग्गन्धसिन्दूर-धारणचन्द्रविकलाबन्धनतिलकसन्धारणमलयजानुलेपनपादाङ्गुलीयकमञ्जीरकाञ्चीक-लापोर्ध्वाणबन्धनकराङ्गुलीयककटककङ्कणाङ्गदकेयूरहारावलीग्रैवेयकताटङ्कपाली-ललन्तिकाद्याभरणधारणकज्जललाक्षादिधारणमकरीविलेखनयज्ञोपवीतधारण-व्यजनसेवनाऽनेकभक्ष्यफलोपेतनैवेद्यप्रदानहस्तावनेजनताम्बूलप्रदानदर्पणाव-लोकनच्छत्रधारणबालव्यजनवीजनगीतवादित्रादिश्रवणप्रदक्षिणनमस्कारस्तुति-प्रार्थनाकरणरङ्गवल्लीदीपाद्यवलोकनकर्पूरवीटीप्रदानमञ्चाधिरोहणतिरस्करिणी-प्रदानरूपात्मकचतुष्षष्ट्युपचारा' इति।

ननु पूर्वं सहस्रकमले पूजकानामेव मुक्तिरित्युक्तम्, इदानीम् अनाहतादि-चतुष्टयेषु स्थानेषु आराधकानां सायुज्यमस्तीति प्रतिपाद्यते, तत् कथमिति

चेत्? सत्यम्, चक्रमात्रेष्वाराधकानां फलं प्रदर्शितम्, इदानीं समयिनाम्, आधारस्वाधिष्ठानचक्रयोर्लोकत्वात्, तत्र देव्याः सान्निध्याभावात् तदितरचक्रेषु सर्वेष्वपि आराधनस्य फलमुच्यते इति न विरोधः।

नन्वेवं पूर्वमाधारस्वाधिष्ठानचक्रयोरपि ताण्डवसंवर्तनमूलरुद्रलास्य-परलोकाऽनुग्रहकामशिवशक्तीनामुपासनोक्ता, इदानीं तत्र देव्याः सान्निध्यमेव नास्तीति कथमुच्यत इति चेत्? तत् पूर्वकौलमतानुसारेणोक्तम्, तेषामाधार-स्वाधिष्ठानयोरेवोपासकत्वात्। **अत एव कुलनिष्ठाः कौला इति प्रसिद्धिः। कुलमित्याधारस्य नाम।** अत एव आचार्यैः सौन्दर्यलहर्याम्-

'अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि' इत्युक्तम् ।।

चतुर्विधैक्यानुसन्धानप्रकारस्तु आधारादिषट्चक्रस्य प्रथममैक्यमनु-सन्धातव्यम्। तत्प्रकारः पूर्वमेव प्रतिपादितोऽपि विस्पष्टार्थः पुनरप्युच्यते। मूलाधारादिषट्चक्राणां त्रिकोणाऽष्टकोणदशारद्वयमन्वश्रशिवचक्रात्मना तादात्म्यं ज्ञेयम्। एतदेव नादबिन्दोरैक्यम्। तथाहि—**नादो नाम श्रीचक्रम्, बिन्दुर्नाम षट्कमलगहनं वक्ष्यते।** तयोरैक्यं नाम आधारचक्रं चतुर्दलम्, तत्कर्णिका त्रिकोणात्मिकैव। स्वाधिष्ठानं षड्दलम्, तत्कर्णिका अष्टकोणात्मिका, मणिपूरं दशदलं पद्मम् तत्कर्णिका दशकोणात्मिका। अनाहतं द्वादशदलम्, तत्कर्णिका द्वितीयदशकोणात्मिका। विशुद्धिचक्रं षोडशदलं पद्मम्, तत्कर्णिका चतुर्दश-कोणात्मिका। एतावत्पर्यन्तं शिवशक्तिचक्रैक्यम्। आज्ञाचक्रं द्विदलं पद्मम्, अष्टकोणमेकत्र षोडशकोणमपरत्रेति द्विधा भिन्ना कर्णिका।

'शिवचक्रेण चाद्यस्य बिन्दुना मध्यमस्य च ।
शक्तिचक्रेण चान्त्यस्य मन्त्रखण्डस्य यो बुधः ।।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स मुक्तिभाक् ।।' इति।

यद्वा—त्रिरेखा-त्रिवलय-षोडशाराऽष्टदल-चतुर्दशार-दशारद्वय-वसुकोण-चतुरस्रबिन्दुषु यथाक्रमं पञ्चदशाक्षरात्मकत्वमनुसन्धेयम्। तदुक्तं सनत्कुमार-संहितायां चतुर्विधैक्यानुसन्धानम्—

'चतुरस्रं त्रिरेखा च वलयत्रितयं तथा ।
षोडशारं नागदलं मन्वश्रं द्विदशारकम् ।।
वसुकोणं त्रिकोणं च चतुष्कोणं तदन्तरे ।
बिन्दुश्चेतैः पञ्चदशाक्षरीवर्णाननुक्रमात् ।।

योजयित्वा जपेद् यस्तु साधकः स तु मुक्तिभाक् ।' इति।

अथ तृतीयं चक्रदेवतयोरनुसन्धानम्। तथाहि—चक्रपञ्चकं देव्याः शिरः-केशपाशस्रङ्मुकुटचन्द्रकलारूपम्।

'शक्तिचक्राणि पञ्चापि क्रमाद् देव्या निबोधत ।
शिरः केशश्च दामानि किरीटं चन्द्ररेखिका ।।'

बिन्दुर्मुखं चतुरस्रं कम्बुकण्ठः शिवचक्रचतुष्टयं बाहु-वक्षोज-जघन-पादरूपम्।

'शिवचक्राणि चत्वारि बाहवो जघनाङ्घ्रिकम् ।
बिन्दू रदनमाख्यातं चतुरस्रं तु कन्धरम् ।।
इति यो वेद तत्वज्ञः स देवीत्वं प्रपद्यते ।' इति।

तुरीयं मन्त्रदेवतयोरैक्यानुसन्धानम्। प्रथमखण्डो देव्या मुखम्, द्वितीयखण्डो कट्या ऊर्ध्वप्रदेशः, तृतीयखण्डः कट्या अधः प्रदेशः। तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्—

'खण्डत्रयेषु मन्त्रस्य देव्या वदनपङ्कजम् ।
प्रथमस्तु द्वितीयस्स्यात् कटेरूर्ध्वं तथाऽन्तिमः ।।
कट्यधोभाग इत्येवं जानीयात् साधकोत्तमः ।' इति।

रहस्य सहस्रनामस्तोत्रे च मन्त्रदैवतयोरैक्यं प्रतिपादितम्। यथा वा—

'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा ।
कण्ठाधःकटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी ।।
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिणी ।।' इति।

अयमर्थः—श्रीः चित्कला अस्या अस्तीति 'श्रीमत्', नित्ययोगे मतुप् प्रत्ययः। भवत्यस्मादिति भवम्, वाचां भवं 'वाग्भवम्'। सर्वासां वाचां वाग्भवकूटादेवोत्पत्तेः।

तत् श्रीमद् वाग्भवकूटमिच्छाशक्तिसमधिष्ठितं पञ्चबीजसमुदायात्मक-लक्षणं स्वरूपम् अस्यास्तीति। नित्ययोगे मत्वर्थीयः प्रत्ययः। राजतेर्दीप्त्यर्थत्वात् कामानां राजा कामराजः। 'राजाहःसखिभ्यष्टजि'ति समासान्तष्टच्। श्रीक्रोधभट्टारकस्तु "कामान् राजयतीति कामराजः', पचाद्यच् इत्याह। तथाहि—

'कामान् कारणतां गतानगणितान् कार्यैरनन्तैर्मही-
मुख्यैः सर्वमनोगतैरधिगतान् मानैरनेकैः स्फुटम् ।
काम-क्रोध-सुलोभ-मोह-मद-मात्सर्यादिषट्कं च यद्
बीजं राजयति प्रणौमि सततं ते साधु कामेश्वरि!।।' इति।

अत्र प्रकारान्तरेण केचित् चतुर्विधैक्यानुसन्धानं वर्णयन्ति। यथा—

'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाऽव्याकृतयोरैक्यं क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ।।' इति।

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं प्रथममवगन्तव्यम्, तदनन्तरं लिङ्गसूत्रात्मनोरैक्यमवगन्तव्यम्। लिङ्गात्मा लिङ्गशरीरम्, **एकादशेन्द्रियगणः, तन्मात्रापञ्चकं षोडशकं लिङ्गशरीरम्।** सूत्रात्मा ब्रह्माण्डावच्छिन्नो वायुः, व(?) लिङ्गशरीरस्याऽर्चिरादिमागप्रापकः। तयोरैक्यमवगन्तव्यम्। स्वापाऽव्याकृतयोः-स्वापः सुषुप्त्यवस्थापन्नः साक्षी प्राज्ञः, अव्याकृतः अविद्याशबलितं ब्रह्म, तयोरैक्यम्। क्षेत्रज्ञो जीवः, परमात्मा = ब्रह्मस्वरूपम्, तयोरैक्यं ज्ञातव्यम्। एवं समयसम्प्रदायरहस्यसङ्क्षेपः। विस्तरस्तु सुभगोदये शारीरके ज्ञातव्यः।

केचित् पञ्चविधैक्यानुसन्धानमिति वर्णयन्ति। अपरे षड्विधैक्यानुसन्धानमावश्यकमिति वदन्ति। तदुभयमपि अत्रैवार्थादन्तर्भूतमिति न विचारणीयम्। अन्त एवोक्तमाचार्यैः सुभगोदये—

''चतुर्थैक्यानुसन्धानान्मणिपूरे महेश्वरीम् ।
चतुर्बाहुं त्रिनेत्रां च प्रत्यक्षीकुरुते वशी ।।' इति।

षड्विधैक्यानुसन्धानं नादबिन्दुकलाविद्यानां परस्परैक्यम्। **नादो नाम श्रीचक्रम्। बिन्दुर्नाम षड् आधारकमलानि। कला नाम पञ्चाशद् वर्णाः। विद्या पञ्चदशाक्षरी। एतेषां तादात्म्यमैक्यम्।** तत् षड्विधं भवन्ति। यथा-नादेन बिन्दोरैक्यम्, बिन्दुना कलाया ऐक्यम्, कलायाश्च नादेनैक्यम्, एवं त्रितयम्। कलायाश्च बिन्दोरैक्यम्, कलाया नादस्यैक्यम्, श्रीविद्याया पञ्चकस्यैक्यमिति षड्विधत्वमैक्यस्येति परमरहस्यं गुरूपदेशवशाद् ज्ञेयम्। एवं षोढैक्यं भगवत्याः सपर्येति विज्ञेयम्।

एवं षड्विधैक्यानुसन्धानमहिम्ना गुरुकटाक्षसञ्जातमहामहिम्ना च भगवती झटिति मूलाधार-स्वाधिष्ठानात्मकचक्रद्वयं भित्त्वा मणिपूरे प्रत्यक्षं प्रतिभाति। महावेधप्रकारः—पूर्वमभ्यासदशायां गुर्वेकपरतन्त्रमहाविद्यां गुरुमुखादेव स्वीकृत्य ऋषिच्छन्दोदेवतापूर्वं मूलमन्त्रस्य शुष्कजपं गुरूपदिष्टमार्गेण कुर्वन् आश्वयुजशुक्लपक्षे महानवमीशब्दाभिधेयाऽष्टम्यां निशि समये गुरोः पादोपसङ्ग्रहणं कर्तव्यम्। तन्महिम्ना गुरोस्तदानीं कर्तव्यहस्तमस्तकसंयोगे पुनर्मन्त्रोपदेशषट्चक्रपूजा-प्रकारोपदेशवशाद् महावेधः शैवः सादाख्यायाः प्रकाशरूपो जायते इति गुरुरहस्यम्।

एवं महावेधे जाते भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति। सा समाराध्या।

अर्घ्यपाद्यादिभूषणप्रतिपादनपर्यन्तं पूजाकलापं मणिपूरे निर्वर्त्य अनाहतमन्दिरं भगवतीं नीत्वा धूपादिनैवेद्यहस्तप्रक्षालनान्तं कर्मकलापं तत्रैव समाप्य विशुद्धौ भगवतीं सिंहासनासीनां सखीभिः संल्लापान् सम्भाषमाणां शुद्धस्फटिकसदृशीं मणिभिः सम्पूजयेत्। शुद्धस्फटिकसदृशमणयो न मौक्तिकादयः, किन्तु तदीयषोडशदलगतषोडशचन्द्रकला इति रहस्यम्। एवं सम्पूज्य आज्ञाचक्रं नीत्वा देवीं कामेश्वरीं नीराजनादिभिरनेकैरुपचारैः सम्पूजयेत्। तदनन्तरं झटिति विद्युल्लतेव सहस्रकमलमनुप्रविश्य सुधाब्धौ पञ्चकल्पतरुच्छायायां मणिद्वीपे सरघामध्ये कामेश्वरेण सार्द्धं विहरमाणा वर्तते। तदा तिरस्करिणीं प्रसार्य समीपमन्दिरे स्वयं निवसेत्। यावत् भगवती पुनर्निर्गता पुनर्मूलाधारकुण्डं प्रविशति, तावत्पर्यन्तं स्थातव्यमिति षड्विधैक्यानुसन्धायिनां समयिनां मतरहस्यम्। श्रीचक्रे त्रिकोणं बैन्दवस्थानमिति तावत् प्रसिद्धम्। तत् त्रिकोणमेव बिन्दुस्थानं भवति। तत् चतुष्कोणमेव। तत्तु सहस्रकमलान्तर्गतचन्द्रमण्डलमिति बहुधा प्रपञ्चितम्। तच्चतुष्कोणमध्यं बैन्दवस्थानं सुधासरघादिशब्दवाच्यम्। तस्मात् बाह्यत्रिकोणपूजा तरुणीत्रिकोणपूजा च दूरत एव निरस्तेति ध्येयम्। अत एवोक्तं सनत्कुमारसंहितायाम्—

'बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः ।
सा क्षुद्रफलदा नृणामैहिकार्थैकसाधनात् ।।

बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः ।
दिगम्बरा ऐतिहासा नामकास्तन्त्रवादिनः ।।

अन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा ।।'१२।। इति।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

बहिर्यागद्रव्याणि बहिर्यागं द्रव्यप्रतिपत्तिञ्च विधातुं द्वादशीमृचमाह परिस्रुतमिति।

झषो मत्स्यः। पलं मांसम्। झषस्याद्यं परिस्रुतः प्रथमस्योत्तरं द्वितीयमित्यर्थः। तेन झषस्तृतीयः। भक्तानि वटकचणकादिमुद्गात्मकानि नानाविधान्यन्नानि। चतुर्थं योनिपदं कुण्डगोलोद्भवोपलक्षणं तत् पञ्चमम्। योनीरिति बहुवचनन्तु ब्राह्मणक्षत्रियादिकतिपयजातिभेदाभिप्रायम्। तदुपबृंहणं कलाष्टकादिपदेन तन्त्रेषु द्रष्टव्यम्। चकारः पञ्चानां समुच्चयपरः। पलस्य झषोत्तरं पठितस्यापि झषात् पूर्वमाद्यपदेन निवेशान्मकाराणां क्रमो विवक्षितो ध्वन्यते। तेन मुख्यालाभे

प्रतिनिधिभिरर्चनस्य न्यायेन मपञ्चकालाभेऽपि 'नित्यक्रमं प्रत्यवमृष्टिः' इति कल्पसूत्रेण च सिद्धत्वेऽपि पूर्वपूर्वालाभे सति नोत्तरोत्तरस्य मुख्यस्य लाभेऽपि ग्रहणमिति द्योतितम्। प्रथममात्रालाभेऽपि चतुर्थस्य नैवेद्यार्थमावश्यकत्वात्तावन्मात्र-ग्रहणं सम्प्रदायलभ्यम्। आज्यमिति शाखान्तरीयपाठे तु घृतमेवार्थः। तत्र पक्वमित्यर्थेन काकाक्षिगोल-कन्यायेनोभयोर्विशेषणम्। अजसम्बन्धीति व्याख्या तु न युक्ता, तन्त्रे विकारार्थकस्य दर्शनात् सूत्रोक्तानां पञ्चत्वादिना परिसङ्ख्या-पत्तेश्च। परदेवतातर्पणमात्रपर्याप्तमात्रस्य लाभेऽपि न प्रतिनिधिना यागः। **बहिर्यागे स्वात्मीकारस्य प्रतिपत्तित्वेन तल्लोपेऽपि बाधकाभावादित्यादिकन्तु षाष्ठ[1]न्यायसिद्धमूहनीयम्।** सुपरिष्कृतानि दृष्टादृष्टासंस्कारैः संस्कृतानि। ते च पाकादिरूपा लौकिकाः, शापमोचनादिरूपा वैदिकाश्च बहवस्तन्त्रेषु प्रसिद्धाः। 'बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तम्' इति न्यायेन कल्पसूत्रमात्रोक्ता वा। महत्यै देवतायै महादेव्यै निवेदयन् यजन् सुकृती बहिर्यागकर्ता तानि स्वात्मीकृत्य स्वयमपि भक्षयित्वा सिद्धिं यागफलम् एति प्राप्नोति। परस्परसमुच्चितप्रथमादिमपञ्चकवता यागेन महादेवीदेवताकेनेष्टसिद्धिं भावयेदिति विधिपर्यवसानादिप्रकारोऽन्तर्यागवदेव द्रष्टव्यः॥१२॥

भाषाव्याख्या

बहिर्यागीय द्रव्य, बहिर्याग और द्रव्य की प्रतिपत्ति (आकीर्णकरतानिवर्तक कर्म) के विधान के लिए दूसरी ऋक् को प्रस्तुत करते हैं—**परिस्रुतं झषमाद्यं पलञ्च।**

परिस्रुत्, मांस, मत्स्य, भक्त और स्त्री, इन पाँच वस्तुओं को महादेवी को अर्पित करके पुण्यात्मा बहिर्यागकर्ता पश्चात् स्वयम् स्वीकार करके सिद्धि (निःश्रेयस) को प्राप्त करता है।

श्रीरामानन्दतीर्थ ने 'आद्यम्' का अर्थ 'भक्षणीय पदार्थ' करके 'पलम्' का विशेषण माना है। श्रीभास्करराय 'आदौ भवम् आद्यम्' अर्थ स्वीकार करके प्रथम 'परिस्रुत्' के बाद 'द्वितीय' अर्थ करते हैं। इस तरह 'झष' तीसरे स्थान पर रहेगा। झष का मत्स्य और पल का मांस अर्थ है। 'भक्त' पद से वटक (बड़ा), चना, मूंग आदि से संस्कृत नाना प्रकार के अन्न संगृहीत होते हैं। भक्त चौथा द्रव्य है। कुण्ड-गोल से उत्पन्न का उपलक्षण (सङ्ग्राहक) योनिपद है। 'योनीः', यह बहुवचन ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कुछ जातियों के भेद को लेकर है। लक्षणा से 'योनि' पद स्त्री का बोधक है। इसका उपबृंहण कलाष्टक आदि पद से तन्त्रों में समझना चाहिये। 'पलञ्च' में आया चकार पाँचों द्रव्यों के समुच्चय को कह

---

१. पू.मी. ६.३.२१. इत्यत्र सिद्धोऽयं न्यायः।

रहा है। पञ्च मकारों के क्रम की विवक्षा को कहते हैं—**पलस्य**। 'पल' का पाठ यद्यपि 'झष' के बाद है तथापि 'आद्य' विशेषण के बल से 'झष' के पूर्व निवेश होने के कारण क्रम की विवक्षा ध्वनित हो रही है। विवक्षा के प्रयोजन को इङ्गित करते हैं—**तेन मुख्यालाभे**। क्रम की विवक्षा होने के कारण मुख्य द्रव्य का लाभ न होने पर प्रतिनिधि द्रव्य से पूजन न्यायतः सिद्ध होता है, अतः पञ्च मकारों की प्राप्ति न होने पर भी **'नित्यक्रमं प्रत्यवमृष्टिः'**, इस परशुराम कल्पसूत्र से सिद्ध होने पर भी पूर्व-पूर्व द्रव्य का लाभ न होने पर उत्तर-उत्तर (बाद वाले) मुख्य द्रव्य का लाभ होने पर भी प्रतिनिधि ग्रहण नहीं होता, यह बात प्रकट होती है। केवल प्रथम द्रव्य की प्राप्ति न होने पर भी चतुर्थ द्रव्य अन्न नैवेद्य के लिए आवश्यक है, अतः केवल उसी चतुर्थ द्रव्य को स्वीकार किया जायेगा, यह तथ्य सम्प्रदाय से प्राप्त है। 'आद्यम्' की जगह 'आज्यम्' पाठ यदि किसी शाखा में है तो उसका 'घृत' अर्थ ही है। वहाँ 'पक्वम्' पाठ अर्थतः काकाक्षिगोलकन्याय से दोनों का विशेषण होगा। 'आज्य' की अज (बकरा) से सम्बन्धित व्याख्या उचित नहीं। इसमें हेतु प्रदर्शित करते हैं—**तन्त्रे विकारार्थकस्य**। तन्त्र में विकारार्थक तद्धित दिखायी देता है, अतः आज्य का अजविकार अर्थ ग्रहण करेंगे तो सूत्रोक्त द्रव्यों का पञ्चत्व आदि से वर्जन होने लगेगा। यदि परदेवता की तृप्ति में पर्याप्त द्रव्य प्राप्त हो जाय तो प्रतिनिधि द्रव्य से याग नहीं करना चाहिये, इस न्यायलभ्य अर्थ को ध्वनित करते हैं—**परदेवतातर्पणमात्र**। परदेवता की तृप्ति के लिए ही सारे द्रव्यों का विधान है। यदि कतिपय प्राप्त द्रव्यों से ही तृप्ति हो जा रही हो तो प्रतिनिधि का ग्रहण नहीं होना चाहिये, यह अभिप्राय है। याग में उपयुक्त द्रव्य का उचित स्थानों में यथाविधान सन्निवेश ही आकीर्णकरतानिवर्तक होने के कारण प्रतिपत्तिकर्म कहा जाता है जिसका संयोगवश लोप होने पर भी याग की पूर्णता मानी जाती है, इस न्याय को यहाँ अर्पित द्रव्यों के स्वात्मीकार (प्रसाद के रूप में ग्रहण) में दिखाते हैं—**बहिर्यागे स्वात्मीकारस्य**। बहिर्याग में देवता को समर्पित परिस्रुत् आदि द्रव्यों का स्वात्मीकार प्रतिपत्तिकर्म माना गया है, अतः उसका लोप होने पर भी किसी प्रकार की बाधा नहीं है, इसका ज्ञान पूर्वतन्त्र में षाष्ठ न्याय से कर लेना चाहिये। छठे अध्याय के अन्तिम इक्कीसवें अधिकरण में दर्शपूर्णमासीय व्रीहि द्रव्य को लेकर यह विचार किया गया है कि पुराडाशत्व जाति में ही समर्थ स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों के लिए अपर्याप्त व्रीहि की प्राप्ति होने पर 'नीवार' प्रतिनिधि से याग होना चाहिये कि नहीं? अधिक संख्या में विद्यमान शेष कार्यों का बाध न हो, अतः व्रीहिशास्त्र (वीहिभिर्यजेत) का बाध होना चाहिये। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त प्रस्तुत है कि नीवार को लेने पर पुरोडाशभाव को प्राप्त व्रीहि के अवयव विकल होने लगेंगे, अतः प्रधान 'आग्नेय' याग का वैगुण्य न हो इसके लिए प्रतिनिधि का ग्रहण नहीं होना चाहिये। शेष कार्यों का आदर न करते हुए व्रीहि से ही पुरोडाश बनाना चाहिये। यहाँ प्रधान याग यदि मुख्य द्रव्य से सम्पन्न हो रहा है तो प्रतिपत्ति कर्म के अनुरोध से प्रतिनिधि का ग्रहण न हो, यह सिद्धान्त है। मन्त्र में आये कतिपय अवशिष्ट पदों का अर्थ करके वाक्यार्थ का निरूपण करते हैं—**सुपरिष्कृतानि दृष्टादृष्टसंस्कारैः संस्कृतानि**। बहिर्यागों का दृष्ट और अदृष्ट संस्कार होना

चाहिये तभी वे हव्य के रूप में प्रतिष्ठित होंगे, यह अभिप्राय है। पाक आदि लौकिक संस्कार दृष्ट प्रयोजन वाले होते हैं तथा तन्त्रों में शापविमोचन आदि बहुत से अलौकिक अदृष्ट संस्कारों का उपदेश है। वेद से ही प्राप्त होने पर अलौकिकत्व स्वीकार किया जाता है। **'बह्वल्पोक्तं वा स्वगृह्योक्तम्'**, इस न्याय से कल्पसूत्रों में ही उक्त संस्कार दृष्ट होते हैं। महादेवी का उक्त द्रव्यों से यजन करने वाला बहिर्यागकर्ता उन द्रव्यों का स्वयम् भक्षण करके यागजन्य फल को प्राप्त करता है। मन्त्रलिङ्ग से बहिर्यागविधि का उन्नयन करते हैं—

परस्परसमुच्चितप्रथमादिमपञ्चकवता यागेन महादेवीदेवताकेनेष्टसिद्धिं भावयेत्।

'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' की तरह यहाँ विशिष्टविधि का उन्नयन है। परस्पर समुच्चित (संमिलित) परिस्रुत् आदि पाँच द्रव्यों वाले तथा महादेवी देवता वाले याग से सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। यह विधिकल्पना अन्तर्याग के समान है।।१२।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेन प्रतिबध्नात्यभीकान् ।
इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या ।।१३।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

एवं श्रीदेव्याः पूजाविशेषान् सप्रपञ्चं निरूप्य तस्या इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव कामक्रोधमनस्तन्मात्ररूपाः पाशाङ्कुशपुण्ड्रेक्षुचापपञ्चकुसुमबाणात्मना परिणताः। ताभिरुपासकान् पालयन्ती तदिरान् ताभिरेव व्यामोहयन्तीव भातीत्याह—

'सृण्येवे' त्यादि। सृण्या = अङ्कुशरूपया, ज्ञानशक्त्येत्यर्थः। विश्वचर्षणीः स्वभक्तजनान् भेदप्रतीकमोहशास्त्रेभ्यो व्यावर्तयन्तीति शेषः। अभीकान् कामुकान् भक्तिहीनान् क्रोधाकारेणाऽङ्कुशेन भेदप्रतिपादकमोहशास्त्रेष्वाकृष्य प्रवर्तयन्तीवेति वाक्यशेषः। पाशेन पाशरूपया ज्ञानशक्त्येत्यर्थः। उपासकान् स्वात्माभिन्नत्वेन प्रतिबध्नन्ती तदितरान् कामुकान् रागस्वरूपेण पाशेन अत्यन्तभेदबुद्ध्युपहितत्वेन प्रतिबध्नाति इत्यर्थः। इषुभिस्तन्मात्रपुष्पबाणैः पञ्चभिः पञ्चसङ्ख्याकैः अरविन्दाऽशोक-चूतनवमल्लिकानीलोत्पलाख्यैः पञ्चतन्मात्ररूपपुष्पशररूपैरिति यावत्। धनुषा विध्यति मनोरूपेक्षुचापात्मिकया क्रियाशक्त्या स्वभक्तान् स्वभिन्नाकारवर्जितान् कुर्वती कामुकान् स्वभिन्नाकारान् मनोरूपेक्षुदण्डेन पञ्चतन्मात्रसायकेन विध्यति विध्यतीवेत्यर्थः। आदिशक्तिः पराशक्तिः। तथा च श्रीवामकेश्वरतन्त्रे—

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जाता महेश्वरी'। इति।

अरुणा अरुणाख्या। तथा च भगवत्पादाः—

'जगत् त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा' इति।

अरुणवर्णा वा—

'निजाऽरुणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्माण्डमण्डला'

इति सहस्रनामस्तोत्रे पठितत्वात्। विश्वजन्या विश्वजनयित्री।

'बह्वीः प्रजाः सृजमानाः'

इति श्रुतेः। ब्रह्माण्डपुराणे च—

'सैव निःशेषविश्वानां सवित्री ललितेश्वरी' इति।

अयं भावः—पाशः स्वात्माऽभेदबन्धनसाधनभूतेच्छाशक्तिस्वरूपः, अङ्कुशः स्वस्वरूपाऽभेददर्शनोपायात्मज्ञानशक्तिमयः, इक्षुचापेषुपञ्चके तु स्वभिन्नाकारवर्जन-साधनभूतक्रियाशक्तिस्वरूपे ज्ञानक्रियाशक्तय एव पाशादिस्वरूपमापन्नाः। ताभिरुपासकान् मोचयन्ती कामुकान् विमोहयन्त्येव भातीति। तथा च चतुःशत्याम्—

'इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाण-धनुषी दधदुज्ज्वलम् ।।' इति।

सुभगोदयवासनायामपि—

'देव्याः संवित् (सु) सत्तायां भेदोद्दलनहेतुकाः ।
आयुधाख्याः पराशक्तिबाणाद्याः पूजयाम्यहम् ।।' इति।

'यथा न्यग्रोधबीजस्थशक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतत् सकारणम् ।।' इति।।१३।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

देवतायाः सगुणं ध्यानं कृत्वङ्गमुदेष्टुं त्रयोदशीमृचमाह—सृण्येवेति।

सृण्येव सितयेति इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। सितया श्वेतया रजतमय्या सशयोरभेदान्निशितया तीक्ष्णधारया वा सृण्या अङ्कुशेनेवोपलक्षिता विश्वजन्या विश्वं जन्यं यस्यास्सा विश्वजननी अरुणा लौहित्यवती आदिशक्तिः महात्रिपुरसुन्दरी विश्वचर्षणिः प्राणिमात्रस्य शुभाशुभकर्मद्रष्ट्री तथा अभीकान् कामुकान् तृष्णया लौल्येनेह मार्गे प्रवर्तमानान् भ्रष्टान् प्रतिबध्नाति तान् बध्वा धनुषा पञ्चभिरिषुभिः बाणैः विध्यति च। अधः पातयतीति यावत्। तृष्णाहीनान् वैधधिया प्रवर्तमानान् ऊर्ध्वं नयतीति तु विधिसिद्धमेवेति पूनर्नोक्तम्। तदुक्तम्—

'विधिबुद्ध्यैव सेवेत तृष्णया चेत् स पातकी ।

यैरेव पतनं द्रव्यैर्मुक्तिस्तैरेव चोदिता ।।
अभीकस्यानभीकस्येत्येवमेते व्यवस्थिताः।।'

इत्यादि। सृण्येवेति द्विविधा सृणिर्भवति-भर्त्ता च हन्ता चेति यास्कः। इव शब्दस्सर्वत्रान्वितस्सन् सगुणरूपस्य भक्तानुग्रहार्थं कल्पितत्वेन निर्गुणरूपस्यैव पारमार्थिकत्वं व्यञ्जयति ।।१३।।

भाषाव्याख्या

देवता का सगुण ध्यान क्रतु (याग) का अङ्ग है जिसके उपदेश के लिए ऋग्वेद पुरुष तेरहवीं ऋक् को प्रस्तुत करते हैं—**सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः।**

'सृण्येव सितया' में इत्थम्भूतलक्षण में तृतीया विभक्ति है, अतः सित = श्वेत वर्ण वाली रजतनिर्मित या तीक्ष्ण धार वाली सृणि = अङ्कुश से उपलक्षित विश्वजननी का बोध होगा। विश्वं जन्यं कार्यं यस्याः सा विश्वजन्या = जगज्जननी पराम्बा भगवती अरुण (रक्त) वर्ण वाली आदिशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी हैं। वे विश्वचर्षणी अर्थात् प्राणिमात्र को उनके शुभ या अशुभ कर्मों की साक्षिणी अर्थात् अन्तर्यामिणी हैं। वे अभीका = कामुक अर्थात् चञ्चलता के कारण इस याग में प्रवर्तमान भ्रष्ट पुरुषों को प्रतिबन्धित करती हैं तथा उन्हें पाँच बाणों और धनुष से वेधती हैं। इसका तात्पर्य लिखते हैं—**अधः पातयतीति यावत्।** पञ्च बाण काम के प्रसिद्ध हैं जिससे सिद्ध होता है कि उन्हें कामासक्त बना कर अधोमार्ग नरक में पटक देती हैं। इसको और सुस्पष्ट करते हैं—**तृष्णाहीनान् वैधधिया प्रवर्तमानान् ऊर्ध्वं नयतीति विधिसिद्धमेवेति पुनर्नोक्तम्।** एषणात्रय से ग्रस्त सांसारिक पुरुषों को रहस्यमय कर्मों में प्रवृत्त होने पर नरक प्रदान करती हैं, इससे अर्थात् सिद्ध हो रहा है कि जो तृष्णा से रहित होकर वैध दृष्टि से उपासना करते हैं उन्हें ऊर्ध्व लोकों को प्रदान करती हैं। अन्यत्र भी कहा गया है—

'विधिबुद्ध्यैव सेवेत तृष्णया चेत् स पातकी।'

वेद का विधान है, ऐसा समझ कर ही बहिर्याग में प्रवृत्त होना चाहिये। तृष्णा से प्रवृत्त होने वाला पातकी है। जिन सुरा आदि द्रव्यों से वेद में पतन कहा गया है उन्हीं से मुक्ति का भी उपदेश है। कामुक के लिए पतन और अकामुक साधक के लिए मुक्ति का उपदेश है, यह व्यवस्था समझनी चाहिये। यास्क ने सृणि के दो प्रकारों को प्रकट किया है- भर्ता और हर्ता। एक भरण करता है, तो दूसरा संहार। यथाशास्त्र चलने वालों के लिए भगवती का शस्त्र पोषक है, यह अभिप्राय है।

'इव' शब्द सर्वत्र अन्वित होता हुआ यह प्रकट करता है कि देवता का सगुण-साकार रूप भक्तों के ऊपर कृपा करने के लिए कल्पित है। इससे निर्गुण रूप की पारमार्थिकता द्योतित होती है।।१३।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उमा दातारावेिह सौभगानाम् ।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः ।।१४।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

एवम् इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तय एव आयुधात्मना परिणता इति प्रतिपाद्य परशिवस्यापि प्रतिपादितोऽर्थः समान इति समप्रधानन्यायादिना द्रढयति-भगः शक्तिरित्यादिना।

भग श्री सौभाग्यलक्ष्मीरित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'आस्ते आसीन-स्योर्ध्वस्तिष्ठतश्च तेन पद्यमानस्य चरति, चरतो भग' इति। स एव शक्तिः, शिवाऽभिन्ना शक्तिः। **'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्'** इति श्रुतेः। ऐश्वर्यादयो वा 'भग' शब्देन कथ्यन्ते।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैवं षण्णां भग इतीरणा ।।'

इति वचनात्। भगवान्—श्रीमान् समृद्धिमान् उत्पत्त्यादिवेत्ता वा। अत्र श्रुतिस्मृत्यादयः—'अथ कस्मादुच्यते भगवानिति? यः सर्वान् भावानीक्षति आत्मज्ञानं निरीक्षयति योगं गमयति, तस्मादुच्यते भगवानिति। 'ॐ यो वै रुद्रः भगवान्, यच्च ब्रह्मेत्यादि, वाक्यजातम्। 'षडध्वनयनो महादेवो वृषध्वज' इति च।

रामायणं च—

'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।।'

एवम्भूतो भगवान् काम ईशः—कामेश्वर इत्यर्थः। पदद्वयमुक्तार्थम्। उभा कामेश्वरीकामेश्वरौ। सौभगानां—सौभाग्यानाम्। उभा दातारौ शक्तिशक्तिमतोर-विनाभावादुभयोरपि दातृत्वम्। श्रुतिश्च 'भग एव भगवाँ अस्तु, देवा इति, तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च। आयुः कीर्तिं प्रजां ददु'रिति। उभयोरभेदं दातृत्वं प्रतिपादयति, तदुभयप्राधान्यमेव विशदयति—'समप्रधानावि' त्यादिना। समप्रधानौ तुल्यप्रकृतिकौ, अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन। यद्यपि उपादानकारणं शक्तिः, निमित्तकारणं शिव इति प्रसिद्धम्, तथापि शिवाऽभिन्ना चेत् सा ब्रह्मविद्या समाना 'सैव देवता सा श्रीविद्येति' श्रुत्युक्तरीत्या शिवशक्त्योरत्यन्ताऽभेदादभिन्ननिमित्तोपादानत्वं

सिद्धम्। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'। 'सर्वधर्मोपपत्तेश्चे'त्यादिन्यायेनेत्यर्थः। रहस्याम्नाये च—

'पराख्यायां शिवेहायां सत्यां साऽपि मृता तथा ।
अजायतापराणोख्य-बाजाङ्कुर इव प्रिये ।।

इत्यादिना वीजाङ्कुरन्यायेन शिवयोः समप्राधान्यमुक्तम्। समसत्त्वौ समतत्त्वात्मकौ, उक्तलक्षणादेव।

'विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां प्रकाशामर्शरूपिणीम् ।
परापरमयीं देवीमात्मत्वेन विचार्यताम् ।।'

इत्यागमोक्त्या च 'समसत्त्वता' सिद्धा। समोजौ सममोजो ययोस्तौ समोजौ समोजसावित्यर्थः। छान्दसत्वादकारान्तत्वम्। 'ओज इन्द्रियबलम्, यश्चाऽऽधारमोजशब्द आधारवाचक' इति भाष्यकारवचनात् श्रीचक्रमभिधीयते। तस्य तदुभयात्मकत्वेन तदाधारत्वात् समोजौ। तयोः शक्तिशक्तिमतोर्मध्ये शक्तिः श्रीदेवी, अजरा अपक्षयरहिता, षड्भावविकारशून्येति यावत्। विश्वयोनिः, विश्वस्य जगतो योनिः उपादानकारणत्वं सम्यगुक्तम्।

एषा चिच्छक्तिः। द्विरूपासङ्कोचविकासभेदात्। जीवात्मतया सङ्कोच-रूपा, बाह्यात्मतया विकासरूपा च। यथोक्तं चिदानन्दवासनायाम्—'विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां प्रकाशामर्शरूपिणीम्। (परापरमयीं देवीमात्मत्वेन विचार्यता'ति।) तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—'सैव निःशेषा विश्वानां सवित्री ललितेश्वरी'ति। रहस्योपनषदि च—'यद् दृश्यते तदानन्दयोनिः, तेन जीवति। तदेषाभ्युक्ता पारो वा एष आनन्दः संभोगयोनिः, कामरूपवती, स आनन्दयोनिः, आनन्दो ब्रह्म, ब्रह्मैषा देवी एकानेकप्रपञ्चस्येति स्यादि'ति। आगमश्च—

'एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः ।
यस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः ।।

विमर्शाख्या च देवी सा पञ्चकार्यसमागता ।
आकाशानिलसप्तार्चिःसलिलावनिभेदतः ।।

एकैकगुणवृत्त्या तु तिथिसङ्ख्यात्वमागता ।।' इति।

कामकलाध्यानेऽपि रक्तबिन्दोर्जगत्कारणत्वं प्रतिपादितम्—

'स्फुटितादरुणाद् बिन्दोर्नादब्रह्माङ्कुरो रवोऽव्यक्तः ।
तस्माद् गगनसमीरणदहनोदकवर्णसम्भूतिः ।।' इत्यादिना।

श्रीमद्भगवद्गीतासु च—

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः'।

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया' ।।

'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत! ।।'

इति शक्त्या एव जगदुपादानकारणत्वं सम्यगुक्तम् ।

छान्दोग्ये च—

'सेयं देवतैक्षत हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवताः, अनेन जीवेना-ऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणी'ति प्रतिपादिता। 'साऽब्रवीत्—अहं ब्रह्म स्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। आनन्दो ब्रह्म, ब्रह्मैषा देवी'त्यादिश्रुतय एवं श्रीदेव्याः ब्रह्मात्मकत्वं प्रकटयन्ति।

अयं भावः—सङ्कोचरूपायाः शक्तेर्जीव इति व्यवहारः साभासः, बुद्ध्युपहितस्वजीवस्याऽनुरूपत्वात्। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य' इति श्रुतेः। अन्या एव शक्तिरिति च व्यवहारः। विकासरूपस्तु 'शिव' इति 'ब्रह्मे'ति च व्यवहारः। तयोर्व्यापकत्वयोगादिति।।१४।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

सगुणस्य कल्पितत्वादेव स्त्रीपुंसरूपयोः समप्राधान्यमुपदेष्टुं चतुर्दशीमृचमाह भगश्चेति—

भगोऽपीशपर्यायः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानविज्ञान-योश्चैव षण्णां भग इतीरणा' इत्यादिस्मृतिष्वीशस्य शरीरघटको यावान् धर्मराशिः स सर्वोऽपि भगपदेनेह निर्दिष्टः। तादृशो धर्मसमूह एव शक्तिरित्युच्यते। उपास्यत्वेन वर्णितायाः स्त्रीरूपाया देवताया इदं स्वरूपम्। तदुक्तं नागानन्दसूत्रे प्रकाशात्मनो ब्रह्मणः स्वभावात्मकविमर्शं प्रक्रम्य—

'एष एव विमर्शश्चितिश्चैतन्यमात्मा स्वरसोदिता परा वाक् स्वातन्त्र्यम् परमात्मोन्मुख्यमैश्वर्यं सतत्त्वं सत्ता स्फुरत्ता सारो मातृका मालिनी हृदयमूर्मिः स्वसंवित् स्पन्द इत्यादिशब्दैरागमैरुद्घुष्यते' इति।

एतेषां धर्मविशेषाणां विवरणं तद्भाष्य एव द्रष्टव्यम्। भगवान् तादृशधर्मविशिष्ट एव काम ईशः कामेश्वरः। इदमेवोपास्यदेवतायाः पुमात्मकं रूपम्। इह उपासनायां सौभगानां धमार्थकामरूपाणां दातारौ उभावपि एकस्या एव देवताया द्वेधापि

सगुणध्याने त्रिवर्गसिद्धिरित्यर्थः। **समप्रधानौ समसत्त्वौ** सत्त्वशब्दो गुणपरस्तेन परस्परं गुणगुणिभावापन्नावित्यर्थः। कामेश्वर्याः कामेश्वराङ्कनिलयत्वेन ध्याने शिव आधारत्वात् गुणः, शक्तिः प्रधानं शिवस्यार्धाम्बिकासमायुक्तत्वेन ध्याने करशीर्षाद्यवयवविशेषरूपत्वाच्छक्तिर्गुणः शिव एव प्रधानमिति भावः। एवमभिमत-फलदानसामर्थ्यस्यान्योन्यगुणप्रधानभावस्य साम्येऽपि जगत्कर्तृत्वांशः शक्तिनिष्ठ एव। तेन स्त्रीरूपध्यानेनैव शीघ्रं फलसिद्धिरिति ध्यायन् आह—**समोतयोरिति।** सम्यक् परस्पराभेदेनोतयोर्मिलितयोरर्द्धनारीश्वररूपयोः शिव-शक्त्योर्मध्ये समशक्तिः सर्वशक्तिर्निखिलधर्मसमूहात्मिका देव्येव विश्वयोनिः जगत्कर्त्री। तथा च शक्तिसूत्रम्—**'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'** इति। समशब्द 'उरुष्याणो अद्यायतः समःस्यात्' इत्यादौ प्रसिद्धस्सर्वपर्यायः। **अजरेति** विश्वयोनित्वांशे विशेषणम्। जगत्कर्तृत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेन शङ्काकलङ्करहित-त्वादृतमित्यर्थः। तदुक्तं भागवते—

> **'शक्तिः करोति ब्रह्माण्डं सा वै पालयतेऽखिलम् ।**
> **इच्छया संहरत्येषा जगदेतच्चराचरम् ।।**
>
> **न विष्णुर्न हरो नेन्द्रो न ब्रह्मा न च पावकः ।**
> **नार्को न वरुणः शक्ताः स्वे स्वे कार्ये कथञ्चन ।।**
>
> **तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः ।**
> **कारणं सर्वकार्येषु प्रत्यक्षेणावगम्यते ।।'** इति।

अन्यत्रापि—

> **'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः ।**
> **शक्तिहीनोऽपि यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः ।।'**

इत्यादि। विशेषस्सेतुबन्धे द्रष्टव्यः। तेन शिवस्य विद्यमानमपि फलदातृत्वादिकं शक्त्यधीनत्वाद्विलम्बितम्, शक्तेस्तु निरपेक्षत्वादविलम्बितमिति शीघ्रप्रसिद्धिकामैः स्त्रीरूपैव देवता ध्यातुं युक्तेति भावः ।।१४।।

भाषाव्याख्या

सगुण देवता के कल्पित होने के कारण ही स्त्री-पुरुषरूप के समप्राधान्य के उपदेश के लिए चौदहवीं ऋक् को कहते हैं—**भगःशक्तिर्भगवान्।** भग = छः प्रकारों वाला ऐश्वर्य या श्री ही शक्ति हैं और भगवान् कामेश्वर ही ईश हैं। ये दोनों इस संसार में भक्तों को सौभाग्य प्रदान करते हैं। यद्यपि शक्ति श्री और शक्तिमान् कामेश्वर श्रीनारायण तुल्य

प्रधानता वाले तुल्य गुण (सत्त्व) वाले और समान बल वाले हैं तथापि दोनों में शक्ति ही अजरा और विश्व की योनि हैं, यह श्रीरामानन्दतीर्थ के अनुसार अक्षरार्थ योजना है।

'भग' पद की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—**भगोऽपीशपर्यायः।** 'भग' भी ईश का पर्याय है ('भग ईशः', इस तरह 'भग' का 'ईश' से सम्बन्ध करने पर पर्यायता सिद्ध होती है। अतएव **'उभा दाताराविह सौभगानाम्'**, यह वाक्य उपपन्न होगा।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।'

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, कीर्ति, श्री, ज्ञान और वैराग्य को भग कहते हैं। स्मृतियों में ईश का शरीरसम्पादक जितना धर्मसमुदाय है वह सभी 'भग' पद से निर्दिष्ट है। इस प्रकार का धर्मसमुदाय ही शक्ति है। उपास्य के रूप में वर्णित स्त्रीरूप देवता का यह स्वरूप है। इसी अभिप्राय से श्रीरामानन्दतीर्थ ने 'भग' का अर्थ 'सौभाग्यलक्ष्मी' किया है। इस तथ्य को नागानन्दसूत्र से प्रमाणित करते हैं—**तदुक्तं नागानन्दसूत्रे।**

प्रकाशरूप ब्रह्म के स्वभावरूप विमर्श को प्रस्तुत करके **'एष एव विमर्शश्चिति-श्चैतन्यमात्मा स्वरसोदिता परा वाक् स्वातन्त्र्यं परमात्मौन्मुख्यमैश्वर्यं सतत्त्वं सत्ता स्फुरत्ता सारो मातृका मालिनी हृदयमूर्मिः स्वसंवित् स्पन्द इत्यादिशब्दैरागमैर्घुष्यते'**, इस वाक्य में विमर्श के पर्यायों का ही निर्देश है। इन सभी धर्मविशेषों का तदीय भाष्य में विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन धर्मों से विशिष्ट पुरुष ही भगवान् हैं जो काम, ईश अर्थात् कामेश्वर हैं। सर्वकामनाप्रदायकत्वेन भगवान् को कामेश्वर कहा गया है। यही उपास्य देवता का पुरुषरूप है। इस उपासना में सौभाग्य अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के प्रदाता ये दोनों हैं। एक ही देवता का दो प्रकार से सगुण ध्यान होने पर उक्त त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। दोनों सगुणरूप देवताओं के समप्राधान्य का प्रतिपादन सयुक्तिक करते हैं— **समप्रधानौ समसत्त्वौ।** 'सत्त्व' शब्द यहाँ गुण का वाचक है जिससे सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुष के रूप में दोनों देवता गुणगुणिभाव को प्राप्त हैं। कामेश्वरी कामेश्वर के अङ्क में रहती हैं, इस तरह से ध्यान करने पर शिव आधार के रूप में उपकारक होने से गुण (उपसर्जन, अप्रधान) होंगे तथा भगवती त्रिपुरसुन्दरी की प्रधानता होगी। शिव की अर्ध अम्बिका के रूप में ध्यान होने पर हाथ, मस्तक आदि अवयवविशेषरूप होने से शक्ति ही गुण है और शिव प्रधान हैं। इसी भाव से शक्ति और शक्तिमान् शिव को 'समप्रधानौ' कहा गया है। इस तरह अभीष्ट फल के प्रदान में दोनों का सामर्थ्य परस्पर गुणप्रधानभाव को प्राप्त होता है जिससे दोनों की समानता सिद्ध होती है तथापि जगत् का निर्माणकर्तृत्व शक्ति में ही निहित है, इस वस्तु को कहते हैं—**एवमभिमतफलदानसामर्थ्यस्य।** इस तरह स्त्रीरूप के ध्यान की विशिष्टता सिद्ध होती है जिससे शीघ्र फल की प्राप्ति होती है, इस बात का ध्यान करते हुए ही ऋग्वेद पुरुष ने मन्त्र में 'समोतयोः' कहा है। 'समोतयोः' ऐसा शाखाभेद से एक पद मानकर आचार्य अर्धनारीश्वर के रूप में व्याख्या करते हैं— **सम्यक् परस्पराभेदेनोतयोर्मिलित-योरर्धनारीश्वररूपयोः शिवशक्त्योर्मध्ये।** सम्यक्

रूप से आपस में मिले हुए अर्धनारीश्वरस्वरूप शिव और शक्ति के बीच समशक्ति अर्थात् पूर्वोक्त सम्पूर्ण ऐश्वर्यादिधर्मसमुदाय के रूप में अवस्थित शक्ति श्रीदेवी ही विश्व की योनि अर्थात् संसार की निर्मात्री हैं। इसमें शक्तिसूत्र भी उपोद्वलक है जिसे आचार्य उपस्थापित करते हैं—**तथा च। 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'**। इसका भाव पूर्वोक्त ही है। 'समशक्तिः' में 'सम' शब्द 'सर्व' का पर्याय है। 'अजरा' विश्वयोनित्व अंश में विशेषण है। इसका फलितार्थ प्रस्तुत करते हैं—**जगत्कर्तृत्वम्**। शक्ति ही संसार की रचना करती हैं, यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, अतः शङ्काकलङ्क से शून्य होने के कारण शक्ति में ही जगत्कर्तृत्व सत्य है। श्रीभागवत में भी कहा है जिसका यह अक्षरार्थ है- शक्ति ही ब्रह्माण्ड का निर्माण करती है और सभी का पालन करती है। अपनी इच्छा से चराचर जगत् का संहार भी शक्ति ही करती है। अपने-अपने कार्य को करने में शक्ति के विना विष्णु, हर, इन्द्र, ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य और वरुण किसी भी तरह से समर्थ नहीं हो सकते। शक्ति से सम्पन्न होने पर ही वे अपने कार्यों को करते हैं। सारे कार्यों में शक्ति की कारणता अन्वय-व्यतिरेक से प्रत्यक्ष जैसी ही निश्चित होती है।

'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
शक्तिहीनोऽपि यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः।।'

इत्यादि वचनों से शक्ति का ही सर्वकार्यकरत्व सिद्ध हो रहा है। आचार्य ने विस्तृत इसका विचार सेतुबन्ध में किया है। इस तरह शिव में विद्यमान फलप्रदायकत्व शक्ति के अधीन होने से विलम्बित है। शक्ति में फलप्रदायकत्व अविलम्बित है, इसीलिए शीघ्र सिद्धि चाहने वाले स्त्रीरूप देवता की उपासना करें।।१४।।

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

परिस्रुता हविषा भावितेन प्रसङ्कोचे गलिते वे मनस्तः ।
सर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ।।१५।।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

अत्र 'सङ्कोचरूपायाश्चिच्छक्तेरुल्लास एव सकलपुरुषार्थावाप्तिपूर्वकाऽऽत्मज्ञानप्रकाशकत्वेन जीवब्रह्मसमरसीभावमोक्षहेतुरित्याह परिस्रुतेत्यादि'ना।

परिस्रुता सर्वतो द्रवता, हविषा हूयते इति हविः, सूत्रात्मा प्राणः। तस्य चन्द्ररूपत्वाद् द्रवत्वं हविष्ट्वं च। तथा च श्रुतिः—'अथैतस्य प्राणस्य आपः शरीरम् ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः, तद् यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्र इति। सोमोऽयमुत्तमं हविः। सोम एवाऽन्नमग्निरन्नाद' इति च सोमस्य परिस्रुतत्वं श्रुतिप्रसिद्धम्। 'पुनाति ते परिस्रुतं सोमः सूर्यस्य दुहिता' इति, 'आपोमयः प्राणः, प्राण आपः' इत्यादि श्रुत्या प्राणस्याप्स्वरूपत्वं सिद्धम्।

अतः परिस्त्रुद्धवि:शब्दाभ्यां सूत्रात्मा प्राण एवोच्यते। तेन प्राणेन कीदृशेन? भावितेन शोधितेन, ज्योतिष्टोमादौ महाभिषवेऽभिषुतः सोमो दशापवित्रेण यथा पाव्यते, तद्वत्। प्राणोऽपि शीर्षतः पादतश्च प्रविष्टयोः ज्ञानक्रियाशक्तिमतोर्मध्ये प्रज्ञाप्राणयोर्मध्ये 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मेति विचिन्त्य, येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चाऽस्वादु च विजानाति स आत्मे'ति मत्वा; तत्साधनतया 'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा तुष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुः सुरसः कामेश्वर इति सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति' इति तस्य नामान्तराण्युपन्यस्य; एष ब्रह्मैव इन्द्र एषः प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवीवाय्वाकाशा-ऽपोज्योतींषीत्येतानि च क्षुद्रामिश्रार्णवबीजानीतराणि चाऽण्डजानि च जरायु जानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनः यत् किञ्चेदं प्राणिजङ्गमं च पतत्रि च, यच्च स्थावरम्, सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्, प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठेति प्रज्ञायाः सार्वात्म्यं प्रतिपाद्य; 'प्रज्ञानं ब्रह्मे'ति निर्विशेष—ब्रह्मात्मकत्वं चैतरेयोपनिषदि प्रतिपाद्यते। इत्येवं प्रकारेण विचारेण भाव्यत इति भावः। तेन भावितेन। सङ्कोच जीवात्मनि प्राणे। प्राणस्य जीवत्वं सङ्कोचत्वं च समष्टिजीवघनहिरण्यगर्भव्यष्टिरूपत्वात्। हिरण्यगर्भस्य समष्टि-जीवत्वं च 'स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत' इत्यादि श्रुतिसिद्धम्। स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष इत्यादिस्मृतेश्च। बृहदारण्यके पञ्चमाध्याये शाकल्यब्राह्मणे 'कति देवा याज्ञवल्क्ये'त्यादिप्रश्नोत्तरत्वेन, 'त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्रीच सहस्रे'ति महासङ्ख्यां 'त्रयस्त्रिंशदि'ति मध्यमसङ्ख्यां एक इत्यल्पसङ्ख्यां चोक्त्वा, 'कतमे ते त्रयश्च त्री चते' त्यादि प्रश्नानां 'महिमान एवैषामेत' इत्याद्युत्तरपुरस्सरम्, 'कतम एको देव' इति चरमप्रश्नस्य 'प्राण' इति, स ब्रह्मेत्याचक्षत' इति शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्येन प्राणस्यैकत्वं प्रतिपादितम्। तस्माच्च प्राणस्य सङ्कोचत्वं सिद्धम्।

तस्मिन् सङ्कोचे जीवे, प्रगलिते प्रनष्टे सति, मनसोऽणुत्वात् तदुपहित-स्याणुत्वमत उपाधिभूतस्य मनसो नाश एव उपहितस्य जीवस्य नाशः 'ध्यायतीव लेलायतीवे'ति श्रुतेः। वैमनस्कः विगतमनाः, सम्प्राप्तमनोनाश इति यावत्। सर्व उपसंहारकाले चराचरात्मकं जगत् शृणाति हिनस्तीति सर्वः शिवः, 'कृशृगृद्धभ्यो व' इति वप्रत्ययः। परिपूर्णब्रह्मस्वरूपः। तथा च श्रीभगवत्पादाः— 'मात्रादीनां स्वात्मविकासात्म-विरोधमि'ति। अतः स एव सर्वस्य समस्तस्य

चराचरात्मकस्य जगतः प्रपञ्चस्य विधाता स्रष्टा, भर्ता रक्षकः, हर्ता संहारकश्च सन्, विश्वरूपत्वं प्रपञ्चाकारतां च एति प्राप्नोति।

'जन्माद्यस्य यतः' इति जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणः सूत्रकृता लक्षणेन प्रतिपादितम्। 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्, तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणामि'ति श्रुत्युक्तरीत्या 'ब्रह्मात्मानुसन्धाता ब्रह्मैवे'ति तस्य जगज्जन्मादिकारणत्वं सिद्धमि'ति ध्येयम्।।१५।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

एवं सगुणध्यानमुक्त्वा निर्गुणध्याने वक्तव्यांशाभावाज्जन्यफलं तज्जनन-प्रणालिकाञ्चोपदेष्टुं पञ्चदशीमृचमाह—परिस्रुतेति।

कर्ममार्गज्ञानमार्गभक्तिमार्गेषु तच्छास्त्रप्रवर्तकैः प्रणालिका नानाविधाः परस्परविलक्षणा उक्ताः। तास्सर्वा अपि दुःखसाध्याश्चिरकाल-फलप्रदा इति तु द्रव्यस्वीकारैरावर्तमानैरुल्लासपरम्परैव प्रणालिका। तत्र प्रौढोल्लासपर्यन्तं समयाचारकृता धर्मास्तदन्तोल्लासे याथाकाम्यं चरमोल्लासे ब्रह्मस्वरूपतेति। तथा च कल्पसूत्रम्—'आरम्भतरुणयौवनप्रौढतदन्तोन्मना-नवस्थोल्लासेषु प्रौढान्तं समयाचारः, ततः परं यथाकामीति। उल्लाससप्तक-लक्षणानि कुलार्णवादिषु द्रष्टव्यानि। यद्यपि प्रतिदिनं ब्रह्मरूपतावाप्तिर्जायत एव, तदानीं मनसो निलीनत्वात्, तथाप्यविद्यापरिणामविशेषरूपया निद्रया संवलितत्वान्न सा पुरुषार्थः। निद्राराहित्येन तादृशी दशा तु पुरुषार्थ एव या [१]ज्ञानभूमिकासु सप्तमीं मन्यन्ते ज्ञानिनः, याञ्च निर्विकल्पकसम्बन्धित्वेन व्यवहरन्तो-ऽनुभवन्ति ज्ञानिनः, सैव च दशा उन्मनोत्तरानवस्थारूपोल्लासेऽपि योगिभि-रनुभूयते। तदुक्तम्—

'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्।
तस्याभिव्यञ्जकं द्रव्यं योगिभिस्तेन पीयते।।' इति।

कल्पसूत्रे तु तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्च मकारा इत्युक्तम्। परन्तु तदेव

---

१. सप्त भूमयः—नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्विका मोक्षेच्छा प्रथमा, गुरूपसदन-पूर्वको वेदान्तविचारो द्वितीया, निदिध्यासाभ्यासेन मनसः सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया, वेदान्तवाक्यैर-परोक्षब्रह्मसाक्षात्कारश्चतुर्थी, सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्था पञ्चमी, तदभ्यासातिरेकेण चिरकालाव-स्थायिनी मनोवृत्तिः षष्ठी, तस्या अपि परिपाकेण स्वप्रकाश-चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि मग्नतया समुद्रमध्यस्थापितकुम्भवदन्तर्बहिश्च पूर्णत्वं सप्तमी। चतुर्थीं भूमिं प्राप्तो ब्रह्मवित्, पञ्चमीं प्राप्तो योगी ब्रह्मविद्वरः, षाष्ठीं प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयान्, सप्तमीं ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते।

द्रव्यमययज्ञाङ्गमपवित्रं चेत् पीतं तदा पुरुषार्थनिषेधप्रवृत्त्या पापेन प्रतिबन्धान्न तां दशामुत्पादयितुं क्षमम्। मन्त्रपावितं हवीरूपमेव तु समाधिदशामुत्पादयति। तदुक्तं समयाचारस्मृतौ—

'असंस्कृतं पशोः पानं कलहोद्वेगपापकृत्।
मन्त्रपूजाविहीनं यत् पशुपानं तदेव हि ।।

पशुपानविधौ पीत्वा वीरोऽपि नरकं व्रजेत्।
संस्कृतं बोधजनकं प्रायश्चित्तञ्च शुद्धिकृत् ।।

मन्त्राणां स्फुरणं तेन महापातकनाशनम्।
आयुः श्रीः कान्तिसौभाग्यं ज्ञानं संस्कृतपानतः ।।

अष्टैश्वर्यं खेचरत्वं पतनं विधिवर्जितम्।
सौत्रामण्यां कुलाचारे मदिरां ब्राह्मणः पिबेत् ।।

अन्यत्र ब्राह्मणः पीत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।।' इत्यादि।

परन्तु—

'परं प्राणाः प्रगच्छन्तु ब्राह्मणो नार्पयेत् सुराम्।
ब्राह्मणो मदिरां दत्वा ब्रह्मण्यादेव हीयते ।।'

इत्यादिशक्तिसङ्गमतन्त्रराजादिवचनैर्निषिद्धत्वादिह धर्मपाशनिरसनोपायः सत्सम्प्रदायादेवावगन्तव्यः। व्यवस्थाप्रकाराश्च कौलोपनिषद्भाष्येऽस्माभिः प्रदर्शिताः। ततश्च तदधिकारिणां तादृशैरुल्लासैरन्तःकरणावच्छिन्नस्य जीवात्मनोऽन्तःकरणोपाधिकृतसङ्कोचापनये सति ब्रह्मभावे सति किमवशिष्यते। न च द्रव्योल्लासस्यागमापायित्वेन न तावतैव कृतार्थतेति वाच्यम्। अस्य पर्यनुयोगम्य समाधावपि तुल्यत्वात्। अथ तत्र पवननियमनादिभिरुपायैः पुनः पुनः समाधिप्रवेशेन चिराभ्यासपाटवेन कतिपयदिवसोत्तरं विनापि पवननिरोधं सार्वकालिकः समाधिरुत्पद्यते। समुद्रे नौकामारुह्य गच्छतां तत्कल्लोलैः सुचिरमान्दोलितवतां नौकावरोहणेऽप्यान्दोलनानुवृत्तिदर्शनादिति चेत्, तुल्यं प्रकृतेऽपि, संस्कृततद्द्रव्यपानजन्योन्मन्यवस्थाभ्यासपाटवेन विनापि द्रव्यं कतिपयदिवसैस्तादृशदशाया अकृत्रिमायास्सिद्धेः।

अक्षरार्थस्तु—पावितेन मन्त्रसंस्कारसस्कृतेन हविषा देवीपूजाशेषभूतेन परिस्नुता पीयमानेन मनस्तः अन्तःकरणाज्जाते सङ्कोचे आत्मनः परिच्छेदे प्रगलिते निर्व्युत्थानाद् विलीने सति उन्मन्युल्लासोत्तरानवस्थायामिति यावत्।

वै निश्चयेन सर्वः सर्वात्मको भवति। तेन स्वात्मैकविषयकनिर्विकल्पकवृत्तिजनको मद एवान्तर्यागविधायकवाक्ये धात्वर्थ इत्युपसंहृतं भवति। अनेनैवाशयेन तन्त्रे मत्तस्य बहुविधता प्रतिपाद्यते—

'रमन्ते कामुका मत्ता मत्तः कुप्यति कोपनः ।
गायन्ति गायका मत्ता मत्ता ध्यायन्ति योगिनः ।।'

इति। तेन योगविशेषोऽप्येतत्सहायत्वेनाक्षिप्तः । सर्वात्मकत्वमेव विवृणोति सर्वस्य जगतो विधाता ब्रह्मा भर्ता विष्णुः हर्ता रुद्रस्स एव। किं बहुना दासदाशकितवादिप्राणिमात्ररूपस्स एव भवतीत्याह—विश्वरूपत्वमेति। शरीरपातस्तु प्रारब्धवशाद् यदा कदापि यत्र क्वापि भवतु न तावतास्य कोऽपि विशेषः, कृतकृत्यत्वादिति भावः। उक्तञ्च कल्पसूत्रे—इत्थं विदित्वा विधिवदनुष्ठितवतः कुलनिष्ठस्य सर्वतः कृतकृत्यता शरीरत्यागे श्वपचग्रहकाश्योर्नान्तरं स जीवन्मुक्त इति ।।१५।।

भाषाव्याख्या

इस तरह सगुणध्यान का प्रतिपादन करके निर्गुणध्यान के विषय में कथनीय अंश न होने के कारण उपासनाजन्य फल और फलोत्पादन के प्रकार का उपदेश करने के लिए पन्द्रहवीं ऋक् प्रस्तुत करते हैं—**परिस्रुता हविषा पावितेन।**

प्राकरणिक बहिर्यागीय प्रणाली के वैलक्षण्य को कहते हैं—**कर्ममार्गज्ञानमार्गभक्तिमार्गेषु।** कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में उन-उन शास्त्रों के प्रवर्तक आचार्यों ने परस्परविलक्षण अनेक प्रकार की प्रणालिकाओं का निरूपण किया है। वे सभी दुःसाध्य और चिरकाल में फल को प्रदान करती हैं, यह उन-उन शास्त्रों के विद्वानों को ज्ञात है। यहाँ पर देवतोपयुक्त द्रव्यों के स्वीकार का आवर्तन करने पर उल्लास की परम्परा ही प्रणाली है। उनमें प्रौढोल्लास तक समयाचार के धर्म हैं। उसके बाद तदन्तोल्लास में स्वेच्छाचार और चरम (अन्तिम) उल्लास में ब्रह्मस्वरूपता मानी जाती है। इस व्यवस्था में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—**तथा च कल्पसूत्रम्।**

'आरम्भतरुणयौवनप्रौढतदन्तोन्मनानवस्थोल्लासेषु प्रौढान्ताः समयाः समयाचाराः। ततः परं यथाकामी। स्वैरव्यवहारेषु वीरावीरेष्वयथामननादधः पातः।' यह श्रीपरशुरामकल्पसूत्र है। इसमें आरम्भ, तरुण, यौवन, प्रौढ, तदन्त, उन्मन और अनवस्थ, इन सात अवस्थाओं का प्रतिपादन है। उपासक के ये दशाविशेष हैं।

१. उपासनाविषयिणी इच्छा रहे किन्तु तन्त्रशास्त्रों का ज्ञान न रहे, यह आरम्भावस्था है।

२. गुरु को प्राप्त करके दीक्षित होने के बाद तन्त्रशास्त्रों के पढ़ने की इच्छा तरुणोल्लास है। यम और नियमों के परिग्रह को दीक्षा कहते हैं—**यमनियमपरिग्रहो दीक्षा।**

३. तन्त्रशास्त्रविषयक ज्ञान यौवनोल्लास है।

४. शास्त्रज्ञान प्राप्त करके शास्त्रप्रतिपादित ध्यान की इच्छा प्रौढोल्लास है।

५. ध्यान की इच्छा के बाद उसका अभ्यास करना तदन्तोल्लास है।

६. ध्यान के परिपक्व होने पर मनोलय की शक्ति प्राप्त करना उन्मनोल्लास है।

७. पूरा आरूढ हो जाना अनवस्थोल्लास है।

इन सभी का सूक्ष्म बुद्धि से सम्यक् परिशोधन करके तदन्तोल्लास तक शास्त्रोक्त समयाचार का पालन करना चाहिये। इसके बाद यथेच्छ विहार है। यथेच्छ व्यवहार में वीर और अवीर को अन्यथा समझ कर संलग्न होने पर नरक की प्राप्ति होती है। सुषुप्ति में प्रतिदिन प्राप्त होने वाली ब्रह्मरूपता के पुरुषार्थत्व का निराकरण करते हैं—**यद्यपि प्रतिदिनम्।**

यद्यपि प्रतिदिन सुषुप्ति में मन का लय होने के कारण ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति होती है तथापि वह पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि अविद्यापरिणामविशेष निद्रा से संपृक्त रहती है। जाग्रदवस्था में ब्रह्मरूपता की संप्राप्ति ही पुरुषार्थ है, इस अर्थात् सिद्ध वस्तु को कहते हैं— **निद्राराहित्येन तादृशी दशा तु पुरुषार्थ एव।** इसमें ज्ञानियों के अनुभव को कहते हैं—**यां ज्ञानभूमिकासु।** ज्ञान की सात भूमिकायें होती हैं। ब्रह्मरूपता वाली भूमिका को ज्ञानी सातवीं भूमिका कहते हैं। ज्ञानी निर्विकल्पकरूप से व्यवहार करते हुए इसी भूमिका का अनुभव करते हैं। योगी भी इसी दशा का उन्मनोल्लास के बाद अनवस्थारूप उल्लास में अनुभव करते हैं। ज्ञान की सातों भूमिकाओं को निम्न प्रकार से समझना चाहिये-

१. नित्यानित्य पदार्थों के ज्ञान के बाद मोक्ष की इच्छा।

२. गुरु के पास जाकर वेदान्त का विचार।

३. ध्यान के अभ्यास से मन में सूक्ष्म पदार्थ के ग्रहण की योग्यता।

४. वेदान्तवाक्यों के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार।

५. सविकल्पक समाधि के अभ्यास से निरुद्ध मन में निर्विकल्पक समाधि के समान अवस्था।

६. निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से चिरकाल तक रहने वाली मनोवृत्ति।

७. चिरकाल तक रहने वाली मनोवृत्ति का भी परिपाक होने पर स्वप्रकाश चिदानन्दमय ब्रह्म में मग्न होने से समुद्र के मध्य में स्थापित कुम्भ के समान अन्दर और बाहर पूर्णता।

अनवस्थोल्लास में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम् ।
तस्याभिव्यञ्जकं द्रव्यं योगिभिस्तेन पीयते ।।'

आनन्द ब्रह्म का रूप है जो शरीर में व्यवस्थित है। इसका अभिव्यञ्जक द्रव्य दृष्टादृष्ट संस्कारों से पावित 'परिस्रुत्' है। इसी द्रव्य से योगी उस ब्रह्मस्वरूप आनन्द रस का पान करते हैं।

श्रीपरशुरामकल्पसूत्र में पञ्च सकारों को आनन्द का अभिव्यञ्जक कहा गया है। अपवित्र अर्थात् पूर्वोक्त संस्कारों से शून्य वह द्रव्य सिद्धिदायक नहीं होता, इस तथ्य को प्रकट करते हैं—**परन्तु तदेव द्रव्यमय**। वही द्रव्य (मद्य) यज्ञ का अङ्ग होकर भी अपवित्र है तो उसके पीने से उस दशा की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उसका पुरुषार्थत्वेन 'न सुरां पिबेत्' इत्यादि निषेध है। निषेध का अतिक्रमण करने के कारण समाधि की दशा पाप से प्रतिबन्धित हो जाती है। मन्त्र से पावित हविरूप ही वह समाधि की दशा को उत्पन्न करती है। समयाचारस्मृति में इस तथ्य को प्रकट किया गया है जिसका यह अर्थ है—

'असंस्कृत द्रव्य का पान पशु का पान होता है जिससे कलह, उद्वेग और पाप होता है। मन्त्रपूजा से विहीन वह पान ही पशुपान है। पशुपान करके वीर (साधक) भी नरक में जाता है। मन्त्रों से संस्कृत द्रव्य का पान करने से ही मन्त्रों का स्फुरण और महापातक का नाश होता है। संस्कृत द्रव्य के पान से कान्ति, सौभाग्य, ज्ञान, आयु, श्री और ब्रह्मनिष्ठता की प्राप्ति होती है। विधिशून्य पान पातक का कारक होता है। सौत्रामणियज्ञ में और कुलप्राप्त आचार में ही ब्राह्मण मदिरा का पान करे। इनसे अन्यत्र रागवश यदि मदिरा का पान करता है तो उसे धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

ब्राह्मण के लिए यज्ञ में सुरा के प्रयोग को निषिद्ध बता कर इस प्रकरण की रहस्यात्मकता को प्रकट करते हैं—**परन्तु**।

'परं प्राणाः प्रगच्छन्तु ब्राह्मणो नार्पयेत् सुराम् ।
ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते'।।

'भले ही प्राण चले जाँय किन्तु ब्राह्मण यज्ञ में देवता को मद्य न अर्पित करे। ब्राह्मण मदिरा का पान करके ब्राह्मणत्व से ही च्युत हो जाता है।'

इत्यादि शक्तिसङ्गम और तन्त्रराज आदि के वचनों से ब्राह्मण के लिए सुरा द्रव्य से यज्ञ के सम्पादन का निषेध दृढ हो रहा है। ऐसे में सुराद्रव्यक यज्ञ के सम्पादन में जो धर्मबन्धन प्रसक्त हो रहा है उसे दूर करने के उपायों को सत्संप्रदाय से समझना चाहिये। व्यवस्था के प्रकारों को आचार्य ने अपने कौलोपनिसद् के भाष्य में कहा है। उपासना के परम फल को प्रस्तुत करते हैं—**ततश्च तदधिकारिणाम्**।

पावित यज्ञाङ्गभूत द्रव्य के अधिकारी पुरुषों के वैसे पूर्वोक्त उल्लासों से अन्तःकरण के द्वारा परिच्छिन्न हुए जीवात्मा का अन्तःकरणरूप उपाधि से संप्राप्त सङ्कोच जब समाप्त हो जाता है तब ब्रह्मभाव की स्थिति में कुछ बचता ही नहीं है। आशङ्का प्रस्तुत करते हैं—**न च**। द्रव्य के सेवन से प्राप्त हुआ उल्लास उत्पत्तिविनाशशील है, अतः उतने से ही उपासक कृतकृत्य नहीं होगा, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। इसका समाधान समाधि

में दोष की प्रसक्ति दिखाकर प्रस्तुत करते हैं—**अस्य पर्यनुयोगस्य?** इस तरह प्रश्नपूर्वक आक्षेप समाधि में भी समान है। समाधि का भी भङ्ग होता है, अतः वहाँ भी वह अनवस्थोल्लास या ब्रह्मरूपता नहीं होनी चाहिये, यह अभिप्राय है। इस पर यदि आप कहेंगे कि समाधि में प्राणायाम आदि उपायों से पुनःपुनः समाधि में प्रवेश करने पर और निरन्तर अभ्यास की निपुणता प्राप्त हो जाने से कुछ दिनों के बाद प्राणायाम के विना भी समाधि उत्पन्न होगी, समुद्र में नौका पर आरूढ होकर चलने वाले समुद्र की तरङ्गों से जब देर तक हिलने लगते हैं तो नौकावरोहण में भी कम्पन्न की अनुवृत्ति देखी जाती है तो वैसी यहाँ भी समानता है। संस्कृत द्रव्य के पान से होने वाली उन्मनी अवस्था के अभ्यास से द्रव्य के विना भी कुछ दिनों में वैसी अकृत्रिम (स्वाभाविक) दशा उत्पन्न हो जाती है।

मन्त्र के अक्षरार्थ को प्रस्तुत करते हैं—**अक्षरार्थस्तु।**

मन्त्रसंस्कार से सुसंस्कृत तथा देवीपूजा से अवशिष्ट निपीयमान हवि के प्रभाव से अन्तःकरण के द्वारा उत्पन्न आत्मा का परिच्छेद (जीवत्व) निर्व्युत्थान से जब विलीन हो जाता है तब निश्चय ही श्रीत्रिपुरसुन्दरी का उपासक सर्वात्मक अर्थात् सर्वरूप शिव हो जाता है। निर्व्युत्थान से प्रसङ्कोच का विलय उन्मनोल्लास के बाद अनवस्थोल्लास ही माना जाता है। वह उपासक सर्वात्मक हो जाता है, इस वचन से अन्तर्याग का निर्वचन करते हैं—**स्वात्मैकविषयनिर्विकल्पवृत्तिजनको मद एवाऽन्तर्यागविधायकवाक्ये धात्वर्थ इत्युसंहृतं भवति।** अपना आत्मा ही एक मात्र जिसका आलम्बन हो ऐसी निर्विकल्पक वृत्ति का उत्पादक मद ही अन्तर्याग के विधायक वाक्य में 'मद' धातु का अर्थ है। इस तरह प्रकरण का समापन होता है। इसी आशय से मत्त के अनेक प्रकार इस तरह कहे गये हैं—

'रमन्ते कामुका मत्ता मत्तः कुप्यति कोपनः।
गायन्ति गायका मत्ता मत्ता ध्यायन्ति योगिनः।'

अर्थात् आमुक मतवाले होते हैं तो स्त्री के साथ रमण करते हैं। क्रोधी मतवाला होता है तो क्रोध करता है। गायक मतवाले होते हैं तो गाते हैं। योगी मतवाले होते हैं तो ब्रह्म का ध्यान करते हैं। यहाँ पर रमण, क्रोध, गान और ध्यान मद के कार्य हैं। इस अन्तर्याग में योगविशेष सहायक (उपकारक, अङ्ग) होता है, इस अर्थ को कहते हैं—**तेन योग- विशेषोऽप्येतत्साहायत्वेनाक्षिप्तः।** आगे ऋग्वेद पुरुष उपासक के सर्वात्मकत्व को ही सुस्पष्ट करते हैं—**सर्वस्य जगतो विधाता भर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति।** वह उपासक सारे प्रपञ्चों का विधाता, पालक और संहारक अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होकर विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है। शरीरपात तो प्रारब्ध के बल से कभी भी हो, वह कृतकृत्यता में बाधक नहीं होता, इस अर्थ को ज्ञापित करते हैं—**शरीरपातस्तु।** इसमें कल्पसूत्र का वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं—**उक्तञ्च कल्पसूत्रे।**

'इत्थं विदित्वा विधिवदनुष्ठितवतः कुलनिष्ठस्य सर्वतः कृतकृत्यता शरीरत्यागे श्वपचगृहकाश्योर्नान्तरं स जीवन्मुक्तः।'

कल्पसूत्र में प्रतिपादित श्रीविद्योपासना के यावत् प्रकारों का ज्ञान गुरुमुख से प्राप्त करके जो कुलाचारनिष्ठ उपासक यथाशास्त्र अनुष्ठान करता है वह हर तरह से कृतार्थ हो जाता है। वह शरीर का त्याग करता है तो उसके लिए चाण्डाल के घर और काशी में कोई अन्तर नहीं रहता। चाण्डाल के घर में भी यदि वह शरीर का त्याग करता है तो उसके लिए वह काशीमरण के तुल्य ही है, क्योंकि वह जीवन्मुक्त अर्थात् जीवित रहते ही मुक्त रहता है। जो इस उपासना को नहीं करते उनके लिए ही काशीमरण में मुक्ति, कीकटप्रान्तमरण में नरक और पुण्यक्षेत्र अयोध्या आदि स्थानों में मरण होने पर स्वर्ग फल का तारतम्य है, यह भाव है॥१५॥

श्रीत्रिपुरोपनिषद्

इयं महोपनिषत्त्रिपुरा(री)या यामक्षरं परमे (मो)गीर्भिरीट्टे ।
एषर्ग्यजुः परमेतच्च सामेवायमथर्वेयमन्या च विद्योऽम् ।।१६।।

एवं वदे ।

श्रीरामानन्दतीर्थकृतभाष्यम्—

एवं विद्वानुपासकः सङ्कोचत्वं जीवत्वं विहाय विकासत्वमीश्वरभावं प्राप्य सृष्टिस्थिति-संहाराणां कर्ता भवतीत्यर्थः। उक्तमर्थमुपसंहरति 'इयं महोपनिषदि'ति।

इयं स्वबुद्धिप्रत्यक्षा, महोपनिषद् महती च सा उपनिषदिति कर्मधारयसमासः। 'मह पूजायामि'ति धातोरुत्पन्नो महच्छन्दः। सा सर्वैरजस्रं सेवनीयेत्यर्थः। तादात्म्यलक्षणेन सामीप्येन नितरां ब्रह्म गमयित्वा, महदादिग्रन्थीन् शिथिलीकृत्य अविद्यासंस्कारांश्च विनाशयतीत्युपनिषद्। यद्वा- महादादीन् तादात्म्यलक्षणेन सामीप्येन नितरां गमयि ब्रह्म वा ब्रह्मभावविद्यासंस्कारान् सादयति इति 'महोपनिषद्। 'आन्महे'त्यादिना समासः। किं देवतेत्यत आह—'त्रैपुरीये'ति। त्रिपुरादेवतायाः। 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धं' वा नामधेयस्य वृद्धिसंज्ञा वक्तव्येति वृद्धिसंज्ञायां 'वृद्धाच्छ' इति 'छ' प्रत्ययः। अस्या उपनिषदः देवतात्वेन या त्रिपुरा प्रतिपादिता, सा बिन्दुत्रयसमष्टिरूपकामकलात्मिकेत्याह—'यामक्षरमि'ति। यां त्रिपुरां अक्षरं तुरीयाक्षरं कामकलाख्यमक्षरम्। परमः परशिवः, गीर्भिः श्रुतिस्मृत्याऽऽगमरूपाभिः ईट्टे—स्तौति।

'अयमेवाक्षरः सर्ववेदविद्यास्वरूप' इत्याह—'एषर्गि'त्यादिना। एषः कामकलाक्षरः, ऋक्—छन्दःप्रधानो ऋग्वेदः। यजुः निगदात्मको यजुर्वेदः।

परं—ऋग्यजुषोः पश्चात्, भाविगीत्यात्मकं साम एतदेव। एतदिति विधेयापेक्षया-ऽक्षरस्य नपुंसकत्वम्। अयमेवाऽक्षरः अथर्वा—मन्त्रप्रधानो अथर्वणवेदः। अन्या इतिहासपुराणादिविद्या च इयमेव। अत्रापि विधेयविद्यापेक्षयाऽक्षरस्य स्त्रीलिङ्गता।

एतावत्पर्यन्तं प्रतिपादितं वाक्यजातं गुरूपदेशादवगन्तव्यमित्याह- 'इत्युपनिषदि'ति। 'इति' शब्दः उक्तपरामर्शः। 'उपनिष'च्छब्दो रहस्यवाचकः। 'आचार्यादेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदि'ति श्रुतेः। अत एतत् सर्वं गुरूपदे-शादवगन्तव्यमित्यर्थः।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकश्रीराघवानन्दतीर्थयोगीन्द्रचरणारविन्द-चञ्चरीकायमाणहृदय-श्रीरामानन्दविरचितं त्रिपुरोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ।।

श्रीभास्कररायप्रणीतभाष्यम्—

इत्थं त्रैपुरसिद्धान्तं कथितमुपसंहरन्नेतदध्ययनादपि फलमस्तीत्युपदेष्टुं षोडशीं यजुरन्तामृचमाह—

इयं महोपनिषदिति। उपबृंहितं चैतत्कल्पसूत्रकृता भगवता श्रीपरशुरामेण 'य इमां दशखण्डीं महोपनिषदं महात्रैपुरसिद्धान्तसर्वस्वभूतामधीते सर्वेषु यज्ञेषु यष्टा भवति यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्य क्रतुनेष्टं भवति इति श्रूयत इत्युप-निषदिति शिवम्' इति। एतेनास्यां महोपनिषदि येऽकथिता अपेक्षिता अर्थाः कल्पसूत्राद् ग्राह्याः कल्पसूत्राधिकरणे (शाखान्तराधिरणे?) शाखाभेदेन विप्रकीर्णनामङ्गानामुपसंहारसमर्थान् प्रत्येव प्रयोगशास्त्रस्य प्रामाण्यसमर्थनादिति सिध्यति। अक्षरार्थस्तु—इयं त्रिपुराया महोपनिषद् रहस्यप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भरूपा पठनीयेति शेषः। तत्र हेतुमाह—यमित्यादिना। परममक्षरं ब्रह्म कर्तृ यामुपनिषदं गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः ईट्टे स्तौति। ईडस्तुतावित्यस्य रूपम्। परमे इति सोः शे आदेशश्छान्दसः। यां ब्रह्मेति पदयोर्व्यत्ययेन प्रथमाद्वितीयान्तत्वस्वीकारेणोप-निषत्कर्तृकब्रह्मस्तुतिर्वा। परमेश्वरेणापि स्तुतत्वात्तत्स्तावकत्वाच्चेत्यर्थः। हृल्लेखाक्षरं यां त्रिपुरां स्तौतीति वा। परम् ए इतिच्छेदः। एकाररूपमक्षरमिति वा।

यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम् ।
ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते ।।

इति वचनात्। एकारेऽपि अ+ई इतिच्छेदो बा 'अकारो वै सर्वा वाक्' 'यदीँश्रृणोत्यलकँश्रृणोति' इति श्रुतेः। चरम ओङ्कारो वा अक्षरे विशेष्यत्वेनान्वेति। स गीर्भिः अकारोकारमकारैः परमोऽखण्डोऽपि यां स्तौतीत्यर्थः। 'समस्तं व्यस्तं

वा शरणद गृणात्योमिति पदम्' इति शिवरहस्ये स्मरणात्। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' इति विधिविहितविविधाध्ययनान्यप्येतदध्ययनेनैव सिध्यन्तीत्याह—एषेति। ऋगादिशब्दा वेदपरा नत्वेकैकमन्त्रपरा:, अथर्वादिप्रायपाठाद्। एषाएतदयमिति शब्दा ऋग्यजुराथर्वणां विशेष्यत्वा-भिप्रायेण साम्नो ध्वनिरूपत्वेनानक्षरत्वादिवेति-पदेनाक्षरेषु तत्तुल्यफलकत्वद्योतनम्। अष्टादशविद्यासु चतुर्णामुपादानादन्यपदेनो-पदेशाद्याश्चतुर्दश गृह्यन्ते। सर्वस्वरूपेयमुपनिषदित्यर्थ:। प्रणवस्वरूपाप्येषैवेत्याह—ओमिति। 'ओमाङोश्च' इति पररूपम्। तेन यतिभिरप्यध्येतव्येति भाव:। इयमुपनिषदेतादृशीत्येवं यो ह्येतस्या महिमा तं श्रुतिरपि वक्तुमसमर्था। तस्या ब्रह्मैकरूपत्वात्तत्र वाचामप्रवृत्तेरित्याशयेन श्रुत्या मौनमाश्रितम्। इत्युपनिषत्-समाप्तेत्यर्थ:। इतोऽधिकस्य रहस्यस्य वक्तव्यांशस्याभावादिति भाव:।

'भास्कररायेणाग्निचिता त्रिपुरामहोपनिषदोऽर्था: ।
प्रकटयितुमयोग्या अपि विदुषां तोषाय कतिपये कथिता: ।'

इति श्रीभास्कररायकृतं त्रिपुरामहोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम् ।।



भाषाव्याख्या

इस तरह त्रिपुरासम्बन्धी कहे गये सिद्धान्त का उपसंहार (समापन) करते हुए ऋग्वेद पुरुष त्रिपुरोपनिषद् के अध्ययन से भी अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, इसका उपदेश करने के लिए सोलहवीं ऋक् को कहते हैं। जिसके अन्त में यजुर्मन्त्र भी है—**इयं महोपनिषद्।** त्रैपुर सिद्धान्त को प्रस्तुत करने वाली यह महोपनिषद् अर्थात् महती उपनिषद् है, इस अर्थ का विस्तार भगवान् परशुराम अपने कल्पसूत्र में किये हैं। आचार्य इस कल्पसूत्र को ही प्रस्तुत करते हैं—**य इमां दशखण्डीं महोपनिषदम्।** दशानां खण्डानां भागानां समाहारो दशखण्डी। यह साक्षात् परदेवता का प्रतिपादन करने से उपनिषद् दस भागों में विभक्त है। इसमें सकल महात्रैपुर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। श्रीपरशुरामकल्पसूत्र साक्षात् श्रुत्यर्थ का अनुवादक होने से औपचारिकतया उपनिषद् है। जो इसका अध्ययन करता है वह सारे यज्ञों का यजन करने वाला होता है। सकल यज्ञ का फल इसके अध्ययन से प्राप्त होता है, यह अभिप्राय है। श्रुति भी इस अर्थ में महामुनि भगवान् परशुराम उपन्यस्त कर रहे हैं—**यं यं क्रतुमधीते तेन तेनाऽस्येष्टं भवति।** जिस जिस याग का अनुष्ठान करता है उसका फल इस विद्या के अध्ययन से प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि इसका अध्ययन सकल पुरुषार्थ का साधन है। त्रिभ्य: पुरा त्रिपुरा अर्थात् सृष्टि स्थिति-संहार के भी पूर्व जो रहे वह त्रिपुरा है। त्रिपुरासम्बन्धी सिद्धान्त त्रैपुर सिद्धान्त कहा जाता है। अन्त में

'शिवम्' शब्द का प्रयोग 'कल्याण' अर्थ में है। इस त्रिपुरोपनिषद् में जो अर्थ नहीं कहे गये हैं उन्हें कल्पसूत्र से प्राप्त करना चाहिये। इसमें हेतु प्रस्तुत करते हैं—**कल्पसूत्राधिकरणे।** शाखाभेद से विप्रकीर्ण (इतस्ततः स्थित) अङ्गों का एकत्र उपसंहार ही कल्पसूत्र का विषय है। उनके अनुष्ठान में जो समर्थ हैं उन्हीं के प्रति प्रयोगशास्त्र के प्रामाण्य का समर्थन किया गया है। अक्षरार्थ की योजना करते हैं—**अक्षरार्थस्तु।** त्रिपुरा की यह महोपनिषद् रहस्यप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भरूप है जो पठनीय है। क्यों यह पठनीय है इसमें मन्त्रवर्ण ही हेतु उपन्यस्त कर रहा है— **'यामक्षरं परमे गीर्भिरीट्टे।'** परम अक्षर अर्थात् साक्षात् ब्रह्म ही इस उपनिषद् का स्तुतिवाक्यों से स्तुति करता है, यह एक अर्थ है। साक्षात् परमात्मा जिसकी स्तुति करें वह पठनीय ही है। 'ईट्टे' यह पद 'ईडस्तुतौ' धातु का रूप है। 'परमे' में 'सु' को 'शे' आदेश वैदिक है। दूसरे अर्थ को ध्वनित करते हैं—**यां ब्रह्मेति पदयोः।** 'याम्' और 'ब्रह्म' पद का व्यत्ययानुशासन के आधार पर 'याम्' को प्रथमान्त और 'ब्रह्म' को द्वितीयान्त स्वीकार करने पर उपनिषद् के द्वारा की जाने वाली ब्रह्म की स्तुति अर्थ होगा। उपनिषद् ब्रह्म की स्तुति करती है। तात्पर्य प्रकट करते हैं—**परमेश्वरेणापि स्तुतत्वात्।** अक्षर अर्थात् ह्रल्लेखाक्षर भी जिस त्रिपुरा की स्तुति करता है, इस तीसरे अर्थ को कहते हैं—**ह्रल्लेखाक्षरं या त्रिपुरां स्तौतोति वा।** 'परमे' में 'परम्+ए', ऐसा पदच्छेद स्वीकार करने पर एकार अक्षर भी त्रिपुरा की स्तुति करता है, यह चौथा अर्थ होगा। इस अर्थ में प्रमाण उपन्यस्त करते हैं—

'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम् ।
ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते।।'

कोणत्रय अर्थात् त्रिकोण से उद्भूत योनिपद से व्यवह्रियमाण बीजरूप जो ग्यारहवां अक्षर 'एकार' है वही ब्राह्मणादि कटाहपर्यन्त जगद्रूप से परिलक्षित होता है। 'एकार' में भी छेद करेंगे तो अ+ई होगा। इस तरह 'एकार' में 'अ' और 'ई' रूप से ब्रह्म ही भासित होता है। श्रुति भी इन दोनों अक्षरों को ब्रह्मरूप में प्रस्तुत करती है—**'अकारो वै सर्वा वाक्, यदीं शृणोत्यलकं शृणोति।'** प्रकृत सोलहवें मन्त्र के अन्त में ओङ्कार है जो परम और अक्षर का विशेष्य होगा। अर्थ की सङ्गति इस रूप में प्रकट करते हैं—**स गीर्भिः अकारोकारमकारैः परमोऽखण्डोऽपि यां स्तौति।** वह ब्रह्म के प्रतिपादन में प्रसिद्ध साक्षाद् ब्रह्मरूप ओङ्कार अखण्ड होता हुआ भी अकार-उकार और मकार रूप शब्दों से जिसकी स्तुति करता है वह त्रिपुरा से सम्बन्धित महोपनिषद् है। श्रीरामानन्दतीर्थ ने 'त्रिपुरायाः' षष्ठ्यन्त पद के स्थान पर 'त्रैपुरीया' पाठ माना है। अर्थ में भेद नहीं है। अखण्डरूप से और व्यस्त रूप से ओङ्कार परदेवता का प्रतिपादन करता है, इसमें आगम को प्रमाणतया प्रस्तुत करते हैं—**'समस्तं व्यस्तं वा शरणद! गृणात्योमिति पदम्' इति शिवरहस्ये स्मरणात्।'** उक्त अंश महिम्नःस्तोत्र का है। ओङ्कार के अध्ययन से ही अध्ययनविधि से स्वस्वशाखीय सकल अध्ययन सिद्ध होते हैं, इस तथ्य को कहते हैं—**स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति।** 'स्वाध्याय' कुलपरम्परा से प्राप्त अपनी वेदशाखा को कहते

हैं जिसके अध्ययन का विधान 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', यह अध्ययनविधि करता है। अनुष्ठानोपयोगी अर्थज्ञान के लिए अध्ययनविधि अर्थात् वेदार्थविचार का भी विधान करता है, क्योंकि विचार के विना अर्थज्ञान संभव नहीं है। **'अर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते'**, इत्यादि मन्त्रवर्ण भी अर्थज्ञान के महत्त्व को बतलाता है। इन सारे तथ्यों को प्रकृत मन्त्र का यह उत्तरार्ध प्रकट करता है—**एषग्र्यजुःपरमेतच्च साम।** मन्त्र में ऋग्, यजुः, साम और अथर्वा का उल्लेख है। इन ऋग् आदि शब्दों से एक-एक मन्त्र को न समझ कर ऋग्वेद आदि समझना चाहिये। मन्त्रत्वे सति पादबद्धत्वम् ऋक्त्वम्, मन्त्रत्वे सति गीतिः साम, ऋक्सामभिन्नत्वं यजुष्ट्वम्, ये ऋगादि के क्रमशः लक्षण हैं। अथर्वा ऋषि के द्वारा दृष्ट वेद को अथर्ववेद कहते हैं।

ऋग् आदि शब्द ऋग्वेद आदि के बोधक हैं, इसका निश्चय आगे अथर्व आदि के साथ पाठ होने से होता है। **अयमथर्वेयमन्या च विद्या।** यह त्रिपुरोपनिषत् अथर्वा और अन्य विद्या भी है। अथर्वा ऋषि उपनिषद् हो नहीं सकते, अतः 'अथर्वा' पद से उनके द्वारा दृष्ट 'अथर्ववेद' का ग्रहण होता है। अथर्ववेद के साथ ऋग्, यजु और साम शब्दों का उच्चारण होने से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के बोधक वे होंगे, यह अभिप्राय है (मन्त्र में आये 'एषा' 'एतद्' और 'अयम्' शब्दों का प्रयोग विशेष्य ऋगादि को लेकर है, ऐसा इङ्गित करते हैं—**एषा एतदयमिति शब्दाः।** 'ऋक्' शब्द स्त्रीलिङ्ग में है, अतः उसके लिए स्त्रीलिङ्ग 'एषा' शब्द है। 'साम' के लिए नपुंसकलिङ्ग 'एतत्' और अथर्वा के लिए पुंल्लिङ्ग 'अयम्' शब्द है, यह भाव है। 'साम' शब्द में वैलक्षण्य दिखाते हैं—**साम्नो ध्वनिरूपत्वेन।** 'गीतिः साम', इस लक्षण के अनुसार 'राग' के रूप में 'साम' को माना गया है, इसलिए वह अक्षर के रूप में न होकर केवल ध्वनिरूप है। 'सामेव' में 'साम' के बाद 'इव' शब्द अक्षर के समान फल को द्योतित करने के लिए है। 'साम' का भी वही फल है जो अक्षरात्मक ऋग् आदि का है, यह भाव है। **अष्टादशविद्यासु।**

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्याश्चैताश्चतुर्दश।।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चेति तत्रयम्।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु।।'

इस तरह कथित अठारह विद्याओं में से चार विद्याओं का ही मन्त्र में ग्रहण है। पश्चात् **'इयमन्या च विद्या'** में 'अन्या' पद से अवशिष्ट चौदह विद्याओं का ग्रहण होगा। निर्गलित अर्थ प्रस्तुत करते हैं— **सर्वस्वरूपेयमुपनिषदित्यर्थः।** यह उपनिषत् सर्वविद्यास्वरूपिणी है। ओङ्कारस्वरूपा भी यह उपनिषद् है, इसे कहने के लिए 'ओम्' पद है। 'विद्या+ओम्' में 'आमाडोश्च' सूत्र से पररूप हुआ है, अतः वृद्धि की आशङ्का नहीं होगी। प्रणव = ओङ्कार के रूप में भी है, अतः सन्यासी भी इसका ध्यान कर सकते हैं—**तेन यतिभिरपि ध्यातव्या।**

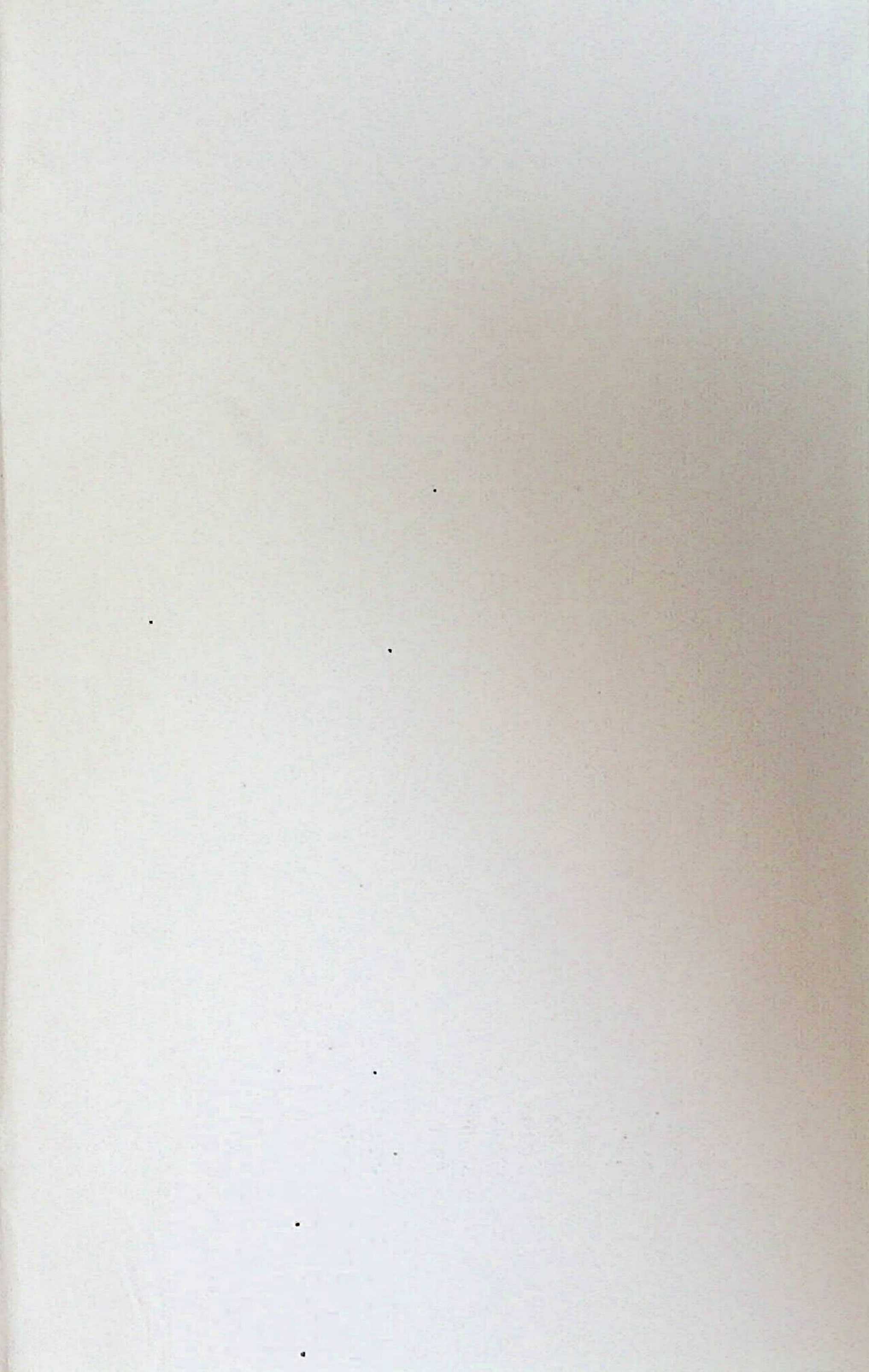
इयमुपनिषद्—यह उपनिषद् वैसी है कि जिसकी महिमा का वर्णन श्रुति भी नहीं कर सकती। क्यों? उत्तर देते हैं—**तस्या ब्रह्मैकरूपत्वात्**। क्योंकि यह एक मात्र ब्रह्म के रूप में विराजमान है और ब्रह्म के यथावत् रूप के प्रतिपादन में वाणी की प्रवृत्ति नहीं है। इसीलिए श्रुति आगे मौन स्वीकार किया है। 'इति उपनिषद्' के द्वारा समाप्ति को कहा गया है। इसीलिए कि इससे अधिक कथनीय रहस्य का अभाव है। श्लोक से भाष्य की परिसमाप्ति करते हैं—**भास्कररायेण**। साग्निचित्य सोमयाग करने वाले भास्करराय ने त्रिपुरा महोपनिषद् में विद्यमान कुछ अर्थों को सुस्पष्ट किया है। यद्यपि वे सभी अर्थ प्रकट करने के योग्य नहीं हैं तथापि विद्वान् पुरुषों के सन्तोष के लिए उन्होंने प्रकट किया है।।

मखिभास्कररायेण त्रिपुरोपनिषद्गतान्।
अर्थांस्तु कमलाकान्तत्रिपाठी प्रथितानपि ।।१।।

भाषायामिह सुव्यक्तान् कर्तुमेव यथाश्रुतम् ।
उद्यमं कृतवांस्तत्र कारणं प्रियता गुरोः ।।२।।

इति श्रीकमलाकान्तत्रिपाठिकृता श्रीत्रिपुरोपनिषद्भाष्यस्य भाषाव्याख्या संपूर्णा ।।









व्याख्याकार-परिचय

डॉ0 कमलाकान्तत्रिपाठी का जन्म फ़ाल्गुन शुक्ल षष्ठी, 2017 वैक्रमाब्द में सम्प्रति सोनभद्र जनपद में सरयूपारीण ब्राह्मण भार्गव गोत्र में हुआ था। पाश्चात्यविज्ञान की शिक्षा से विरत होकर प्राथमिक व्याकरण की शिक्षा इन्होंने अपने पितामह स्व0 शिवगोविन्दत्रिपाठी से प्राप्त की थी। बाद में काशी में आकर इन्होंने व्याकरण, साहित्य, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। सम्प्रति आप सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय में पूर्वमीमांसा का अध्यापन कार्य करते हैं। इनके शताधिक अनुसन्धानात्मक और मौलिक लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक मौलिक और व्याख्याग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। धर्मशुद्धि, पातित्यपेटिका, प्रसुप्तोन्मेष, श्रीपादुका-सहस्रकाव्य की भाषा-व्याख्या, एक-निरर्थकप्रयास (समीक्षाग्रन्थ), प्रेमपत्रम् (व्याख्यासहित संस्कृतकाव्य), माधव-रतिविलसितम् (सव्याख्या संस्कृत-काव्य), आजबन्धु (हिन्दीकाव्य), यम-किङ्करसंवाद (हिन्दी व्याख्या), गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयनप्रयोग, वैष्णवमताब्जभास्कर, श्रीरामार्चन-पद्धति, नवरात्र-प्रदीप, स्त्री-संन्यासाधिकारविचार, त्रिपुरोपनिषद् आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आपके अनेक विद्वान् शिष्य विशिष्ट पदों पर कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः डॉ0 कमलाकान्त-त्रिपाठीजी ने अध्ययन, बोध, आचार और प्रचार, इन चारों उपाधियों से विद्या को सार्थक किया है।

उपनिषद्-ग्रन्थ

(संस्कृत-हिन्दी टीका सहित)

- ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्। (मूलमात्र)। श्री वासुदेवलक्ष्मण शास्त्री
- ईशादिनवोपनिषद्। (शांकरभाष्यसहित मूलमात्र)। पं० हरिरघुनाथ भागवत
- ईशावास्योपनिषद्। आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी
- ईशावास्योपनिषद्। डॉ० दीपक कुमार
- ईशावास्याद्यष्टोपनिषद्। स्वामी द्वारिकादास
- उपनिषद्वाक्यमहाकोश।
- उपनिषद्-संचयन (108 उपनिषद्)। केशवलाल शास्त्री
- कठादिसप्तोपनिषद् (कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-ऐतरेय-तैत्तिरीय-श्वेताश्वतर उपनिषद्)। रंगरामानुजभाष्य-हिन्दी टीका सहित। स्वामी दामोदर प्रपन्नाचार्य
- कठोपनिषद्। डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री
- कठोपनिषद्। डॉ० पुष्पा गुप्ता
- केनोपनिषद्। डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी
- छान्दोग्योपनिषद्। रायबहादुर बाबूजालिमसिंह
- श्रीत्रिपुरोपनिषद्। श्रीरामानन्दतीर्थ-श्रीभास्कररायकृत-भाष्य सहित
- One Hundred Eight (108) Vedic Upanishads. Sri Ajai Kumar Chhawchharia

  Vol. I : Upanishads of Rgveda

  Vol. II : Upanishads of Samaveda

  Vol. III : Upanishads of Suklayajurveda

  Vol. IV : Upanishads of Krishnayajurveda

  Vol. V : Upanishads of Atharvaveda



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

email : chaukhambasurbharatiprakashan@gmail.com

website : www.chaukhamba.co.in